पुस्तक परिचय

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ "भारतीय दर्शन की समस्यायें : एक समालोचनात्मक-अध्ययन" में विद्वान लेखक ने भारतीय दर्शन की १२ समस्याओं को निरूपित किया है। इनमें ज्ञान मीमांसा, तत्त्वमीमांसा, ब्रह्म, जीवात्मा, सृष्टि रचना, ख्यातिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, प्रामाण्यवाद, कर्मफल, अन्तः-करण, आचारशास्त्र, और मोक्ष जैसी दार्शनिक समस्याओं का विवेचन विस्तार-पूर्वक एवं तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में वेद, उपनिषद्, षड्-दर्शन, जैन, बौद्ध, मध्यकालीन आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व और महर्षि दयानन्द के दार्शनिक मान्यताओं का विशद् रूप में विश्लेषण हुआ है। इस के साथ ही इस में प्रामाणिक और मौलिक शोध सामग्री को प्रमाण रूप में दिया है।

यह ग्रन्थ एम० ए० के छात्र, शोधार्थी और दर्शनशास्त्र के लेखकों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

मूल्य—रु० १२५-०० मात्र

भारतीय दर्शन की समस्यायें

एक समालोचनात्मक--अध्ययन

PROBLEMS OF INDIAN PHILOSOPHY

A CRITICAL STUDY

लेखक—

डॉ० जयदेव वेदालंकार

प्राचीन न्याय आचार्य, एम०ए० (दर्शन एवं मनोविज्ञान)

पी-एच०डी०, डी० लिट्०

अध्यक्ष दर्शन विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राच्य विद्याशोध प्रकाशन, हरिद्वार

उत्तर-प्रदेश

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

कुल पृष्ठ सं० ४१६

❀ ❀

समर्पण

दिल्ली प्रदेश के देहाती आँचल के झड़ौदा कलाँ नामक ग्राम में **श्री जुगलाल चौधरी** सुपुत्र श्री रूपचन्द्र चौधरी के घर मेरा जन्म हुआ। मेरे पूज्य पिता स्व० श्री जुगलाल चौधरी को धार्मिकता एवं सरलता उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। क्योंकि लगभग २०० वर्ष पूर्व हमारे परिवार में बाबा हरिदास जैसे महान सन्त हुए हैं। जिनकी स्मृति में आज भी वर्ष में दो बार मेला लगता है।

जब से मैंने होश सम्भाला है, मुझे याद नहीं आता कि मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे हाथ भी लगाया हो। जिनका समस्त गाँव में कुछ शत्रु नहीं था। जिनको लोभ और मोह न कभी छुआ तक नहीं था। जिनका ऐसा कोई भी कार्य याद नहीं आता, जिसे पाप कर्म कहा जा सके।

जिन की मृत्यु के अन्तिम दृश्य को देखकर गांव के एक वृद्ध व्यक्ति ने मुझे कहा था कि "बेटा मेरे पास पचास हजार रुपये हैं। यदि तू मुझे अपने पिता जैसी मृत्यु दिलादे तो मैं तुम्हें अभी पचास हजार रुपये दे सकता हूँ।" वास्तव में जो २७ मार्च १९७८ के प्रातः शुभ मुहूर्त में पांच बजे उठकर, अपने एक मित्र से स्नेह पूर्वक मिला हो और ईश्वर के ध्यान में बैठकर इस संसार से प्रयाण कर गये।

ऐसे मेरे अर्चनीय एवं पूजनीय पिता के पवित्र चरणों में यह शोध ग्रन्थ सादर समर्पित है।

— जयदेव वेदालंकार

★

आमुख

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में अध्यापन करते हुए मन में यह न्यूनता अनुभव हो रही थी कि भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा को लेकर लिखा गया समस्या मूलक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। भारतीय दर्शन का विवेचन, उसकी प्रमुख समस्या को लेकर निरूपित किया जाय। भारतीय दर्शन के प्रायः विद्वान वैदिक परम्परा की चिन्तन परम्परा के पक्ष को अधिक सबल रूप में प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस न्यूनता को दूर करके इस शोध ग्रन्थ में वैदिक चिन्तना को यथोचित स्थान दिया गया है। भारतीय परम्परा की चिन्तन धारा बहुत अधिक लम्बे समय से निरन्तर प्रवाहित हो रही है। इसे अनेक आयामों और परम्पराओं के द्वारा अवलोकित किया जा सकता हैं। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैत, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, स्याद्वाद आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय शास्त्रार्थ के विषय रहे हैं। इन दार्शनिक शास्त्रार्थ के आयामों को इस ग्रन्थ में यत्र तत्र प्रदर्शित किया गया है।

मध्यकाल के प्रमुख आचार्य शंकर और रामानुज की दार्शनिक व्याख्या और इस युग के महर्षि दयानन्द को वैदिक धारा का प्रतिनिधि मान कर, तीनों आचार्यों की दार्शनिक मान्यताओं से पाठकों को सुपरिचित कराया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय दर्शन की प्रायः सभी समस्याओं का वर्णन उपलब्ध है। प्रथम अध्याय ज्ञानमीमांसा में पाश्चात्य मतों को इस उद्देश्य से अधिक प्रस्तुत किया है कि भारतीय दर्शन के जिज्ञासु एवं शोध छात्र बुद्धिवाद और अनुभववाद से भी परिचित हो जायें।

द्वितीय अध्याय "तत्व मीमांसा" को प्राय: पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में "शास्त्रार्थ शैली से इसलिये प्रस्तुत किया गया है कि विद्यार्थियों को समझने में सुगमता रहे। किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय की अपनी तत्वमीमांसीय मान्यता भी स्पस्ट हो जाय और दूसरी दार्शनिक धारा उसका प्रत्याख्यान कैसे करती है? इसका ज्ञान भी सरलता से हो सके। तृतीय अध्याय में "ब्रह्म मीमाँसा" से लेकर बारहवें अध्याय में मोक्ष निरूपण तक वैदिक चिन्तना से समसामयिक दार्शनिक धारा तक इस ग्रन्थ में निरूपित करने का प्रयास किया है।

जब हमने उपनिषदों का तत्वज्ञान प्रथम भाग शोधग्रन्थ प्रकाशित किया था तो उस समय दूसरा भाग भी पाठकों के सम्मुख शीघ्र प्रस्तुत की बात कही थी परन्तु अनेक कारणों से द्वितीय भाग प्रकाशित न हो सका। इस ग्रन्थ में द्वितीय भाग की शोध सामग्री को प्राय: सम्मिलित किया गया है जो शोधार्थी द्वितीय भाग के प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में थे, वे इस शोध ग्रन्थ का अध्ययन कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे जिन विद्वानों की प्रेरणा या मार्ग दर्शन मिलता रहा है, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। उनमें प्रमुख विद्वान इस प्रकार हैं—

आचार्य उदयवीर शास्त्री, स्वामी ओमानन्द सरस्वती, आचार्य प्रियव्रत वेद मार्तण्ड, डा० एन०के० देवराज, प्रो० आर०सी० पाण्डेय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रो० धर्मेन्द्र गोयल पंजाब विश्वविद्यालय, पूर्व कुलपति जी०वी०के० हूजा, डा०आर०एस० श्रीवास्तव पूर्व प्रो० रांची विश्वविद्यालय, डा० भुवन चन्देल पंजाब विश्वविद्यालय, डॉ० जे०पी० शुक्ल जबलपुर विश्वविद्यालय, डॉ० रूपरेखा वर्मा लखनऊ विश्वविद्यालय, डॉ० संगमलाल पाण्डेय इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० जे० पी० आत्रेय रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, डॉ०

रामनाथ शर्मा मेरठ विश्वविद्यालय, डॉ० जयदेव विद्यालंकार महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक, डॉ० एस०आर० भट्ट दिल्ली विश्वविद्यालय, डॉ० रामजी सिंह भागलपुर वि. वि., डॉ० सत्यपाल वर्मा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, डॉ० एम०एल० शर्मा जोधपुर वि.वि., प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार प्रोवाइस चान्सलर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, डॉ०निगम शर्मा, डॉ०विनोद चन्द्र सिन्हा और डॉ०विष्णुदत्त राकेश, डॉ० विजय शंकर प्रभृति विद्वानों का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूं।

अपने विश्वविद्यालय के मान्य कुलपति प्रो० आर० सी० शर्मा का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक का "पुरोवाक्" लिख कर मुझे आशीर्वाद प्रदान किया है। डॉ० हर्षनारायण ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर मुझ पर महती कृपा की है।

मेरी जीवन सङ्गिनी श्रीमती आचार्या सुषमा स्नातिका जो कि मेरी अन्तःप्रेरणा दायिनी बनकर शोध कार्यों में मेरा साथ देती हैं, उनको धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं, जिन्हें मैं लिपिबद्ध कर सकूं। मैं इतना कह सकता हूं कि यदि जीवन में उनका साथ न मिला होता तो सम्भवतः मैं यह सब कुछ न कर पाता। उनके लिये तो भगवान् से मैं यही प्रार्थना करता हूं कि तुम ! जीओ हजारों साल............।

अन्त में उन सभी ग्रन्थ एवं विद्वानों के प्रति आभारी हूँ जिन से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस ग्रन्थ को लिखने में सहायता मिली है।

दिनांक–३१.७.१९८६ विदुषां वंशवदः

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जयदेव वेदालंकार

❀

पुरोवाक्

भारतीय दार्शनिक चिन्तन धारा अक्षुण्ण रूप में सतत् प्रवाहित है। वैदिक ऋषियों से लेकर वेद वेदाङ्ग ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषदें षड् दर्शन जैन और बौद्ध आदि लम्बी दार्शनिक परम्परा हैं। भारत और पाश्चात्य देशों के अनेक उद्भट्ट विद्वानों ने भारतीय दर्शन के समस्त भागों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है।

वास्तव में दर्शन शास्त्र विश्व की सांस्कृतिक, तत्वमीमांसीय सामाजिक और विश्व में पूर्ण शान्ति कैसे स्थापित हो, इत्यादि समस्याओं का समाधान समझने का मानवीय प्रयास कहा जा सकता है। इसलिए इस पर भौगोलिक, जाति और सांस्कृतिक प्रभावों का पड़ना निश्चित है।

भारतीय दर्शन शास्त्र वस्तुत: मूलरूप में आध्यात्मिक है। प्रत्येक दर्शन में दु:खों से छुटकर आनन्द एवं मोक्ष प्राप्ति के उपायों को दर्शाया गया है। इस का मतलव यह नहीं कि यहां पर प्रमाणमीमांसा और तत्वमीमांसा का सूक्ष्म और दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत नहीं हुआ है, अपितु यह चिन्तन जितनी तार्किक दृष्टि से भारतीय दर्शन में प्रस्तुत किया गया है उतना पश्चिमीय दर्शनों में प्राप्त नहीं होता है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक प्रचेता आध्यात्मिकता से विचलित नहीं होते हैं। यह सब होते हुए भी यहां चिन्तन धारा की स्वतन्त्र प्रवृत्तियां भी पर्याप्त रूप में प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि यहां भारत-भूमि पर संशयवादी, नास्तिक हेतु वादी स्वतन्त्र विचारक अपने विचारों को प्रस्तुत करते रहे हैं।

यह सर्वतन्त्र मान्यता है कि समस्त भारतीय चिन्तन धारा का आदि मूल वैदिक संहितायें है। ऋषियों ने, चिन्तकों ने और प्रचेताओं ने उन वैदिक संहिताओं की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। उन व्याख्याओं के व्याख्याकारों में समय तथा कालान्तर में मतभेद, होते चले चले गये हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन की समस्यायें : एक समालोचनात्मक अध्ययन" अपने विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ० जयदेव वेदालंकार की परिश्रम पूर्ण रचना है। विषय की नवीन तम शोध उपलब्धियों को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण प्रयास है। हिन्दी भाषा में दर्शन का इतिहास क्रम से विवेचन तो अनेक विद्वानों ने किया है, परन्तु दर्शन शास्त्र की समस्याओं को लेकर हिन्दी भाषा में प्रायः ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय भारतीय प्राच्य विद्याओं का प्रसिद्ध प्रतिष्ठान माना जाता है। यहां से इस प्रकार के मौलिक ग्रन्थों की रचना होनी अपेक्षित भी है।

डॉ० वेदालंकार ने अपने ग्रन्थ को बारह अध्यायों में विभक्त किया है। इन अध्यायों के शीर्षकों में भारतीय दर्शन की प्रायः सभी समस्याओं पर विद्वतापूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई हैं। इस ग्रन्थ की सबसे प्रमुख विशेषता यह है दर्शन शास्त्र की प्रमुख समस्याओं पर वैदिक मान्यताओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्य बहुत कम विद्वान् वैदिक संहिताओं से दर्शन विषयक सामग्री उपलब्ध कराते हैं। इस गन्थ के विद्वान लेखक ने अपने इस शोध ग्रन्थ में वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, नास्तिक दर्शन (बौद्ध और जैन) और मध्यकालीन आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और आधुनिक आचार्य महर्षि दयानन्द के दार्शनिक विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

वास्तव में वैदिक संहिताओं का प्रभाव भारतीय चिन्तन में ही नहीं अपितु विश्व की प्रमुख चिन्तन धारा में भी परिलक्षित होता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने "भारतीय दर्शन" में लिखा हैं कि "हमें फारस एवं भारत के प्राचीन धर्मो एवं दार्शनिक विचारों में बहुत समता और बन्धुत्व दिखाई देता है। डाक्टर मिल्स का कहना है कि "पारसियों धम ग्रन्थ जिन्दावस्ता, वेदों के जितना सन्निकट है, उतने निकट अपने संस्कृत के महाकाव्य भी नहीं हैं"[1]।

डॉ० जयदेव ने अपने इस शोध ग्रन्थ में भारतीय दर्शन की समस्या के विवेचन में कहीं-२ पर पाश्चात्य दर्शन को भी उद्धृत किया है, जो इनके गहन अध्ययन का परिचायक है। विषयों का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि विश्वविद्यालय के छात्र, शोधार्थी और सामान्य प्रौढ़ पाठक भी इस ग्रन्थ से लाभ उठा सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शोधार्थी इस ग्रन्थ से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

मैं डॉ० जयदेव वेदालंकार को इस पुस्तक के लिखने पर साधुवाद और बधाई देता हूं। इन से आशा करता हूं कि भविष्य में भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ इनकी लेखनी से निसृत होते रहेंगे।

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
एवं
(रिटायर्ड-आई.ए.एस.)

१. भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन् (हिन्दी अनुवाद पृ. ६६, ७६)।

यह सर्वतन्त्र मान्यता है कि समस्त भारतीय चिन्तन धारा का आदि मूल वैदिक संहितायें है। ऋषियों ने, चिन्तकों ने और प्रचेताओं ने उन वैदिक संहिताओं की व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। उन व्याख्याओं के व्याख्याकारों में समय तथा कालान्तर में मतभेद, होते चले चले गये हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन की समस्यायें : एक समालोचनात्मक अध्ययन" अपने विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ० जयदेव वेदालंकार की परिश्रम पूर्ण रचना है। विषय की नवीनतम शोध उपलब्धियों को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण प्रयास है। हिन्दी भाषा में दर्शन का इतिहास क्रम से विवेचन तो अनेक विद्वानों ने किया है, परन्तु दर्शन शास्त्र की समस्याओं को लेकर हिन्दी भाषा में प्रायः ग्रन्थ प्राप्त नहीं है ।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय भारतीय प्राच्य विद्याओं का प्रसिद्ध प्रतिष्ठान माना जाता है। यहां से इस प्रकार के मौलिक ग्रन्थों की रचना होनी अपेक्षित भी है।

डॉ० वेदालंकार ने अपने ग्रन्थ को बारह अध्यायों में विभक्त किया है। इन अध्यायों के शीर्षकों में भारतीय दर्शन की प्रायः सभी समस्याओं पर विद्वतापूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई हैं। इस ग्रन्थ की सबसे प्रमुख विशेषता यह है दर्शन शास्त्र की प्रमुख समस्याओं पर वैदिक मान्यताओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्य बहुत कम विद्वान् वैदिक संहिताओं से दर्शन विषयक सामग्री उपलब्ध कराते हैं। इस ग्रन्थ के विद्वान लेखक ने अपने इस शोध ग्रन्थ में वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, नास्तिक दर्शन (बौद्ध और जैन) और मध्यकालीन आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और आधुनिक आचार्य महर्षि दयानन्द के दार्शनिक विचारों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

वास्तव में वैदिक संहिताओं का प्रभाव भारतीय चिन्तन में ही नहीं अपितु विश्व की प्रमुख चिन्तन धारा में भी परिलक्षित होता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने "भारतीय दर्शन" में लिखा है कि "हमें फारस एवं भारत के प्राचीन धर्मों एवं दार्शनिक विचारों में बहुत समता और बन्धुत्व दिखाई देता है। डाक्टर मिल्स का कहना है कि "पारसियों धम ग्रन्थ जिन्दावस्ता, वेदों के जितना सन्निकट है, उतने निकट अपने संस्कृत के महाकाव्य भी नहीं हैं"[1]।

डॉ० जयदेव ने अपने इस शोध ग्रन्थ में भारतीय दर्शन की समस्या के विवेचन में कहीं-२ पर पाश्चात्य दर्शन को भी उद्धृत किया है, जो इनके गहन अध्ययन का परिचायक है। विषयों का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि विश्वविद्यालय के छात्र, शोधार्थी और सामान्य प्रौढ़ पाठक भी इस ग्रन्थ से लाभ उठा सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शोधार्थी इस ग्रन्थ से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

मैं डॉ० जयदेव वेदालंकार को इस पुस्तक के लिखने पर साधुवाद और बधाई देता हूं। इन से आशा करता हूं कि भविष्य में भी इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ इनकी लेखनी से निसृत होते रहेंगे।

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
एवं
(रिटायर्ड-आई.ए.एस.)

---

१. भारतीय दर्शन, डा. राधाकृष्णन् (हिन्दी अनुवाद पृ. ६६, ७६)।

ओ३म्

भूमिका

भारतीय दर्शन पर हिन्दी में इधर प्रति वर्ष कोई न कोई नया प्रकाशन देखने को मिलता है। इनमें से अधिकांश का विषय दर्शनेतिहास होता है। इन इतिहासों में अधिकतर तो भारतीय दर्शन के छात्रोपयोगी इतिहास होते हैं, जो प्रायः हिन्दी अथवा अंग्रेजी में पूर्वलिखित इतिहासों का चर्वित चर्वण प्रतीत होते हैं। हिन्दी का अन्य नवीन दार्शनिक साहित्य किसी विशेष दर्शन-परम्परा अथवा सम्प्रदाय का निरूपण करता है। कभी कभी किसी एक दार्शनिक विषय को लेकर प्रायः उसी ए दर्शन-परम्परा का आश्रय करके, लिखी गई पुस्तक प्रकाश में आती है। किन्तु ऐसी पुस्तक की कमी सदा खलती रही है जिसमें प्रमुख दार्शनिक विषयों का व्यवस्थित विवेचन किया गया हो। अंग्रजी में इस प्रकार की पुस्तक प्रचूर हैं, किन्तु हिन्दी साहित्य, मोटे तौर पर, अभी दर्शनेतिहास-युग से आगे न बढ़ सका है।

इस स्थिति में विश्वविद्यालयों के छात्र हिन्दी माध्यम को लेकर चलने वाले छात्र प्रमुख दार्शनिक विषयों की क्रमबद्ध मीमांसा हिन्दी में न पा कर सदा कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं। प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० जयदेव वेदालंकार का ध्यान इस ओर गया और वे इस कमी की पूर्ति की दिशा में प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन करने में सक्रिय हुए हैं।

डॉ० जयदेव वेदालंकार विविध उपाधियों से अलंकृत हैं और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन-विभागाध्यक्ष हैं। अतः उन से इस कठिन कार्य के योग्यतापूर्वक निर्वाह की आशा करनी ही चाहिए।

उनके आलोच्य ग्रन्थ का शीर्षक है "**भारतीय दर्शन की समस्यायें : एक समालोचनात्मक अध्ययन**। इसग्रन्थ में कुल बारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय का एक सुनिश्चित दार्शनिक विषय है। यह विषया-वली ज्ञानमीमांसा से आरम्भ होकर मोक्ष-मीमांसा पर समाप्त होती है। बीच में तत्त्व-मीमांसा, आत्म-निरूपण सृष्टि-रचना, अंत:करण ख्यातिवाद, आचार-निरूपण, प्रामाण्यवाद और कर्मफलनिरूपण जैसे विषयों की विवेचना हुई है।

इन विषयों का गठन बड़ी योग्यता से किया गया है। इन के प्रतिपादन में कहीं दुरूहता अथवा अस्पष्टता लक्षित नहीं होती। भाषा मंजी हुई है। समस्यायें प्रामाणिक ढंग से उठाई गयी हैं। प्रत्येक विषय के विवेचन में भारतीय दर्शन की कोई शाखा प्रतिनिधित्व से वञ्चित नहीं की गयी है।

यह सब होते हुए भी ग्रन्थ प्रकीर्ण विषयों अथवा मतों का सङ्ग्रह मात्र नहीं है, जैसा अन्यत्र प्राय: देखने में आता है। लेखक का अपना एक सुनिश्चित, सुचिन्तित दृष्टिकोण है जो ग्रन्थ में साद्यन्त प्रतिफलित पाया जाता है। मैं समझता हूं कि यह इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है।

वह कौन सा दृष्टिकोण है जो पूरी रचना को अनुप्राणित कर रहा है? इस का किञ्चित विचार आवश्यक प्रतीत होती है।

भारत में अनेक दार्शनिक मतवाद अन्य बढ़े, और बूढ़े हुए। आधुनिक युग में उन सब पर कार्य किया गया, सब पर साहित्य तैयार किया गया, किन्तु भारतीय दार्शनिकों को गृहीत प्राय: एक ही दर्शन हुआ, जिसे वेदान्त कहते हैं। और वेदान्त की भी केवल एक शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ, जिसे अद्वैतवाद कहते हैं और जिस के सबसे बड़े आचार्य शङ्कर हो गये हैं। विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक राधाकृष्णन्, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने कुल मिला कर शङ्कर

का मार्ग ग्रहण किया है। इन दार्शनिकों ने शाङ्कर मायावाद की पुनर्व्याख्या अवश्य की, किन्तु प्रत्याख्यान नहीं किया। श्री अरविन्द ने शाङ्कर मायावाद के प्रबल प्रत्याख्यान का उपक्रम किया, तथापि अद्वैतवाद का दामन नहीं छोड़ा, यद्यपि वे वल्लभ आदि अन्य प्रकार के वेदान्तियों से भी हाथ मिलाते प्रतीत होते हैं। इस सम्पूर्ण आधुनिक युग में केवल एक दार्शनिक दिखायी पड़ता है, स्पष्ट शब्दों में शङ्कर का ही नहीं अपितु प्रत्येक प्रकार के अद्वैतवाद का खण्डन करते हुए एक विशिष्ट दार्शनिक वाद की प्रतिष्ठापना की है जिसे आगे चल कर त्रैतवाद की संज्ञा प्राप्त हुई। इस दार्शनिक का नाम सर्वविदित है—स्वामी दयानन्द सरस्वती।

त्रैतवाद तीन अनादि सत्ताओं को मान्यता देता है—ईश्वर जीव, प्रकृति (अथवा परमाणु)। इन तीनों में से प्रत्येक सत्ता यथार्थ है, अनादि और अविनाशी है मायिक अथवा अध्यस्त नहीं। इस दर्शन को डॉ० जयदेव ने अपनी ओर से एक और नाम दिया है, यथार्थवाद, जो सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

डॉ० जयदेव वेदालंकार को इस प्रकार का सार गर्भित ग्रन्थ लिखने पर मैं बधाई और साधुवाद देता हूँ।

—हर्षनारायण
पूर्व प्रोफेसर शिलांग, विश्वविद्यालय

❀

प्रथम अध्याय

ज्ञान मीमांसा

दर्शन शास्त्र की यह समस्या बहुत ही महत्वपूर्ण है कि क्या हमें यथार्थ ज्ञान हो सकता है ? यदि हो सकता है तो किस प्रकार। यदि नहीं तो, उसे प्राप्त करने में क्या व्यवधान है ? महर्षि दयानन्द जी के अनुसार हमें यथार्थ ज्ञान हो सकता है जिसका उल्लेख हम आगे इसी प्रकरण में करेंगे। पाश्चात्य जगत् में यह प्रश्न और भी जटिल है कि जिसे ज्ञान होता है उसकी सत्ता है भी या नहीं ? इस कारण वहां ज्ञान मीमांसा का प्रश्न और भी महत्वपूर्ण बन गया है। अब विचारना यह है कि जो ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है वह निर्भ्रान्त है या नहीं। निर्भ्रान्त ज्ञान का क्या माप दण्ड हो ? उसकी परिभाषा आदि किस प्रकार की जाये। अब प्रश्न यह है कि ज्ञान के जो हम माप दण्ड बनायेंगे वह भी तो एक ज्ञान है, यह कैसे जानेंगे कि वह तात्विक है। फिर उसके जानने के लिए और माप दण्ड बनाने पड़ेंगे, इस प्रकार तो कहीं अन्त नहीं होगा। अतः दार्शनिक जगत को अनवस्था से बचने के लिए इस संबंध में कुछ स्वतः सिद्ध सिद्धान्त मानने पड़ेंगे। अब एक दूसरा प्रश्न और उपस्थित हो जाता है कि अन्ततः वे सिद्धान्त कौन से हो सकते हैं ? जिन्हें हम ज्ञान के संबंध में स्वतः सिद्ध मानें। मेरे विचार में यदि ज्ञाता को पूर्व से नहीं माना जायेगा तो ज्ञान की समस्या का समाधान और भी जटिल हो जायेगा। हमें डेकार्ते की उस उक्ति का विचार करना होगा कि हम संसार भर के पदार्थों के विषय में तो यह सोच सकते हैं कि उककी सत्ता है या नहीं ? परन्तु उस समय कम से कम मैं तो हूं। यदि मैं ही नहीं हूं तो उन वस्तुओं के विषय में सन्देह करने वाला कौन है ? यह ज्ञान तो बच्चे को भी है कि मैं हूं। अतः इसमें किसी को भी सन्देह नहीं कि मेरी सत्ता नहीं है। मैं विचारता हूं इसलिए मेरी सत्ता तो है ही।[1]

---

1. Cogito Ergo sum (I think therefore I exist.

प्लेटो का कहना है कि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। वह सूफी और प्रोटा-गोरस जो ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं, उनका खण्डन प्लेटो इन शब्दों में करता है कि यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जावे तो जो ज्ञान व्यक्ति विशेष को नित्य होता है वह यथार्थ माना जावे परन्तु वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान में तो यथार्थ है परन्तु वह भविष्य में भी रहेगा यह कहना बड़ा ही कठिन है। मान लो किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है कि वह भविष्य में राजा बन जावेगा। परन्तु होता इससे विपरीत हैं कि भिक्षुक बन जाता है। हमें प्रत्यक्ष विपरीत ज्ञान भी होता है जैसे प्रत्यक्ष में सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूम रही है। यदि किसी वस्तु को दूर से देखें तो वह छोटी दिखाई देती है यदि निकट से देखें तो लम्बी दिखाई देती है। जैसे जहाज दिखाई देता हैं। यदि प्रत्यक्ष को भी प्रामाणिक माना जाये तो एक बच्चे के प्रत्यक्ष को भी उतना ही प्रामाणिक मानना चाहिए जितना कि मनुष्य का। बच्चा सूर्य को घूमते देखता है परन्तु प्रौढ़ व्यक्ति का निष्कर्ष दूसरा ही होता है। प्लेटो एक बात और कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान में बुद्धि की भी आवश्यकता है। इन्द्रियां तो केवल हमें संवेदना[1] ही प्राप्त कराती है। संवेदना और प्रत्यक्ष में अन्तर है। कल्पना कीजिए हम किसी कोमल फूल को देख रहे हैं, केवल देखने मात्र से तो केवल दृष्टि संवेदना हो रही है। हां उस दृष्टि संवेदना में जब अर्थ[2] प्रयुक्त होता हैं तभी हम समझते हैं कि यह फ़ूल है। सुन्दर है अथवा अमुक का है। यहाँ अर्थ मस्तिष्क की देन है। अतः दार्शनिकों का विचार है कि बुद्धि द्वारा हमें वर्ग का ज्ञान होता है, संवेदना द्वारा नहीं।

इन युक्तियों द्वारा प्लेटो उन दार्शनिकों का खण्डन करता है जो बुद्धि को प्रत्यक्ष को ज्ञान का आधार मानते हैं। प्लेटो के अनुसार ज्ञान का अर्थ युक्ति पूर्ण बौद्धिक ज्ञान है[3], आत्म प्रसूत ज्ञान[4] प्लेटो अंगीकार नहीं करते हैं।

---

1. Sensation
2. Meaning.
3. Rational Knowledge.
4. intutive Knowledge.

यह सबको निश्चय है। उपनिषदों में भी कहा है कि सभी अपने अस्तित्व मानते हैं, कोई भी नहीं कहता कि मैं नहीं हूं।[2] अतः हमें इन्द्रियों की ओर से न चल कर आत्मा की ओर जाना होगा। क्योंकि इन्द्रियां तो भौतिक हैं, वे संवेदना ही प्राप्त कर पाती हैं। अतः ज्ञान के संबंध में दार्शनिक जगत में यह प्रश्न बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान हमें किस प्रकार प्राप्त होता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म आदि मानने के कारण इस पर बहुत अधिक विवाद नहीं है। हाँ प्रमाण मीमांसा के विषय में, जो ज्ञान मीमांसा का ही अंग माना जाता है, भारतीय दर्शनों में बहुत ही अधिक लिखा गया है। प्रमाण कितने माने जायें, क्यों माने जायें? इत्यादि विषयों को लेकर प्रत्येक दर्शनकार और भाष्यकारों ने इस पर अति सूक्ष्मता से विवेचन किया है।

पाश्चात्य दर्शन में यह समस्या वहां के प्रारम्भिक दर्शन ग्रीक से लेकर इस समय तक जटिलता का ही रूप धारण करती चली गई है। पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक दर्शन से हमें दो ही प्रकार के दार्शनिक मिलते हैं। प्रथम बुद्धिवादी[2], दूसरे अनुभववादी।[3] प्राचीन युग में प्लेटो के दर्शन में भी हमें मीमांसा के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। प्लेटो सामान्य ज्ञान को ही ज्ञान मानता है[4]। वह इस विषय में सत्य और सामान्य क्या है? दो विधियों के द्वारा समझता है। ये विधियां निषेधात्मक और भावात्मक हैं। निषेधात्मक में वह बतलाना चाहता है कि ज्ञान क्या-क्या नहीं है। भावात्मक विधि द्वारा वह ज्ञान के स्वरुप पर प्रकाश डालता है।

---

2. सर्वं ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति ननाहमस्मि इति। यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात् अत्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति बृहदारण्यक (४।३।६)

---

1. Modern Philosophy.
2. Rstionalistic.
3. Empiricistic.
4. Knowledge means knowledge of Universal.

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार ज्ञान का साधन बुद्धि है[5]। ज्ञान का साधन इन्द्रियां नहीं, प्रचलित विचार को भी वह नहीं मानता तो बुद्धि ही है। बुद्धि के द्वारा ही हमें वर्ग का ज्ञान होता है अतः प्लेटो सुकरात के कथन को अंगीकार करते हैं। बस इसी को प्लेटो सामान्य ज्ञान मानते हैं। अतः प्लेटो के अनुसार सामान्य ज्ञान ही ज्ञान है। वस्तु विशेष का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है परन्तु सामान्य का हमें बुद्धि द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए बुद्धि ही ज्ञान का यथार्थ साधन है।

देकार्त भी बुद्धिवादी है। इसके अनुसार सर्व व्यापक तथा अनिवार्य ज्ञान आत्म ज्ञान प्रत्ययों के आधार पर प्राप्त होता है। जिसका नमूना हमें गणित शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, ऐसा देकार्त मानता है। परन्तु लाक इस मत का खण्डन करता है जिसका वर्णन हम अनुभव प्रकरण में करेंगे।

इससे आगे ज्ञान मीमांसा के सम्बन्ध में बहुत महत्व लाइ-बनित्स का है। यद्यपि लाइबनित्स लोक और देकार्त कर बीच मध्य मार्ग का अनुसरण करता है इसका कथन है। कि न यह कहना ठीक है कि सब कुछ ही आत्मजात है और न यह मानना ठीक है कि कोई भी प्रत्यय बाहर सहजात नहीं है। वास्तव में सभी प्रत्यय सहज है क्योंकि सब ही प्रत्यय गवाक्षहीन चिदबिन्दु या मॉनड् के अन्दर है और कोई भी प्रत्यय बाहर से अन्दर नहीं आ सकता हैं। इसके अनुसार प्रारम्भ में लभी प्रत्यय धुन्धले रहते हैं। परन्तु अनुभव वृद्धि के साथ धीरे-धीरे कुछ प्रत्यय अन्त में स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते हैं। घुधंले एवं अनिश्चित् प्रत्यय को इन्द्रिय ज्ञान या संवेदना कहते हैं और स्पष्ट प्रत्येय को विचार कहा जा सकता हैं। अतः हमें कहना चाहिए कि ज्ञान संवेदनाओं से प्रारम्भ होता है और स्पष्ट विचारों में जाकर चरम सीमा को प्राप्त होता हैं[1]। ज्ञान के सम्बन्ध

---

5. Reason.

*1. Knowledge begins with senses and end in reason.

इसने सम्भाव्य और पूर्णसम्भाव्य भेद बतलाता है। जो आत्मा व्या-घात से रहित हो वह सम्भाव्य। जैसे सोने का पर्वत सम्भाव्य है। परन्तु जो घटनायें वास्तविक हैं वे पूर्ण सम्भाव्य हैं क्योंकि वे यथार्थ घटनाओं से सम्वद्ध रहती हैं। वे सभी पेड़ पौधे घड़ा इत्यादि पूर्ण सम्भाव्य है। यह ठीक है कि कोई भी व्यक्ति वास्तविक घटनाओं की व्याख्या पूर्ण करने में असमर्थ है। सभी यथार्थ घटनायें व्यक्ति के लिये संयोगी ही मालूम पड़ती है। परन्तु यह बात ईश्वर पर लागू नहीं जा सकती है। बुद्धिवाद के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ज्ञान के प्राप्त करने में मन निष्क्रिय नहीं परन्तु सक्रिय[2], रहता है। इसलिए ज्ञान में बाहर से कुछ भी नहीं मिलता है परन्तु मन स्वयं ज्ञान की रचना अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से करता है। इस मत को लाइबनित्स उग्रता से सिद्ध करना चाहता है।

कुछ आत्मजात प्रत्यय मन में है जिनकी पहचान यही है कि वे स्पष्ट और परिस्पष्ट होते हैं। ये प्रत्यय जैसा कि ऊपर कहा गया है गणित में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं इसलिये बुद्धिवाद की परि-भाषा की जाती है कि यह यह वह दर्शनया मत है गणित शास्त्र में जिसका आदर्श पाया जाता है। बुद्धिवाद का व्यापक अर्थ यह कहा जा सकता है कि वह दशन मीमांसा जिसको सभी स्थानों पर बुद्धि को ही सत्य की कसौटी समझा जाता है। प्रभुता को नहीं। बेकन से लेकर काण्ट तक इस व्यापक अर्थ में आ जाते हैं।

क्योंकि सभी ने बुद्धि को मापदण्ड समझा है मनस प्रायः ज्ञानात्मक[1], रागात्मक[2], संकलात्मक शक्तियो से विभक्त कर दिया जाता है। मनस् के इस विभाजन के प्रसंग में यदि कहा जावे कि दर्शन में ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का स्थान है इस मत को प्रायः बुद्धि-

---

2. Active
1. Experience does not constitute knowledge but serves only an ocasion for the *exercise of reason* as the faculty of innate ideas.

Acritical History of Modren Philosophy

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार ज्ञान का साधन बुद्धि है[5]। ज्ञान का साधन इन्द्रियां नहीं, प्रचलित विचार को भी वह नहीं मानता तो बुद्धि ही है। बुद्धि के द्वारा ही हमें वर्ग का ज्ञान होता है अतः प्लेटो सुकरात के कथन को अंगीकार करते हैं। बस इसी को प्लेटो सामान्य ज्ञान मानते हैं। अतः प्लेटो के अनुसार सामान्य ज्ञान ही ज्ञान है। वस्तु विशेष का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है परन्तु सामान्य का हमें बुद्धि द्वारा हो प्राप्त हो सकता है। इसलिए बुद्धि ही ज्ञान का यथार्थ साधन है।

देकार्त भी बुद्धिवादी है। इसके अनुसार सर्व व्यापक तथा अनिवार्य ज्ञान आत्म ज्ञान प्रत्ययों के आधार पर प्राप्त होता है। जिसका नमूना हमें गरिणत शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, ऐसा देकार्त मानता है। परन्तु लाक इस मत का खण्डन करता है जिसका वर्णन हम अनुभव प्रकरण में करेंगे।

इससे आगे ज्ञान मीमांसा के सम्बन्ध में वहुत महत्व लाइ-वनित्स का है। यद्यपि लाइबनित्स लोक और देकार्त कर बीच मध्य मार्ग का अनुसरण करता है इसका कथन है। कि न यह कहना ठीक है कि सब कुछ ही आत्मजात है और न यह मानना ठीक है कि कोई भी प्रत्यय बाहर सहजात नहीं है। वास्तव में सभी प्रत्यय सहज है क्योंकि सव ही प्रत्यय गवाक्षहीन चिदविन्दु या मॉनड् के अन्दर है और कोई भी प्रत्यय वाहर से अन्दर नहीं आ सकता हैं। इसके अनुसार प्रोरम्भ में लभी प्रत्यय धुन्धले रहते हैं। परन्तु अनुभव वृद्धि के साथ धीरे-धीरे कुछ प्रत्यय अन्त में स्पष्ट तथा परिस्पष्ट हो जाते हैं। घुधंले एवं अनिश्चित् प्रत्यय को इन्द्रिय ज्ञान या संवेदना कहते हैं और स्पष्ट प्रत्येय को विचार कहा जा सकता हैं। अतः हमें कहना चाहिए कि ज्ञान संवेदनाओं से प्रारम्भ होता है औंर स्पष्ट विचारों में जाकर चरम सीमा को प्राप्त होता हैं[1]। ज्ञान के सम्वन्ध

---

5. Reason.

*1. Knowledge begins with senses and end in reason.

इसने सम्भाव्य और तूर्णसम्भाव्य भेद बतलाता है। जो आत्मा व्याघात से रहित हो वह सम्भाव्य। जैसे सोने का पर्वत सम्भाव्य है। परन्तु जो घटनायें वास्तविक हैं वे पूर्ण सम्भाव्य हैं क्योंकि वे यथार्थ घटनाओं से सम्वद्ध रहती हैं। वे सभी पेड़ पौधे घड़ा इत्यादि पूर्ण सम्भाव्य है। यह ठीक है कि कोई भी व्यक्ति वास्तविक घटनाओं की व्याख्या पूर्ण करने में असमर्थ है। सभी यथार्थ घटनायें व्यक्ति के लिये संयोगी ही मालूम पड़ती है। परन्तु यह बात ईश्वर पर लागू नहीं जा सकती है। बुद्धिवाद के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ज्ञान के प्राप्त करने में मन निष्क्रिय नहीं परन्तु सक्रिय[2], रहता है। इसलिए ज्ञान में बाहर से कुछ भी नहीं मिलता है परन्तु मन स्वयं ज्ञान की रचना अपनी रचनात्मक प्रक्रिया से करता है। इस मत को लाइबनित्स उग्रता से सिद्ध करना चाहता है।

कुछ आत्मजात प्रत्यय मन में है जिनकी पहचान यही है कि वे स्पष्ट और परिस्पष्ट होते हैं। ये प्रत्यय जैसा कि ऊपर कहा गया है गणित में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं इसलिये बुद्धिवाद की परिभाषा की जाती है कि यह यह वह दर्शनया मत है गणित शास्त्र में जिसका आदर्श पाया जाता है। बुद्धिवाद का व्यापक अर्थ यह कहा जा सकता है कि वह दशन मीमांसा जिसको सभी स्थानों पर बुद्धि को ही सत्य की कसौटी समझा जाता है। प्रभुता को नहीं। बेकन से लेकर काण्ट तक इस व्यापक अर्थ में आ जाते हैं।

क्योंकि सभी ने बुद्धि को मापदण्ड समझा है मनस प्राय: ज्ञानात्मक[1], रागात्मक[2], संकलात्मक शक्तियो से विभक्त कर दिया जाता है। मनस् के इस विभाजन के प्रसंग में यदि कहा जावे कि दर्शन में ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का स्थान है इस मत को प्राय: बुद्धि-

2. Active
1. Experience does not constitute knowledge but serves only an ocasion for the exercise of reason as the faculty of innate ideas.

Acritical History of Modren Philosophy

वाद ही कहा जावेगा। परन्तु इसके उपयुक्त शब्द बौद्धिकला या विचारवाद न कि बुद्धिवाद। कुछ का मत है कि इस अर्थ में भी आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद को नहीं लेना चाहिए। इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं। हम कहते हैं कि वे वस्तुयें जो किसी एक वस्तु के बराबर हो परस्पर पर भी बराबर होंगी। जैसे अ और ब में से यदि प्रत्येक स के बराबर हो तो अ और ब भी एक दूसरे के बराबर होंगे। मानव अनुभव पर यह स्वयं सिद्ध वाक्य आधारित होता तो सर्वव्यापी या सार्वभौम नहीं हो सकता, क्योंकि इसके अन्तर्गत उनको उदाहरण आते हैं। उनके असंख्य उदाहरणों को किस प्रकार अनुभव के द्वारा जांचा जा सकता है। हम यही उस समय कह सकते कि घटना इस प्रकार घट सकती हैं। जैसे सूर्य पूर्व से उगता है परन्तु इनके अनुसार हम यह नहीं कह सकते कि अवश्य ही सूर्य पूर्व में उगता। अतः अनुभव के आधार पर सर्वव्यापी और अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नहीं हो सकती। इसका अभिप्राय: यह नहीं है कि अनुभव का बुद्धिवाद में कोई स्थान नहीं है। अनुभव द्वारा हमारे अन्दर ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि हम उस द्वारा आत्मजात प्रयत्नों को अपने में जान लेवे। जैसे छोटे बच्चे को प्रतिभा आत्मजात है परन्तु उत्तम स्कूल या संस्था उसकी प्रतिभा का विकसित या लिखने में पूर्ण रूप से सहायता देती है, इससे यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव द्वारा आत्मजात प्रत्ययों के विकास में उत्तेजना मिलती है। अतएव अनुभव से सर्वव्यापी तथा अनिवार्य ज्ञान का न तो उपादान ही मिलता है और न ऐसी रचना ही होती है। हाँ अनुभव सर्वव्यापी ज्ञान की प्रेरणा अवश्य मिलती है[1]।

यह निश्चित है कि बुद्धिवाद के अनुसार अनुभव से सर्वव्यापक तथा अनिवार्य ज्ञान की स्थापना नहीं हो सकती। यही नहीं अपितु अनुभव की सम्भावना भी इन्हीं आत्मजात प्रत्ययों के आधार पर होती है। इसलिये आत्मजात प्रत्ययों की व्याख्या अनुभव के

1. Instead of experience validating innate ideas, it is the innate ideas which explain the possibility of experience (History of Mo. Philosophy)

आधार पर न होकर अपितु स्वयं अनुभव की व्याख्या इन प्रत्ययों के आधार पर होती है[1]। अतः बुद्धिवाद द्वारा ही सही व्याख्या हो सकती है।

हम देखते हैं कि सभी दर्शन मीमांसा में कुछ नियम छिपे हुए हैं। ज्ञान की स्थापना बुद्धिवाद के अनुसार आत्मजात सर्वव्यापी और अनिवार्य प्रत्ययों के आधार पर होती है, इसलिये ज्ञान की कसौटी बाह्यवस्तु के मेल को नहीं बनाया जा सकता है। ज्ञान की कोई कसौटी इस कथनानुसार होगी तो केवल आत्म विरोध में[2], तथा प्रत्ययों का परस्पर उनके सामंजस्य में ही हो सकता है। इसलिये बुद्धिवाद के अनुसार ज्ञान की सत्यता व्याघात रहित[3], सम्बद्धता में पायी जाती है[4]। यह लक्षण लाइबनित्स के अतिरिक्त वर्तमान कालिक ब्रिटिश प्रत्ययवाद में इस विशेष स्थान दिया जाता है।

इस प्रकार हमें संक्षिप्त रूप से ज्ञान होने के एक सिद्धान्त को देखा जो पश्चिमी मनीषियों ने प्रतिपादन, किया है। भारतीय दर्शन में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु हम यहां अनुभववाद का संक्षेप में वर्णन करते चलें ताकि दोनों वादों की तुलनात्मक विवेचना की जा सकें।

अनुभववाद :- अनुभव वाद के विषय में जोनलॉक का महत्वपूर्ण योग है। इसका उद्देश्य यह था कि वे पूर्व रूप या आदि तथा उसकी असंदिग्धता और सीमा का अध्ययन करें। इस बात का निर्णय भी करें कि ज्ञान का आधार क्या है फिर किन-किन मात्राओं में किन-किन वस्तुओं या विषयों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। लॉक प्रत्यय-वादी नहीं था। यह प्रत्ययों को वस्तु का चिन्ह समझता हैं। अतः इसके ज्ञान में वस्तुवाद हैं। ज्ञान को असंदिग्धता की माला सहज

2. Absence of self inconsistency"
3. Without contradiction.
4. According to *rationalism* seid consistency and coherence are the criteria of knowledge. (H. Modren Philosophy)

प्रत्यक्ष ज्ञान में सबसे अधिक असंदिग्धता है। जहां हम दो प्रत्ययों के बीच संगति या असगिति साक्षात् रीति से देखते हैं उसे हम सहज प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, जैसे रक्त काला नहीं है। अथवा तीन दो से अधिक है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक भी देकार्ते स्पिनोजा इत्यादि की तरह गणित से प्रभावित थे।

लॉक ने ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित रखा है प्रत्यय सार्वभोग ही हो सकते हैं। इस लॉक के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ज्ञान केवल सार्वभौम ही हो सकता है। यहां हम लांक के विचारों में प्भेटोवाद की झलक स्पष्ट रूप से देखते हैं। परन्तु लांक प्लेटावादी न होकर यह अनुभववादी ही था। अनुभव के आधार पर तो केवल वस्तु विशेषों का ज्ञान ही सम्भव हो सकता है। अतः लॉक ने इन्द्रियं जन्य ज्ञान की भी एक प्रकार का ज्ञान माना है। ताकि उसके आधार पर वस्तु विशेषों का भी ज्ञान प्राप्त हो सकें।[1]

वस्तुत: एक प्रकार से लॉक कुछ परस्पर विरोधी सी बात भी कह कह जाते हैं। परन्तु ध्यान से देखने से पता चलता है कि वह बतलाना चाहता है कि वास्तविकता ज्ञान दो प्रकार का है एक सार्वभौम जो प्रत्ययां सीमित है। दूसरा वस्तु विशेषों का ज्ञान परन्तु यह उसका प्रयास मात्र है। जहाँ असंदिग्ध सार्वभोम ज्ञान है। वहां वस्तु विशेषों का वास्तविक ज्ञान मिल सकता है। जहां वस्तु विशेषों को

---

1. There is indeed another perception of the mind, employed about the particular existence of finite beings without us. Which going beyond bare probubility and yet not reaching perfectly to either of the foregeting degrees of certainity passes under the name of knowledge (B.K. IV. 2-14).

वास्तविकता मिलती है वहां सार्वभौमिकता नहीं मिल सकती[2]। लाक के इस कथन में ह्यूम का प्रसिद्ध निष्कर्ष झलकता है। जिसके अनुसार केवल दो ही प्रकार तार्किक वाक्य सम्भव हैं। वे जिनका सम्बन्ध संख्या [3] को अमूर्तबोधित युक्तियों से है। और वे जिनका सम्बन्ध वास्तविक वस्तुओं से है। उन उक्तियों का प्रभाव हम वर्तमान कालीन तार्किक प्रत्यक्षवादियों पर बहुत पाते हैं। अब जो बात इन्द्रिय जन्म ज्ञात को भी मान लेने में पायी जाती है। यह बात ज्ञान की वास्तविकता के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाती है। हम यदि ज्ञान को प्रत्ययों के बीच ही सीमित करें तो हमारा ज्ञान वास्तविक वस्तुओं के प्रति किस प्रकार सत्य होगा।

यहां लॉक ने ज्ञान के प्रत्ययों के मध्य सीमित रक्खा है तो भी उसका उद्देश्य यह था कि ज्ञान वास्तविक भी हो। वह भी अनुभव द्वारा ही सम्भव है। लॉक विशेषों से सामान्य की उत्पत्ति मानता है सामान्य एक अमूर्त विचार है यह सामान्य काल्पनिक है। जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि को देखकर हम मनुष्यत्व की कल्पना करते हैं

बर्कले का अनुभववाद :

बर्कले का बाह्य वस्तुओं का खण्डन करता है उसका कहना है कि चेतना शून्य जड़ पदार्थों का अस्तित्व नहीं है।[1] इसके अनुसार लॉक के अनुभववाद में प्रमुख दोष यह हैं कि लॉक अनुभव के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की भी सत्ता स्वीकार नहीं करता है।

---

2. Where by the beay, we may take notice that universal propositions of whose truth, falsehood, we can have certain knowledge concern not existence further that all particular affirmation......are only conerning existence they declaring only the accidental union of sepration of Ideas inthings existing............(B.K. IV, 9.1.)

1. Unthinking matter does not exist.

सत्ता अनुभव मूलक है।[2] यह बर्कले की प्रसिद्ध उक्ति ह। अर्थात् सत्ता और अनुभव में तादात्मय है। सत्ता अनुभव विहीन नहीं हो सकती है इसका कहना है कि हमारे अन्दर अनेकों विचार विद्यमान है। इन विचारों के अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं है। इसके अनुसार पदार्थों का अस्तित्व मन पर निर्भर करता है यह अनुभव भी न करें तो पदार्थों की सत्ता भी नहीं होगी। अतः अनुभव ही सत्ता है। सृष्टि दृष्टि नहीं अपितु दृष्टि से ही सृष्टि है। यदि हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो वह पदार्थ भी यदि नहीं देखते तो पदार्थ भी नहीं है। पदार्थों की सत्ता हमारे दर्शन पर निर्भर करती है।[3] यह सभी विज्ञानों को मन से उत्पन्न मानता है। यदि मेरे मन में विज्ञान या प्रत्य नहीं होता तो मैं प्रतीत भी नहीं करता अतः इससे स्पष्ट है कि प्रतीति का विषय है[4], वस्तु नहीं है। किसी किसी विषय का हमें ज्ञान होता है उसका अभिप्राय है कि विषय का अस्तित्व ज्ञाता के अनुभव पर आधारित है। इसका कथन है कि हमारा यह भ्रम है कि नदी पर्वत घर घड़ा पट आदि वाह्य वस्तु है। यदि हम इनका अनुभव नहीं करते तो ये वस्तुयें भी नहीं हैं। अत: जिन वस्तुओ की हमें संवेदना इन्द्रियों द्वारा होती है वे विज्ञान की प्रतीति है। हम वाह्य जगत में केवल गुणों का प्रत्यक्ष करते हैं। प्रकाश नीला रक्त मीठा आदि गुण हमारे मन के विभिन्न स्तर है अथवा विज्ञान है। उदाहरणार्थ हम किसी वाह्य पदार्थ को लेकर उसका विश्लेषण कर देंखे। गुड़ या चीनी क्या है? कुछ गुणों का मिश्रण होता है जैसे मीठापन आदि। ये गुण तो हमारे मन के प्रत्यक्ष हैं। अत: गुड़ प्रत्ययों का संयोग मात्र है। अतः इसके अतिरिक्त गुड़ वाह्य वस्तु कुछ भी नहीं है इसको हम यूँ कह सकते हैं कि दो या तीन या उससे अधिक प्रत्ययों का हम नाम देते हैं। वही वही वस्तु का जाती है जो हमारे प्रत्ययों का मेल मात्र है। यह गर्मी का अनुभव करते हैं। शीतत्व का

---

2. Esse est percipe
3. To be is to be perceived or Existence consists inbeing perceived.
4. Object of knowledge.

अनुभव करते हैं या हम प्रकाश को देखते हैं इन सबमें हमें रूप और स्पर्श की संवेदना होती है हम इन दोनों संवेदनाओं से अग्नि नामक पदार्थ समझते हैं।

बर्कले के अनुसार प्रत्यक्ष विहीन वस्तु की सत्ता नहीं मानी जाती अत: इनका कहना है कि अस्तित्व का अर्थ है अनुभवगम्य होना यदि मैं किसी वस्तु को देख सकता हूँ तो उस वस्तु का अस्तित्व भी है। जैसा मैं घर या कपड़े को छूता हूँ तो इसका अभिप्राय: यह है कि वस्तुयें ज्ञेय है और ज्ञाता पर निर्भर करती हैं अत: बर्कले के अनुसार आत्मा ही एक पदार्थ है। प्रत्यय उस पर निर्भर करते हैं। इसलिए आत्मा और आत्मिक प्रत्ययों को छोड़कर किसी चीज की सत्ता नहीं है। इसके अनुसार आत्मा की सत्ता अनुभव मूल—क[2], न होकर क्रियामय है आत्मा की सत्ता इसकी सक्रियता में है[3]।

बर्कले से कोई पूछ सकता है कि यदि हम अनुभव न करें तो क्या वस्तुओं का अस्तित्व नहीं रहेगा ? यदि हम आंख बन्द करलें तो क्या घर पर नदी पर्वत आदि नहीं रहेंगे। यदि मै अपनी आंखें खोल लूँ तो मुझे नदी पर्वत आदि का ज्ञान अवश्य हो जावेगा। यूं कहिए कि इनमें ज्ञातता वर्तमान है। इनके रूप की संवेदना हम करते हैं अत: इनमें ज्ञान होने की सामर्थ्य है।

दूसरी प्रकार इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है यदि हम आँख बन्द करलें तो हमें पर्वत, नदी आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा

---

1. Qualities
2. Percible.
3. But besides all that endless variety of ideas or knowledge there is like wise samething which knows or pergeives them and exceviers divers operations as willing imaging g remembering about them. This perecithing active being is what I call mind spirit. Soul or my self. Princeples II 2.

यह ठीक है परन्तु दूसरे लोगों की आँख तो खुली हुई हैं। ईश्वर को उनका ज्ञान सदैव रहता है। अतः केवल पूर्ण प्रत्ययवादी हैं। इससे आगे ह्यूम भी अनुभववादी है ह्यूम अपने पूर्वदार्शनिकों के समान इन्द्रियां अनुभववादी हैं अर्थात् इन्द्रियानुभव ही ज्ञान का मूल स्रोत है। ह्यूम का कथन है कि हम प्रत्येक ज्ञान के विषय को दो भागों में विभाजन करते हैं। प्रथम संस्कार दूसरा विज्ञान। यह विभाजन स्पष्टता के आधार पर किया गया है। दोनों का उद्गम अनुभव ही है परन्तु अनुभव में न्यूनाधिक स्पष्टता दिखाई पड़ती, है। अतः कुछ अनुभव कम स्पष्ट होता है तो तो कोई अधिक। इसके अनुसार संस्-कार का अनुभव अधिक स्पष्ट होता है परन्तु विज्ञान का अनुभव कम स्पष्ट होता है। इस प्रकार ज्ञान का भेद अनुभव की तीव्र तथा सजीव रूप से मन में केन्द्रित होने पर है। कोई अनुभव अधिक तीव्र गति से सजीव हो मानस पटल पर अंकित होता है तीव्रता और स्पष्टता से ज्ञान भेद भी हो जाता है। संवेदना आगे मनोभाव आदि सभी संस्कार हैं। इनकी प्रतीति मन में स्पष्टतः होती है। विचार या चिन्तन पर बनने वाले वाले प्रतिरूप ही विज्ञान है।[1] अन्तर्मुखी और वाह्य मुखी संवेदनायें का ह्यूम के अनुसार संस्कार हैं। अतः कोई भी विज्ञान ऐसा नहीं जो संस्कार जन्य न हो स्मृति और कल्पना के रूप में इनके क्षीण प्रतिरूप ही विज्ञान कहलाते हैं। हम जानते हैं कि ज्ञान के उपकरणों के लिये दो मार्ग हैं संवेदना और स्वसंवेदना। प्रत्येक विज्ञान का प्रतिरूप है[1], इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के लिये आवश्यक है कि जिस संस्कार का प्रतिरूप जो विज्ञान हो

---

1. Those perceptions whichenter with wast for a and violence we may name impressions and under this name I compereheral all our sensatious, passions and emotions as they make there first appearence in the soul. By ideas I mean the faint images of these in thinking and reasioning.

(Students Hist, of philpcgers P. 331)

उसे हम वैसा ही समझें। यदि ऐसा ना हो तो भ्रम होगा। अर्थात् जो किसी विज्ञान का सम्बन्ध उनके जन्म संस्कार से न समझ कर दूसरे संस्कार से समझने लगते हैं। यदि हमारे भ्रम का कारण है। ह्यूम के अनुसार द्रव्यादि की धारणाओं से इसी प्रकार का भ्रम है। रूप, रस गन्ध आदि संस्कार है। क्योंकि इनके मन को इनका अनुभव स्पष्ट होता है। तथा तीव्र होता है। परन्तु जब इनका वेग कम होता है तो स्फूर्ती या कल्पना में एन के क्षीण प्रतिविम्ब रह जाते हैं। यही विज्ञान कहलाते हैं।

// अत: ह्यूम के अनुसार हमारा सम्पूर्ण ज्ञान संस्कार तथा विज्ञान जन्य है। विज्ञान विषय भी भी संस्कार ही है अत: हमारे ज्ञान का वास्तविक श्रोत संस्कार ही है। हमारे मन में केवल प्रत्यक्ष ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ज्ञान संस्कार यों ज्ञान से उत्पन्न होता है। इन वर्तमान संस्कारों का भी संस्कार होना चाहिए इनका पूर्व संस्कार है। इस प्रकार ह्यूम अपने इस संस्कार सिद्धान्त में लॉक तथा वर्कले दोनों का खण्डन करते हैं। लांक ने संवेदनाओं का कारण बाह्य पदार्थ माना वर्कले ने बाह्य पदार्थों का खण्डन किया और बतलाया कि वह संवेदनायें में मन से तथा कुछ ईश्वर से उत्पन्न होती हैं। परन्तु ह्यूम के अनुसार सभी संवेदनाओं का कारण संस्कार है। संस्कार के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।

हमारा मन केवल प्रत्यक्ष विज्ञानों का भण्डार है परन्तु इन विज्ञानों का कारण क्या है[2]। इनका कारण पूर्व विज्ञान है। इस प्रकार विज्ञानों का एक सतत-प्रवाह है इस प्रवाह में एक विज्ञान के वाद दूसरा विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि कि इस प्रवाह में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता है अत: ह्यूम के अनुसार पूर्ववर्ती विज्ञानों का उत्तरवर्ती विज्ञानों से संबंध हैं। इनके संबंध के नियम कहते हैं। इस नियम के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि दो विज्ञानों का सम्बन्ध है। एक अस्तित्व के लिये दूसरों के अस्तित्व की अपेक्षा यह विज्ञानों का अपना स्वभाव है।

2. Law of Assocation.

ह्यूम विज्ञानों में तीन प्रकार का सम्बन्ध मानता है। सर्व-प्रथम सादृश्य हो अथवा समान हों तो उनमें पारस्परिक सम्बन्ध हो जाता है। जैसे गणित, शास्त्र। दूसरा सम्बन्ध देश या काल गत सम्सन्ध हैं। यदि दो विज्ञानों में काल या देश की समीपता हो तो वे सम्बन्धित्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ प्रकृति विज्ञान। कार्य कारण का भाव होने से विज्ञान सम्बन्धित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ तत्त्व-मीमांसा। अतः ह्यूम के अनुसार ज्ञान हमें दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक बुद्धि द्वारा और दूसरा अनुभवाद द्वारा।

भारतीय दार्शनिकों में चार्वाक का कहना है कि जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है अतः वस्तुओं का ज्ञान हमें अन्दर से प्राप्त नहीं होता है तथा संस्कार भी हमारे अन्दर उनके नहीं होते हैं क्योंकि चार्वाक पूर्व जन्म अथवा ईश्वर को नहीं मानता है वह आत्म की सत्ता पृथक से स्वीकार नहीं करता है अपितु भूतों के संयोग स ही आत्मा की उत्पत्ति स्वीकार करता है अतः चार्वाक ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष को ही मानता है इसका कहना है कि इन्दियों के द्वारा ही विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त हो जाता है अतः इसके अनुसार इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है। क्योंकि ज्यों ही हमें इन्द्रियों के संवेदन प्राप्त होते हैं हमें पूर्णज्ञान प्राप्त हो जाता हैं अतः इसके लिये बुद्धिमय संस्कार आदि मानने के लिये कोई आव-श्यकता नहीं यदि संस्कार माने या ज्ञान का अन्दर मानेंगे तो अनु-मान की शरण लेनी होगी जो सर्वथा अनुचित है। क्योंकि अनुमान द्वारा हमें विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान इसके मतानुसार केवल इन्द्रियों की संवेदना मात्र है। वच्चा अग्नि में हाथ जलाकर स्वयं ज्ञान कर लेता है कि इसमें देने से जल जायेगा। अतः इसके अनुसार मन तो केवल कौरी स्लेट है उस पर जैंसे अनुभव होंगे वैसे ही ज्ञान की रेखायें खिच जायेगी।

महर्षि दयानन्द के अनुसार दोनों मत ही एकांगी है क्योंकि ज्ञान तो बुद्धि और अनुभव का फल है। पहले बुद्धिवाद के अनुसार सार्वभोम तथा अनिवार्य ज्ञान आदर्श माना जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति होती है। हमें सम्मुख कितने

ही वैज्ञानिकों ने पूर्व के सिद्धान्त असत्य ठहराये हैं। तथा आज से पूर्व जो सिद्धान्त सत्य माना जाता था, आज वह असत्य हो गया है। इस प्रकार बुद्धिवाद प्रगतिशीलता की ओर ध्यान नहीं देता है। बुद्धिवाद की प्रणाली निगमनात्मक है परन्तु सिद्धि की दोनों प्रणालियां प्रचलित हैं आगमनात्मक प्रणाली भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं।

बुद्धिवाद के अनुसार यथार्थ ज्ञान प्रमाणित है यथार्थ ज्ञान का स्वरूप है सार्वभौम तथा अनिवार्य होना परन्तु ऐसा ज्ञान होता नहीं है गणित में भले ही ऐसा उदाहरण प्राप्त हो जाये परन्तु व्यवहारिक ज्ञान तो सार्वभौम और अनिवार्य होता ही नहीं है। यदि ज्ञान से देखा जाय तो गणित के भी सत्य ज्ञान अनिवार्य नहीं होते हैं। जैसे बुद्धिवादी उदाहरण देते हैं। २ जमा २ बराबर ४ परन्तु यह उदाहरण सर्वथा सत्य नहीं है। हम यदि दो और दो बून्द पानी का योग निकालते तो चार बून्द कदापि नहीं होगा वरन, एक बून्द पानी होगा अत: गणित का ज्ञान भी आदर्श रूप कैसे स्वीकार किया जाये ?

बुद्धिवाद ज्ञान के क्षेत्र में नवीनता की व्याख्या नहीं कर पाता है। हमारा ज्ञान नित्य नवीन होता है परन्तु बुद्धिवाद ज्ञान को सनातन सत्य मानता है। वह गणित का उदाहरण देता है। कि संद्विबाहु त्रिभुज में आधार पर के कोण बराबर होते हैं। परन्तु यह तो विश्लेषणात्मक वाक्य है इसमें विधेय केवल उद्देश्य का विश्लेषण करता है जो आदमी समद्विबाहु त्रिभुज के बारे में जानता है वह यह भी जानता है कि उसके आधार पर के दोनों कोण बराबर होते हैं अतः विधेय तो विश्लेषण का उद्देश्य मात्र हुआ। इससे हमें कोई नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। बुद्धिवाद इन्द्रियानुभूति की उपेक्षा करता है।

जिस प्रकार बुद्धिवाद में दोष है उसी प्रकार अनुभवादि में भी दोष हैं जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही सम्पूर्ण ज्ञान की जननी है उसी प्रकार अनुभवादि के अनुसार अनुभव ही ज्ञान का स्रोत है अर्थात् ज्ञान अनुभव जन्य है हमारा मन अथवा मस्तिष्क ही ज्ञान का भण्डार है। जन्म के समय हमारा मन

एक कोरे कागज के समान है[1] मन में जन्म के समय कुछ भी अंकित नहीं होता है, इत्यादि रूपों में हम अनुभववादि की व्याख्या कर आये हैं। जैसा कि ऊपर बतला चुके हैं, अनुभववादि के अनुसार ज्ञान की प्रणाली आगमन के अनुसार है।

परन्तु यह मत भी एकांगी मत है अनुभव शब्द अत्यन्त व्यापक है परन्तु साधारणत: अनुभव के अन्तर्गत हम इन्द्रियानुभव ही लेते हैं परन्तु अतीन्द्रियानुभव भी अनुभव ही है जिसे अनुभववादी दार्शनिक स्वीकार नहीं करते हैं। लॉक अनुभववादि के पिता माने जाते हैं उन्होंने बुद्धिवाद का घोर विरोध किया है उनका कहना हैं कि हमारे मन में किसी जन्म जात और प्रत्यय का अनुभव नहीं होता यदि जन्मजात प्रत्ययों का अनुभव होता तो निश्चित ही हमें इनका पता होता इत्यादि रूप से लॉक का कहना है कि संसार में इस समय भी कुछ ऐसी जातियां हैं जो ईश्वर का नाम तक नहीं जानती अतः जन्म जात प्रत्यय नाम की ही वस्तु कोई नहीं होती है, परन्तु आजकल के मनोविज्ञान के अनुसार लॉक की यह धारणा अनुचित है क्योंकि हमारे मन का अधिकांश भाग अवचेतन है। अचेतन भी है। हमारे मन में वहुत सी विचार धारायें हैं क्या उन सबका हमें प्रत्येक समय ज्ञान रहता है लॉक के शब्दों में उनकी चेतना जो विचार-धारायें हमारे मन के अवचेतना भाग में रहती है उनकी चेतना हमें नहीं होती अत: ज्ञान रहने का अभिप्राय उसकी चेतना रहना नहीं माना जा सकता अनुभववादि के अनुसार मन को निष्क्रिय माना जाता है परन्तु हम देखते हैं कि मन सदा सक्रिय रहता है। मन की गति कभी भी वन्द नहीं होती है। हम देखते है कि इन्द्रिय जन्य अनुभव तो सदैव क्षणिक होते हैं परन्तु ज्ञान सदैव सनातन है अतः क्षणिक से सनातन की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है हमें अनुभव तो केवल संवेदनाओं का होता है परन्तु केवल संवेदनाओं से ही ज्ञान का उपकरण प्राप्त होता है। उपकरण को ज्ञान मानना एक भूल है ज्ञान हमें सामान्य का होता है परन्तु अनुभव तो विशेष का होता

1. Tabula Rasa.

है अतः विशेष से सामान्य की स्थापना कैसे हम विशेष वर्ग के सभी व्यक्तियों का अनुभव नहीं कर सकते हैं। परन्तु हमें सामान्य ही सत्ता तो माननी ही पड़ती है। बर्कले ने हमें बताया कि अनुभव का अर्थ है—आस्तित्व का होना, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि हमारी जेब में सौ रुपये का अनुभव है, परत यह आवश्यक नहीं कि वास्तव में हमारी जेब में सौ रुपये हैं अतः अनुभव से ही ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं।

वास्तव में अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है अनुभवाद और बुद्धिवाद में समन्वय कान्ट ने भी किया है कान्ट ने दोनों सिद्धान्तों की आलोचना की है। यद्यपि कान्ट पहले बुद्धिवाद के समर्थक थे परन्तु उन्होंने बुद्धिवाद में अनेक दोष पाये। बुद्धिवादियों ने जैसा बताया है कि सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यय जन्य है परन्तु यह मत ठीक नहीं यदि सम्पूर्ण ज्ञान मन मैं प्रत्यय रूप मैं रहता है तो अन्धे और बहरे मनुष्य को भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता अतः कान्ट बुद्धिवाद का खण्डन करते हैं। बाद में ये अनुभवादि दार्शनिक बने परन्तु कुछ दिन ही बाद अनुभवाद में भी इनको अनेक दोष दिखायी देने लगे अनुभववाद सभी ज्ञान को अर्जित मानता है और अनुभव जन्य। यह सिद्धान्त भी एकाँगीं ही हैं। कान्ट की यह मीमांसा ज्ञान के स्वरूप से प्रारम्भ होती है। कान्ट का कथन है कि ज्ञान स्वरूप अर्थात् ज्ञान की इकाई प्रत्यय नहीं वरण निर्णय है। इसका तात्पर्य है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान निर्णय के रूप में ही रहता जब विभिन्न प्रत्यय निणय का रूप धारण कर लेते हैं तो वह ज्ञान कहे जाते हैं। अर्थात् ज्ञान की अभिव्यक्ति प्रत्ययों के निर्णय के रूप में होती है। परन्तु सभी निर्णय ज्ञान नहीं हो सकते हैं। यह निर्णय कान्ट के अनुसार दो प्रकार का होता है।[1] ? पहला नियोजक, के दूसरा संयोजत नियोजक वाक्य इस प्रकार के होते हैं कि इनमें विधेय पद केवल उद्देश्य पद के गुणों का विशलेपण करता है अर्थात् विधेय केवल उद्देश्य के गुणों का दर्शन करता है इससे कोई नया ज्ञान नहीं होता क्योंकि विधेय उद्देश्य की

1. Judgements

पुनरावृत्ति मात्र है उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि मनुष्य विवेकशील है इस वाक्य में मनुष्य पद उद्देश्य है तथा विवेकशील पद विधेय है विवेकशील पद केवल मनुष्य पद का विशलेषण मात्र करता है जो मनुष्य के बारे में जानता है वह उसकी विवेकशीलता के बारे में भी जानता है अत: विधेय पद विवेकशीलता कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं करता यह तो केवल उद्देश्य के अन्र्तनिहीत गुणों का प्रकाश मात्र है दूसरा उदाहरण इस प्रकार देखते हैं सभी मनुष्य पशु हैं इस उदाहरण में भी विधेय पद पशु अपने उद्देश्य पद मनुष्य का विश-लेषण मात्र है दोनों उदाहरणों हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वाक्यों से नवीनता का नितांत अभाव है। अत: यह नवीन ज्ञान नहीं है।

दूसरे प्रकार के वाक्य हैं संयोजक। इस प्रकार के वाक्यों से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है अथवा यह वाक्य हमें नवीन ज्ञान प्राप्त कराते हैं। जैसे पृथ्वी एक गृह है इस वाक्य में विधेय पद गृह केवल अपने उद्देश्य पद पृथ्वी का विश्लेषण मात्र नहीं करता अपितु यह एक नवीन ज्ञान है। यह आवश्यक नहीं कि जिसे पृथ्वी के बारे में ज्ञान हो जैसे मनुष्य मरणशील है यहां पर मरणशील पद मनुष्य पद का विश्लेषण मात्र नहीं अपितु नया ज्ञान है अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि संयोजक वाक्यों में विधेय पद अपने उद्देश्य पद की गुणवाचकता का अंश नहीं है इस प्रकार के संयोजक वाक्य हमें अनु-भव से प्राप्त होते हैं। परन्तु कान्ट सभी अनुभव द्वारा प्राप्त को ही ज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। अत: कान्ट को समीक्षावाद की पहली मान्यता है कि ज्ञान यथार्थ तभी हो सकता है जब उसके वाक्य अनुभव द्वारा प्राप्त हों। अर्थात संयोजक वाक्य एक प्रकार से समीक्षावाद के प्रथम सौपान है। यथार्थ ज्ञान की दूसरी मान्यता है कि इसे सार्वभोम तथा आवश्यक होना चाहिये। हम देखते हैं कि हमारे सभी अनुभव का जन्य ज्ञान यथार्थ नहीं होते हैं अर्थात् दूसरे

---

2. Analytic
3. Synthetic

रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि अनुभव जन्य ज्ञान सार्वभोम और अनिवार्य नहीं होने के कारण इसको यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ज्ञान में सार्वभोमता और अनिवार्यता बुद्धि द्वारा आती है। हम जानते हैं कि बुद्धिवाद के अनुसार सार्वभोम तथा अनिवाय ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, इस अर्थ में कान्ट बुद्धिवाद को स्वीकार करते हैं। समीक्षावाद की तीसरी मान्यता है ज्ञान का अनु-भव निरपेक्ष होना जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि सार्वभोम तथा अनिवार्य ज्ञान अनुभव जन्य नहीं होते अतः हमारा अनुभव से प्राप्त ज्ञान प्रमाणिक नहीं है। वह प्रमाणित तभी हो सकता है जब कि अनिवार्य तथा सार्वभोम हो। अत: हम निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि यथार्थ ज्ञान चार प्रकार से होता है।

(१) यथार्थ ज्ञान नवीन होता है। (२) यथार्थ ज्ञान सार्वभौम होता है। (३) यथार्थ ज्ञान अनिवार्य होता है। (४) यथार्थ ज्ञान अनुभव निर्पेक्ष होता है ज्ञान के इस स्वरूप के विषय में कान्ट का कहना है कि अनुभव निर्पेक्ष विभाजन वाक्य ही ज्ञान है इस वाक्य के के द्वारा कान्ट अनुभववाद और बुद्धिवाद इन दोनों वादों का समन्वय करने में सफल हो जाते हैं। ये दोनों मतों के गुणों को स्वीकार कर लेते हैं और दोनों को छोड़ देते हैं। इस प्रकार वह समीक्षावाद की स्थापना करते हैं। अत: इसके अनुसार बुद्धिवाद का यह कहना तो ठीक है कि ज्ञान सार्वभौम तथा अनिवार्य होना चाहिए परन्तु उनका कहना है कि ज्ञान के सभी प्रत्यय जन्य जात हैं, गलत है। उसी प्रकार अनुभववाद का मानना ठीक है कि ज्ञान के सभी निर्णय वियोजक होते हैं परन्तु उसका यह कहना गलत है कि अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान ही प्रमाणिक है। अत: कान्ट दोनों का समन्वय कर सकते हैं कि प्रमाणिक ज्ञान अनुभव निर्पेक्ष वियोजक वाक्य है बस कान्ट के अनुसार यही ज्ञान का स्वरूप है।

कान्ट के समक्ष एक समस्या और आखड़ी होती है कि यह अनुभव निर्पेक्ष संयोजक वाक्य किस प्रकार उत्पन्न होते हैं अर्थात्

---

1. Synthetic judgements A priori.

दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि ज्ञान की सृष्टि कैसे होती है। यह ज्ञान के दो भाग मानता है। प्रथम संवेदन शक्ति और दूसरा बुद्धि। संवेदन शक्ति से हमें केवल संवेदना प्राप्त होती है अर्थात् यूं कह सकते हैं कि संवेदन शक्ति ज्ञान का उपकरण है बुद्धि के द्वारा ज्ञान का स्वरूप निर्धारित होता है। ज्ञान को दोनों के योग का फल कहना चाहिए केवल संवेदन शक्ति और केवल बुद्धि हमें ज्ञान नहीं दे सकते हैं। यह पश्चिमीय परम्परा जो ज्ञान के सम्बन्ध में हैं संक्षेप से लिखी गई है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान की उपलब्धि कैसे होती है? इस विषय दर उस प्रकार विचार प्रायः नहीं किया गया है जिस प्रकार हम पाश्चात्य दर्शन में देख आये हैं। हां प्रमाण मीमाँसा अथवा ज्ञान के भेदों का जितना विचार भारतीय दर्शन में हुआ है पाश्चात्य दर्शन उससे अभी बहुत पीछे है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में यद्यपि विस्तारपूर्वक वस्तुओं का ज्ञान हमें कैसे होता है? इस पर कर्मवद्ध विचार नहीं किया गया है क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार जीवात्मा को नित्य माना है। पुर्नजन्म के संस्कार इस जन्म में हमारे साथ आये हैं अर्थात बुद्धि में या मन में पदार्थों के संस्कार बने रहते हैं इन्हीं संस्कारों को एक प्रकार से पश्चिमीय दर्शन में जन्मजात प्रत्यय माना है, जिसे हम बुद्धिवाद के नाम कह आये हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द पूर्ण रूप से केवल इस बुद्धिवाद को अंगीकार करते हैं। प्रतीत नहीं होते। जिसका वर्णन हम आगे इसी प्रकरण में करेंगे इससे पूर्व भारतीय दर्शनों में ज्ञान के सम्बन्ध में क्या मान्यता रही है, संक्षेप में देख लेना उचित होगा।

चार्वाक पुर्नजन्म को नहीं मानता अतः वह तो केवख ज्ञान सम्बन्ध में कहता है कि हमें इन्द्रियों द्वारा ही विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है। परन्तु भारतीय दर्शन में इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि इससे तो

हम पीछे अनुभववाद की समीक्षा में देख आये हैं क्योंकि इन्द्रियां से तो हम केवल संवेदनायें प्राप्त होती हैं, ज्ञान नहीं।

जैन दर्शन में चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। यह चार्वाक की तरह चैतन्य को आकस्मिक गुण नहीं मानता। जैन दर्शन में जीव या आत्मा की उपमा सूर्य के साथ दी गई है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा या चैतन्य अपने आपको तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है[1] इसलिए जैन दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य में मेघादि आवरण के कारण प्रकाश नहीं दे पाता, उसी प्रकार आत्मा भी बन्धन में पड़ जाने के कारण अनन्त ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता है। जैनों के अनुसार जब आत्मा बन्धन से रहित हो जाता है तब अनन्त ज्ञान का बोध करता है। परन्तु बाधाओं के कारण वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। भारतीय अन्य दार्शनिकों की तरह जैन भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं। पहला परोक्ष ज्ञान दूसरा अपरोक्ष ज्ञान किन्तु ये यह भी कहते हैं जो ज्ञान साधारणतया अपरोक्ष माना जाता है वह केवल वह केवल अपेक्षाकृत अपरोक्ष है। इन्द्रियों या मन के द्वारा जो बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का ज्ञान होता है। वह अनुमान की अपेक्षा अवश्य उपरोक्त होता है। परन्तु इनके अनुसार ऐसे ज्ञान की पूर्णतया अपरोक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि यह इन्द्रिय मन के द्वारा होता है। इस व्यवहारिक अपरोक्ष ज्ञान के दो अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान भी हो सकता है। इनकी प्राप्ति कर बन्धन के नष्ट होने पर होती है। उमास्वामी आदि जैन दार्शनिकों के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान उसी को कहते हैं। जो बिना किसी माध्यम से हो परन्तु हेमचन्द्र आदि अन्य जैन आचार्यों ने साधारण इन्द्रिय ज्ञान को भी अपरोक्ष माना है। यही मत अन्य भारतीय दार्शनिकों का भी है। जैन दार्शनिकों के अनुसार जो हमें भिन्न-भिन्न परोक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान है उससे यह स्पष्ट है कि वस्तुयें अनेक धर्म वाली होती।[2] इनके अनुसार किसी

१. ज्ञानं स्वपरभासी। अनन्त धर्मकं वस्तु।

दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि ज्ञान की सृष्टि कैसे होती है। यह ज्ञान के दो भाग मानता है। प्रथम संवेदन शक्ति और दूसरा बुद्धि। संवेदन शक्ति से हमें केवल संवेदना प्राप्त होती है अर्थात् यूं कह सकते हैं कि संवेदन शक्ति ज्ञान का उपकरण है बुद्धि के द्वारा ज्ञान का स्वरूप निर्धारित होता है। ज्ञान को दोनों के योग का फल कहना चाहिए केवल संवेदन शक्ति और केवल बुद्धि हमें ज्ञान नहीं दे सकते हैं। यह पश्चिमीय परम्परा जो ज्ञान के सम्बन्ध में हैं संक्षेप से लिखी गई है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान की उपलब्धि कैसे होती है? इस विषय दर उस प्रकार विचार प्रायः नहीं किया गया है जिस प्रकार हम पाश्चात्य दर्शन में देख आये हैं। हां प्रमाण मीमांसा अथवा ज्ञान के भेदों का जितना विचार भारतीय दर्शन में हुआ है पाश्चात्य दर्शन उससे अभी बहुत पीछे है। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में यद्यपि विस्तारपूर्वक वस्तुओं का ज्ञान हमें कैसे होता है? इस पर कमवद्ध विचार नहीं किया गया है क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार जीवात्मा को नित्य माना है। पुर्नजन्म के संस्कार इस जन्म में हमारे साथ आये हैं अर्थात बुद्धि में या मन में पदार्थों के संस्कार बने रहते हैं इन्हीं संस्कारों को एक प्रकार से पश्चिमीय दर्शन में जन्मजात प्रत्यय माना है, जिसे हम बुद्धिवाद के नाम कह आये हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द पूर्ण रूप से केवल इस बुद्धिवाद को अंगीकार करते हैं। प्रतीत नहीं होते। जिसका वर्णन हम आगे इसी प्रकरण में करेंगे इससे पूर्व भारतीय दर्शनों में ज्ञान के सम्बन्ध में क्या मान्यता रही है, संक्षेप में देख लेना उचित होगा।

चार्वाक पुर्नजन्म को नहीं मानता अतः वह तो केवल ज्ञान सम्बन्ध में कहता है कि हमें इन्द्रियों द्वारा ही विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है। परन्तु भारतीय दर्शन में इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि इससे तो अनुभववाद ही सिद्ध होगा, ऐसा मानने में वे सभी दोष आयेंगे जो

हम पीछे अनुभववाद की समीक्षा में देख आये हैं क्योंकि इन्द्रियां से तो हम केवल संवेदनायें प्राप्त होती हैं, ज्ञान नहीं।

जैन दर्शन में चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। यह चार्वाक की तरह चेतन्य को आकस्मिक गुण नहीं मानता। जैन दर्शन में जीव या आत्मा की उपमा सूर्य के साथ दी गई है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा या चैतन्य अपने आपको तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है[1] इसलिए जैन दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य में मेघादि आवरण के कारण प्रकाश नहीं दे पाता, उसी प्रकार आत्मा भी बन्धन में पड़ जाने के कारण अनन्त ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता है। जैनों के अनुसार जब आत्मा बन्धन से रहित हो जाता है तब अनन्त ज्ञान का बोध करता है। परन्तु बाधाओं के कारण वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। भारतीय अन्य दार्शनिकों की तरह जैन भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं। पहला परोक्ष ज्ञान दूसरा अपरोक्ष ज्ञान किन्तु ये यह भी कहते हैं जो ज्ञान साधारणतया अपरोक्ष माना जाता है वह केवल वह केवल अपेक्षाकृत अपरोक्ष है। इन्द्रियों या मन के द्वारा जो बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का ज्ञान होता है। वह अनुमान की अपेक्षा अवश्य उपरोक्त होता है। परन्तु इनके अनुसार ऐसे ज्ञान को पूर्णतया अपरोक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि यह इन्द्रिय मन के द्वारा होता है। इस व्यवहारिक अपरोक्ष ज्ञान के दो अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान भी हो सकता है। इनकी प्राप्ति कर बन्धन के नष्ट होने पर होती है। उमास्वामी आदि जैन दार्शनिकों के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान उसी को कहते हैं। जो बिना किसी माध्यम से हो परन्तु हेमचन्द्र आदि अन्य जैन आचार्यों ने साधारण इन्द्रिय ज्ञान को भी अपरोक्ष माना है। यही मत अन्य भारतीय दार्शनिकों का भी है। जैन दार्शनिकों के अनुसार जो हमें भिन्न-भिन्न परोक्ष अथवा अपरोक्ष ज्ञान है उससे यह स्पष्ट है कि वस्तुयें अनेक धर्म वाली होती।[2] इनके अनुसार किसी

१. ज्ञानं स्वपरभासी। अनन्त धर्मकं वस्तु।

एक परामर्श से वस्तु का हमें एक धर्म ही ज्ञात हो सकता है। अतः हमें अपने ज्ञान के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को इनके यहां नय कहते हैं यह नये सात प्रकार का होता है जो इस प्रकार है। स्यात् है जैसे शायद कुर्सी है। यहां स्यात् कुर्सी काल रंग आदि का ज्ञान होता है। क्योंकि जैसे हम कहें कि कुर्सी लाल है। इसका अभिप्राय: है कि कुर्सी इस काल की दृष्टि से और विशेष परिस्थिति में लाल है। दूसरा नय स्यात् नहीं है। कुर्सी के सम्बन्ध में हम स्यात् नहीं का, प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं कि शायद कुर्सी इस कमरे में नहीं है। इसका अभिप्राय: यह है कि कमरे में लाल कुर्सी नहीं है, दूसरी हो सकती है। इस प्रकार कुर्सी कभी लाल भी हो सकती है वैसे व्यक्त करने के लिए मिश्रित वाक्य की सहायता लेनी होगी। इसी प्रकार जैन की तीसरा नय है स्यात् है, और नहीं है। चौथा नय हैं। स्यात् अवक्तव्य इसी प्रकार शेष नयो का त्रैत वाद प्रकरण में लिखेंगे। इन सब का अभिप्राय: यह है कि जो हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है वह किन्हीं दृष्टियों से ठीक है और किन्हीं दृष्टियों से नहीं इसका अभिप्राय: यह हुआ कि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं संशयात्मक रहेगा। महर्षि दयानन्द के विचारानुसार यह इनका सात प्रकार का परामर्श ठीक नहीं क्योंकि इन्द्रियं और आत्मा के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान को ठीक मानते हैं। अर्थात् संशयात्मक नहीं होता।

बौद्ध दर्शन में पदार्थों के ज्ञान के सम्बन्ध में परस्पर आचार्यो में मत भेद है कुछ आचार्यो के अनुसार ज्ञान अनुभव द्वारा प्राप्त होता है विना अनुभव के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि इनका कहना है कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता है इनका कहना कि धूयें को देखकर हम अग्नि का अनुमान करते हैं किन्तु यह अनुमान करना तभी सम्भव हो सकता है जबकि धूयें और अग्नि को पाकशाला में हमने साथ-साथ देखा होता। यदि वाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष कभी न हुआ तो वस्तुओं की सिद्धि किसी प्रकार नहीं की जा सकती क्योंकि विना देखें उनका आस्तितत्व कैसे माना जायेगा। यह बौद्धों का वाह्य प्रत्यक्षवाद कहलाता है जो कि वह वैभाषिकों का मत है।

वाह्य प्रत्यक्षवाद के विपरीत दूसरा मत है कि वाह्य पदार्थ का असत् तो मानते हैं परन्तु उनका अस्तित्व चित में है। इनका कहना है कि वाह्य वस्तुओं के मानने पर अनेक दोष हैं यदि कोई बाह्य वस्तु है तो वह या तो एक अणुमात्र है या अनेक अणुओं से युक्त है किन्तु अणु तो इतना सूक्ष्म होता है। कि उसका प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है। एक से अधिक अणुओं से बनी किसी पूरी वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मान लीजिए हम एक घट को देखना चाहते हैं घट का वही भाग हमको दृष्टिगोचर होता है दूसरा नहीं इनके मत में दूसरी कठिनाई यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती। किन्तु यह भी कैसे सम्भव हो सकता हैं वस्तु तो क्षणिक है। इस प्रकार हमने देखा है कि योगाचार बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं मानते। परन्तु ये लोग चित और मन को मानते है अतः इनके मत में सभी वस्तुओं का अस्तित्व बुद्धि में है न कि बाहर। सब विषयों के स्वरूप में रहने वाली बुद्धि स्वयं ही प्रकाश की तरह अपने को प्रकाशित करने वाली है। बुद्धि के द्वारा अनुभव करने योग्य दूसरा कोई पदार्थ नहीं, बुद्धि स्वयं बुद्धिही ग्राह्य दूसरी चीज नहीं (बुद्धि किसी दूसरे पदार्थ को विषय नहीं बनाती क्योंकि उससे बढ़-कर कोई अनुभव हैं किसी ग्राह्य और ग्राहक के अभाव के कारण वह आप ही प्रकाशित होती है[1]। बौद्ध दर्शन में बाह्य पदार्थों को बाह्य अनुमेय भी माना जाता है। हमने यह बुद्धिवादी और अनुभव-वादी दोनों प्रकार के मतों को दिखलाया है। परन्तु दोनों मत अति मत हैं। क्योंकि पहला मत तो केवल बाह्य वस्तुओं की ही सत्ता है बुद्धियों में किसी भी प्रकार के प्रत्यय अथवा संस्कार को नहीं मानता। जो कि ठीक नहीं है दूसरा मत है कि जो पदार्थ बाहर दिखाते हैं वह सब बुद्धि में जो पदार्थ हैं उनकी प्रतिछाया मात्र है। जो बुद्धि के अन्दर पदार्थ है वही सत्य है। बाहर के सब पदार्थ मिथ्या है। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है हम बाहर वस्तुओं की

१. नान्तोऽनभाव्यों बुद्धयास्ति तस्या नानुभावो परः।
ग्राह्य ग्राहक वैधुमात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥इति॥ स०प्र० १२ समु०

प्रतीति करते हैं अथवा उनको देखते हैं फिर यह कैसे माना जा सकता है कि वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है क्योंकि महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि यदि बुद्धि में आकार वालों सभी पदार्थ है तो बुद्धि दिखने वाली होने चाहिए परन्तु ऐसा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है ।[1]

न्याय दर्शन में वस्तुओ की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं । जिस प्रकार एक दीपक का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने विषय को प्रकाशित करता है न्याय दर्शन ज्ञान के दो भेद करता है प्रभा तथा अप्रभा । इसके अनुसार यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं । यह प्रमा प्रत्यक्ष है अनुमान,उपमान, और शब्द चार प्रकार के होते है । अप्रमा, स्मृति, संशय आदि चार है । इन द्वारा जो ज्ञान होता है संश्यात्मक ही रहता है । न्यायदर्शनानुसार ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि ये तीनों एक अर्थ वाले हैं । अर्थात् ये पर्यायवाथी हैं । आत्मा, इन्द्रियों और विषय का जब संयोग होता है तब हमें विषय का ज्ञान हो जाता है यहां पर भी अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों ही परिलक्षित हो रहे हैं । क्योंकि यदि न्याय का यह अभिप्राय होता कि केवक इन्द्रिय और विषय के संयोग ज्ञान की उपलब्धि के लिये बुद्धि और इन्द्रय संवेदन दोनों को माना है ।

शंकर वस्तुओं के ज्ञान को मिथ्या मानता है, क्योंकि उसका कहना है कि संसार ही मिथ्या है तो उसका ज्ञान भी तो मिथ्या ही होगा । परन्तु महर्षि दयानन्द तो मानते हैं कि हमें वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो सकता है ।

---

१. भला जो बाहर दिखता है वह मिथ्या कैसे हो सकता है जो आकार से सहित बुद्धि होवे तो दृश्य होना चाहिए जो केवल ज्ञान ही दृश्य में आत्मश्य होवे तो बाह्य पदार्थों को केवल माना जावे ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान ही नहीं सकता ।

द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

अनादि सत्ता कितनी मानी जायें इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में प्रारम्भ से लेकर आज तक मतभेद रहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार ऋषि प्रणीत षड् दर्शनों से तो इस सम्बन्ध में मतभेद नहीं रहा है। परन्तु उनके भाष्यकारों और मध्यकालीन दार्शनिकों में यह विवाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया। पश्चिमीय दार्शनिकों में भी यह मतभेद न्यून नहीं है। भारत में तो यह विवाद इतना विस्तृत हुआ कि इन वादों के आधार पर अनेकों मतों की सृष्टि हो गई। एक गांव का रहने वाला भले ही उस वाद के गहन और सूक्ष्म तत्त्वों को न जान सके परन्तु वह झट कह देगा कि मैं अद्वैतवादी हूं या द्वैतवादी। अस्तु।

महर्षि दयानन्द त्रैतवाद को मान्यता देते हैं। उन के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकति ये तीनों पदार्थ नित्य है। प्रत्येक कार्य के लिय तीन प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह संसार एक कार्य है, घट की तरह। जैसे घट को बनाने के लिये कुम्भकार, मिट्टी और चक्र आदि की आवश्यकता है इसी प्रकार संसार की रचना में भी तीन वस्तुयें कारण हैं। ईश्वर जीव और प्रकृति। संसार के प्रत्येक पदार्थ में हमें तीन कारण स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे कुम्भकार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और चक्र आदि साधारण निमित्त कारण हैं इसी प्रकार जगत् की रचना में ईश्वर निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीव साधारण निमित्त कारण है। यदि इन में से किसी भी कारण की न्यूनता हो जाये तो विश्व की रचना सम्भव नहीं है। जैसे यदि कुम्भकार के

प्रतीति करते हैं अथवा उनको देखने हैं फिर यह कैसे माना जा सकता है कि वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है क्योंकि महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि यदि बुद्धि में आकार वालों सभी पदार्थ है तो बुद्धि दिखने वाली होने चाहिए परन्तु ऐसा प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।[1]

न्याय दर्शन में वस्तुओ की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं। जिस प्रकार एक दीपक का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने विषय को प्रकाशित करता है न्याय दर्शन ज्ञान के दो भेद करता है प्रभा तथा अप्रभा। इसके अनुसार यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। यह प्रमा प्रत्यक्ष है अनुमान, उपमान, और शब्द चार प्रकार के होते है। अप्रमा, स्मृति, संशय आदि चार है। इन द्वारा जो ज्ञान होता है संश्यात्मक ही रहता है। न्यायदर्शनानुसार ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि ये तीनों एक अर्थ वाले हैं। अर्थात् ये पर्यायिवाथी हैं। आत्मा, इन्द्रियों और विषय का जब संयोग होता है तब हमें विषय का ज्ञान हो जाता है यहां पर भी अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों ही परिलक्षित ही रहे हैं। क्योंकि यदि न्याय का यह अभिप्राय होता कि केवक इन्द्रिय और विषय के संयोग ज्ञान की उपलब्धि के लिये बुद्धि और इन्द्रय संवेदन दोनों को माना है।

शंकर वस्तुओं के ज्ञान की मिथ्या मानता है, क्योंकि उसका कहना है कि संसार ही मिथ्या है तो उसका ज्ञान भी तो मिथ्या ही होगा। परन्तु महर्षि दयानन्द तो मानते हैं कि हमें वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

---

१. भला जो बाहर दिखता है वह मिथ्या कैसे हो सकता है जो आकार से सहित बुद्धि होवे तो दृश्य होना चाहिए जो केवल ज्ञान ही दृश्य में आत्मश्य होवे तो बाह्य पदार्थों को केवल माना जावे ज्ञेय पदार्थ के विना ज्ञान ही नहीं सकता।

द्वितीय अध्याय

तत्त्व मीमांसा

अनादि सत्ता कितनी मानी जायें इस सम्बन्ध में दार्शनिकों में प्रारम्भ से लेकर आज तक मतभेद रहा है। महर्षि दयानन्द के अनुसार ऋषि प्रणीत षड् दर्शनों से तो इस सम्बन्ध में मतभेद नहीं रहा है। परन्तु उनके भाष्यकारों और मध्यकालीन दार्शनिकों में यह विवाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया। पश्चिमीय दार्शनिकों में भी यह मतभेद न्यून नहीं है। भारत में तो यह विवाद इतना विस्तृत हुआ कि इन वादों के आधार पर अनेकों मतों की सृष्टि हो गई। एक गांव का रहने वाला भले ही उस वाद के गहन और सूक्ष्म तत्त्वों को न जान सके परन्तु वह झट कह देगा कि मैं अद्वैतवादी हूं या द्वैतवादी। अस्तु। महर्षि दयानन्द त्रैतवाद को मान्यता देते हैं। उन के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों पदार्थ नित्य है। प्रत्येक कार्य के लिय तीन प्रकार के कारणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह संसार एक कार्य है, घट की तरह। जैसे घट को बनाने के लिये कुम्भकार, मिट्टी और चक्र आदि की आवश्यकता है इसी प्रकार संसार की रचना में भी तीन वस्तुयें कारण हैं। ईश्वर जीव और प्रकृति। संसार के प्रत्येक पदार्थ में हमें तीन कारण स्पष्ट दिखाई देते हैं। जैसे कुम्भकार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और चक्र आदि साधारण निमित्त कारण हैं इसी प्रकार जगत् की रचना में ईश्वर निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीव साधारण निमित्त कारण है। यदि इन में से किसी भी कारण की न्यूनता हो जाये तो विश्व की रचना सम्भव नहीं है। जैसे यदि कुम्भकार के

पास मिट्टी न हो तो वह घट का निर्माण नहीं कर सकता, चक्र गधा आदि न हो तो भी वह घट का निर्माण नहीं कर सकेगा। कुम्भकार भी न हो तो घट का निर्माण नहीं हो सकता है।

वेदों के अन्त: साक्ष्य से लेकर आचार्य शंकरादि ने वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक और ईश्वर प्रदत्त माना है। महर्षि दयानन्द ने, इस युग में आकर वेद के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणायें उत्पन्न हो गई थीं, उस भ्रान्त विचारधारा का खण्डन ऋग्वेदादि–भाष्य-भूमिका और सत्यार्थ–प्रकाश तथा वेदों का भाष्य रचकर किया है। वेदों के भाष्य की परम्परा में रावण से लेकर स्कन्द स्वामी उद्गीथ, वररुचि भट्ट भास्कर महीधर, उव्वट और सायण मध्यकालीन भाष्यकार और वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द, श्री अरविन्द, जयदेव विद्यालङ्कार, पण्डित धर्मदेव, स्वामी ब्रह्ममुनि प्रभृति विद्वान् हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों में प्रमुख रूप से आचार्य सायण का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सायण के वेद–भाष्य में प्राय: कर्मकाण्ड को ही अधिक महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार उन्होंने प्राय: सभी मन्त्रों की संगति यज्ञों के विनियोग तक ही सीमित–सी कर दी है, जिससे उसका भाष्य संकुचित होकर बौद्धिक नहीं रहा है। उसने स्वयं ही वेद का विषय कर्मों का व्याख्यान माना है।[1] पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों का नवीन विकासवादी दृष्टि से भाष्य किया है। इन का अभिप्राय वेदों में प्राचीन आर्यों के परिवार का या समाज का या प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृत्तान्त। है इन विद्वानों पर

---

१ "एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता······
कर्माणि वेदस्य विषय: । तदवबोध: प्रयोजनम्"
(काण्वसंहिता–सायण आचार्य कृत भाष्य उपक्रमणिका से)

सायण का प्रभाव है। यद्यपि इन विद्वानों ने परिश्रम किया है, स्वच्छन्द उड़ाने एवं कल्पना भी की हैं, परन्तु वेद में जो ज्ञान विज्ञान भरा है वहां तक ये लोग नहीं पहुँच सके हैं। कुछ पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को गडरियों का गीत भी कहा है, परन्तु इस का दोषी श्री अरविन्द जी ने आचार्य सायण को ठहराया है।[1] चाहे मध्यकालीन भाष्यकार हों अथवा योरोपीय उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वान् हों दोनों का ही वेदों के मन्त्रों का भ्रान्त अर्थ करने का एक प्रमुख कारण यह था कि–मन्त्रों या सूक्तों में आये देवता। ये भाष्यकार, देवता से अभिप्राय उस मन्त्र या सूक्त की प्रतिष्ठापित शक्ति से लेते थे। परन्तु महर्षि दयानन्द ने निरुक्त प्रक्रिया, जो आर्ष मानी जाती है, उस को माना और मन्त्रों के देवता का अर्थ किया—"मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय" अर्थात् निरुक्त में (Subjective Matter) स्पष्ट कहा है कि दैवत उसको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो संज्ञा जिस-जिस अर्थ की होती है, उन उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है।[2] जैसे ओं वाचं ते शुन्धामि–मन्त्र का देवता विद्वान्सः

---

१ वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय में जिनका दृष्टिकोण विल्कुल बच्चों जैसा था (वेद रहस्य भाग–१ (पृष्ठ–३१ श्री अरविन्द, अनुवादक अभय, १९४८)

२ यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यन्।
इच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद् देवतः स मन्त्रो भवति (निरुक्त अ० ७-१)
(ऋग्वेदादि, भाष्य, भूमिका, वेद, विषय–विचार)

है। इस का अर्थ यह हुआ कि इस मन्त्र में विद्या से सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन होना चाहिये जैसा कि महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के इस ६ अध्याय के १४ वें मन्त्र का अर्थ उक्त अभिप्राय से किया है। परन्तु उव्वट ने देवता शब्द का समुचित अर्थ नहीं लिया, इसलिए अजा के बच्चे मेमने की यज्ञ में आहुति करते समय इस मन्त्र को बोल कर उसके अंगों के प्रक्षालन के लिये विनियोग रूप में माना है। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में भाष्यकरणसमाधानादिविषय नामक अध्याय में महर्षि दयानन्द ने महीधर सायण उव्वट प्रभृति विद्वानों के कुछ मन्त्रों को भाष्य की तुलना में रखकर यह सिद्ध कर दिया कि इन्होंने वेद मन्त्रों के भ्रान्त अर्थ कर संसार में संकुचित विचारधारा का प्रसार किया। इसलिये ही श्रीअरविन्द ने महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली को वैज्ञानिक एवं सत्य का उद्घाटन करने वाली शैली माना है। उनकी भाष्य शैली के विषय में श्री योगी अरविन्द के उद्गार "ऋषि दयानन्द की इस धारणा में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों सत्य पाये जाते हैं, कोई कल्पित बात नहीं मैं इस के साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूं कि वेदों में एक दूसरे विज्ञान की सचाइयां भी विद्यमान हैं—दयानन्द का प्रवल प्रमाणों के आधार पर विश्वास था कि वेद में परमेश्वर, प्राकृतिक नियमक, आत्मा और प्रकृति……पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में यह उस की ऋषि दृष्टि थी, जिसको बन्द करके रखा था। उसकी चावियों को उसी ने पा लिया और बन्द पड़े हुये स्रोत की मुहरों को उसी ने तोड़ कर परे फेंक दिया।1"

---

1 "There is nothing fastastic in Dayananda's idea that veda contains truth of science as well as truth of religion. I will

वेदों में यथार्थवाद (त्रैतवाद)—

महर्षि दयानन्द ने वेदों में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति तथा सभी आध्यात्मिक सामग्री के साथ वेदों में गणित विद्या आदि विज्ञान सम्बन्धी विद्याओं का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि उनके इस प्रयास पर अनुसन्धान करके कोई आविष्कार वैदिक विद्वानों ने अभी तक नहीं किया है, परन्तु जिस समय विमान विद्या का आविष्कार नहीं हुआ था, उससे लगभग ३० वर्ष पूर्व ऋग्वेदिभाष्य भूमिका में वेद मन्त्रों के अर्थ निकाल ऐसे विमानों का वर्णन उन्होंने किया, जिनकी कल्पना भी यूरोप जगत् में नहीं थी।[1] श्री अरविन्द तो उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि "मैं तो यहां तक कहूंगा कि वेदों में कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी हैं जिन्हें आधुनिक

---

even add my own conviction tnat ved contains other truths of science the modern world......... It is Dayananda held on strong enough grounds, the vedas reveals to us God...... & Soul.........God and nature......... I coavinced that what ever may be the final complete......... Dayanand will......... the firts discover of the right clue. A mids..... ...., misunderstanding his was the eye of direct vision........... ......truth and fastened.............. He has found the Keye of the doors that time has closed and as under seals of the in presoned of untains."

(Sri Aurbindo, Bankim, Tilak Dayanand P.57 3rd. Ed.)

---

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नौविमानादि अध्याय में ऐसे विमानों का वर्णन हुआ है। एक विमान पृथ्वी, जल और आकाश तीनों में चल सकता है।

विज्ञान जानता तक भी नहीं ।1 महर्षि दयानन्द के इस सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम यह निकला कि वेद जो अभी तक सायणादि विद्वानों तक कर्मकाण्ड की पुस्तक थी और पाश्चात्य विद्वान् जिसमें केवल प्रकृति की शक्तियों की पूजा मानते थे, अब अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है । जिसमें एक वैज्ञानिक धर्म का प्रतिपादन और अन्य विद्याओं के मूल (बीज) भी प्राप्त हो जाते हैं ।

इन उक्त हेतुओं से यह समझने में सहायता मिलती है कि कुछ विद्वान् जो यह मानते हैं कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है, उनकी यह मिथ्या कल्पना है । जिस आध्यात्मिक विद्या का वर्णन उपनिषदों में हुआ है, उसका स्रोत वेद है । अर्थात् वेदों के विरुद्ध उपनिषदों में कुछ भी नहीं कहा गया है ।

महर्षि दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं । जिसको कि हम त्रैतवाद नाम दे सकते है । इस त्रैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को यथार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है, जिस प्रकार उपनिषदों में केवल एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, इसी प्रकार वेद भी एक ईश्वर की उपासना मानता है । ईश्वर को अनेक नामों से कहा गया है, उसके असंख्य नाम हो सकते हैं । वे अनेक नाम बहु देवतावाद के द्योतक नहीं हैं, अपितु एक ही ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के नाम हैं । जैसा कि यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में श्वेताश्वेतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि वह ब्रह्म अनेक नामों से कहा गया है, उसी को अग्नि, उसी को

द्रष्टव्य–पृष्ठ(२१७ से २२७ तक विविध विमानों का वर्णन उन्होंने सन् १८६८ ई० में किया है, जबकि पहिला बैलून १९०२ में उड़ा था लोक–लोकान्तर में जाने की तो समस्त पश्चिमी जगत् में कल्पना भी नहीं थी)।

आदित्य, उसी को वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप आदि नामों से कहा जाता है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रतिपादन किया गया है कि ये इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा आदि नाम उसी ईश्वर के हैं। अर्थात् वह एक है, विद्वान् लोग उसको अनेक नामों से कहते हैं।[2]

उसी परमात्मा को जानो जिसमें सभी देव समाये हुये हैं अर्थात् जो सब में व्यापक है, यह ऋग्वेद और श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट उपलब्ध होता गया है।[3] उपनिषदें वेदों को प्रमाण मान कर चलती हैं, न कि वेदों का खण्डन करती हैं। उस अक्षर पर-ब्रह्म का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् ने स्वीकार किया है कि जिस ब्रह्म को प्राप्त करने का सभी वेद उपदेश देते हैं, उस ब्रह्म को जानो। ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं।[5] मुण्डकोपनिषद् में तो कहा है कि उस परमात्मा का

---

१ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा आपः स प्रजापति (यजु० ३२०१) (श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४.२)

२ इदं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथोदिव्य ? स सुपर्णो गरूत्मान् ।
एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्तिअग्नि यमं मातारिश्वानमाहुः ॥

३ ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि (ऋ१.१६४.४६)
विश्वेनिषेदुः । यस्तन्नवेदकिमृचाकरिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते (ऋग्वेद १.६४.३९ श्वेताश्वे०-४-८)
तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
(बृहदारण्यको० ४-४-२२)

४ सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति (कठोपनिषद् २.१५)

५ तथा तमेतं वेदानुवचनेनं ब्रह्मणा विविदिषन्ति (बृहदा० ४.४.२२)

अग्नि मुख है, चन्द्रमा और सूर्य चक्षु हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, तथा ऋग्वेदादि वेद उसकी खुली हुई वाणी हैं।[1] ये ऋग्वेद साम और यजु: उसी परमात्मा के द्वारा प्रकाशित ज्ञान हैं? अत: इन मुख्योपनिषदों की अन्त: साक्ष्य के अनुसार वेदों की उपनिषदें प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय और ईशोपनिषद् में तो कुछेक मन्त्रों को छोड़कर कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है। अन्यत्र वेदों के मन्त्रों को ज्यों का त्यों उपनिषदों में ग्रहण किया गया है। ये उपनिषदें रसों के भी रस हैं। वेद रस हैं और उपनिषदें उनके रस हैं! ये उपनिषदें अमृतों के भी रस हैं, वेद अमृत हैं, ये उनकी अमृत हैं।[3] तप, दम और कर्म ये उपनिषदों के आधार हैं और वेद ही उपनिषदों का सब शरीर है।[4] कुछ प्रमाण तो हम पीछे दे चुके हैं और शेष प्रसंगानुसार दिये जायेंगे। जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि यथार्थवाद से हमारा अभिप्राय ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति एवं प्रकृति से निर्मित पदार्थों से है। जब यह सिद्ध हो गया कि उपनिषदें वेदों के विरुद्ध नहीं, अपितु वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। अब यह अवलोकन एव सिद्ध करने का प्रयास

---

१ अग्निमूर्धा चक्षुषीचन्द्रसूर्योदिश श्रोत्रेवाग् विवृताश्चं वेदा:।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतातंरात्मा।।
(मुण्ड० २.१.४)

२ तस्मादृच: साम यूजषि दीक्षा: (मुण्डको० ४.१.६)

३ ते वा एते रसानां वेदाहिरसास्तेषामेतेरसा:।
तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि,वेदाह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।
(छान्दोग्य ३.५.४.)

४ तस्ये तपोदम: कर्मति प्रतिष्ठ:वेदा,
सर्वांगानि सत्यमायतनम्।। (केन० ४.७.८)

किया जाय कि इन तीनों तत्त्वों में दोनों अर्थात् उपनिषदें और वेद जैसे एकमत अथवा साम्य रखते हैं।

वेद में एक ईश्वर :—

उपनिषदों में जो सिद्धान्त प्रचलित है वह यह कि उपनिषदों का ब्रह्म एक है। आचार्य शङ्कर के सिद्धान्तानुसार तो ब्रह्म ही एक मात्र सत् है शेष मायोपहित चैतन्य हैं। ब्रह्म ही संसार का अभिन्न-निमित्तोपादन कारण है। परन्तु यदि उपनिषदो का आधार वेद माना जाय तो परस्पर संगति से ऐसा अर्थात् आचार्य शङ्कर का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि वेदों में अनेक मन्त्र एक ब्रह्म का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु साथ ही आत्मा अर्थात् जीवात्मा और संसार के पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेद मन्त्रों को लेकर उसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जैसा कि वेद ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि वेद एक सागर है जिसमें सभी प्रकार की विद्याओं का वर्णन बीज रूप में हुआ है। उपनिषदें वेद के केवल एक अंग अर्थात् ज्ञानकाण्ड की अनुभूति परक व्याख्यायें प्रस्तुत करती हैं। उपनिषदों के उन वचनों का अभिप्राय तो हम आगे अध्यायों में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे, यहां केवल वेद और उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी मन्त्रों का साम्य दिखाना ही उचित है।

जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म माना है इसी प्रकार वेदों में भी एक ईश्वर का वर्णन आया है।

१ सृष्टि में जो कुछ भी जड़ चेतन संसार है वह समस्त परमेश्वर से व्याप्त है।

---

१ ईश्वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् (यजु० ४०-१ ईशो०१)

१ जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों ने अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

२ जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

३ विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

४ हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते हैं।

५ उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

---

१ पतिर्वबभूथासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ.६.३६.४.)

२ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्व१०.८.३७)

३ यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्मंतं वृहि कतमः स्विदेव स। (अथर्व० १०.७.१०)

४ ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखप्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे॥
(ऋ० ६–४५–७)

रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो देवो अग्रे तद ब्रुवन।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यानस्य देवा अमन्वंशे (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)
तमीशानं न गस्तस्थुणस्पतिं (ऋ०अ०–१.अ०७६ व० १५ मं० ५)

५ तदेवाग्निस्तदादित्य............यजु० ३१.१)

१ हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर। आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिये गांवों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

२ उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।3

---

२ न त्वां वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तोमघवान्निद्र वाजिनो गव्यन्तस्तवा हवामहे।
(सामवेद उ० १.४ ११)

३ स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयार्था तथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु० एवं ईशो ४०।

3 "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the the Vendanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the assouation of tbe sacrificial mind."
(S.N.Dass Gupta A History of Indian philosophy Vol. IP. 20 Printed 1922)

१ जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुप, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों ने अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

२ जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

३ विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

४ हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते हैं।

५ उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

---

१ पतिर्वबभूथासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ.६.३६.४.)

२ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्व१०.८.३७)

३ यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्मंतं बृहि कतमः स्विदेव स। (अथर्व० १०.७.१०)

४ ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखष्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे ॥
(ऋ० ६–४५–७)

रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो देवो अग्रे तद ब्रुवन।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यातस्य देवा अमन्वंशे (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)
तमीशानं न गस्तस्थुणस्पनिं (ऋ०अ०–१.अ०७६ व० १५ मं० ५)

५ तदेवाग्निस्तदादित्य············यजु० ३१.१)

१ हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर। आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिये गांवों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

२ उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।3

---

२ न त्वां वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तोमघवान्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्तवा हवामहे।
(सामवेद उ० १.४.११)

३ स पर्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयार्थी तथ्यतोऽर्थान्व्यद्धात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु० एवं ईशो ४०।

3 "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the the Vendanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the assouation of tbe sacrificial mind."
(S.N.Dass Gupta A History of Indian philosophy Vol. IP. 20 Printed 1922)

१ जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों ने अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

२ जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

३ विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

४ हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते हैं।

५ उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

---

१ पतिर्बभूथासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा। (ऋ.६.३६.४.)

२ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्व१०.८.३७)

३ यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भंतं बृहि कतमः स्विदेव स। (अथर्व० १०.७.१०)

४ ब्रह्मार्णं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखष्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे॥ (ऋ० ६–४५–७)

रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो देवो अग्रे तद ब्रुवन।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यातस्य देवा अमन्वंशे (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)
तमीशानं न गस्तस्थुणस्पतिं (ऋ०अ०–१.अ०७६ व० १५ मं० ५)

५ तदेवाग्निस्तदादित्य············यजु० ३१.१)

१ हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर। आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिये गांवों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

२ उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।3

---

२ न त्वां वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। अश्वायन्तोमघवान्निद्र वाजिनौ गव्यन्तस्त्वा हवामहे।

(सामवेद उ० १.४'११)

३ स पर्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयार्थ्या तथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

(यजु० एवं ईशो ४०।

3 "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the the Vendanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the assouation of tbe sacrificial mind."

(S.N.Dass Gupta A History of Indian philosophy Vol. IP. 20 Printed 1922)

१ जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का एक पति परमेश्वर है। इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों ने अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

२ जहां ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

३ विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।

४ हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते हैं।

५ उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।

---

१ पतिर्बभूथासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।
(ऋ.६.३६.४.)

२ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत् (अथर्व१०.८.३७)

३ यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्मंतं बृहि कतमः स्विदेव स। (अथर्व० १०.७.१०)

४ ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखप्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे ॥
(ऋ० ६–४५–७)

रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो देवो अग्रे तद ब्रुवन।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यातस्य देवा अमन्वंशे (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७)
तमीशानं न गस्तस्थुणस्पतिं (ऋ०अ०–१.अ०७६ व० १५ मं० ५.)

५ तदेवाग्निस्तदादित्य............यजु० ३१.१)

१ हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर। आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिये गांवों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।

२ उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमीय मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।3

---

२ न त्वां वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तामघवान्निन्द्र वाजिनौ गव्यन्तस्तवा हवामहे।
(सामवेद उ० १.४.११)

३ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्ध मपापविद्धं कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूयार्था तथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
(यजु० एवं ईशो ४०।

3 "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the the Vendanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the assouation of tbe sacrificial mind."
(S.N.Dass Gupta A History of Indian philosophy Vol. IP. 20 Printed 1922)

कुछ विद्वान् इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम में आते २ एकेश्वरवाद की भावना कुछ पनप गई थी। परन्तु महर्षि दयानन्द तो इस विचारधारा के एकदम विपरीत उद्घोषणा करते है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त करने में है।[2] उनकी अपनी मान्यता है कि सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात् रूप के कहीं परम्परा से है।[3] महर्षि दयानन्द अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए कठोपनिषद् का प्रमाण देते हैं। समस्त वेद जिसके गीत गाते हैं वह ओ३म् है।[4] इतना ही नहीं अपितु वेदान्त दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।[5] वास्तव में वेदों में जिस ब्रह्म का वर्णन हुआ है, वह ऐसा नहीं है कि उससे अधिक शक्तिशाली और कोई देव हो अपितु वह देवों का देव है और सर्वशक्तिमान है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तिर्यामी आदि विशेषताओं से युक्त है। एकेश्वरवाद का वेदों में जितना स्पष्ट और सुन्दर वर्णन हुआ है सम्भवतः अन्यत्र कहीं हुआ हो फिर भी पश्चिमी विद्वानों ने यह तर्क कैसे दिया कि एकेश्वरवाद की मान्यता आर्यों में द्रविड़ लोगों से आयी है। बिना किसी ठोस प्रमाण से कहना केवल मिथ्या कल्पना मात्र है। अतः महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदों में बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनों में से एक भी नहीं है। मैक्समूलर की इस विचारधारा का खण्डन भी स्वयं

---

१ एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्यार्थे मुख्य तात्पर्यमस्ति।

२ तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेद वाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति।
(ऋग्वेदादिभाष्य० वे० वि०वि० पृष्ठ ५०)

३ क्वचित् साक्षात् क्वचितपरम्परयाच। (ऋग्वेदादि० पृष्ठ ४९, सम्वत् २००८)। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। (वही पृष्ठ)

४ सर्ववेदायत्पदमामनन्ति (कठो० १.२.१५) तत्तु समन्वयात्
(वे० १.१.४)

ठोस प्रमाणों से हो जाता है कि कैथेथियिज्म एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं की पूजा।1 इस सम्बन्ध में महर्षि की धारणा है कि इस सम्बन्ध में देवता शब्द के अर्थ का अनर्थ किया है। यहां पर देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं करना चाहिए।2 निरुक्तकार देव शब्द की व्युत्पत्ति करता है कि "देवोदानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानोभव तीति वा अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश वा पालनादि करने (माता-पिता) देव है, द्युस्थान का भी जो प्रकाशक है वह देव है। अतः स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वेदों में एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है।

वेदों की तरह उपनिषदों में भी ईश्वर के अनेक नाम आये हैं। जैसे महर्षि दयानन्द ने ईश्वर का मुख्यनाम ओ३म् बतलाया है, उपनिषदों में भी ओ३म् शब्द ईश्वर के मुख्य नाम के रूप में अनेकों स्थलों

---

1 "It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoing to have a name different from plytheism, to signify this worship of single God, each accupying for a time aspreme position and proposed for it the name of Kathenotheism that is worship of an God after another or of Henotheism, the worship of single God"
(F Max Muller "India wbat can it teach us P. 146-14. 1892)

२ यह उन वेदज्ञों की भारी भूल है जो देवता शब्द से ग्रहण करते हैं। (सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ—१७५)

पर आया है। इसी प्रकार ब्रह्म शब्द, मायाविन् आदि नाम से एक ही ईश्वर के आये है। इन नामों की विशेष व्याख्या तो और ईश्वर के स्वरूप आदि की विवेचना तो आगे की जायेगी यहां केवल उप-निषदों में आये ईश्वर वाचक शब्द दिये जा रहे हैं ताकि वेद और उपनिषदों के ईश्वर का साम्य देखा जा सके। उपनिषदों के ये नाम वेदानुसार हैं और प्रायः उसी प्रकार हैं जैसे वेदो में। वेदों में हमने देखा कि बहुदेवतावाद का खण्डन कर एक ईश्वर की स्थापना की गई है। वेदों की भांति उपनिषदों में यही कहा है कि वह परम ब्रह्म बहुत नामों से कहा जाता है। जैसे श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, वायु, चन्द्रमा, अग्नि आदि भी विभिन्न ईश्वर के ही नाम हैं।[1] यह ओ३म् ही अविनाशी ब्रह्म है। यही सबका आलम्बन है।[2] इस ओंकार का तप करने से ही, ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।[3] यह ओ३म् अक्षर ही सब कुछ है। यह सम्पूर्ण जगत का उपाख्यान है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान में ओंकार ही है।[4] प्रश्नोपनिषद में भी कहा है कि हे सत्यकाम निश्चित है कि यह ओंकार ही ब्रह्म है इसी को अपर पर भी कहते हैं।[5] फिर आगे कहा कि यह ओ३म् ही है।[6] जिसे तप और ब्रह्मचर्य से जाना

---

१ तदेवाग्निस्तदादित्य...... (श्वेता० ४.२)

२ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् (कठो० ११२, १६, १७)

३ स भूयं एन्घ नयौ निगृह्यतद्वदोभयं वे प्रणवेन देहे। (श्वेता० ११३)

४ य आमित्येतदक्षरमिदं सर्व······सर्वमोङ्कार एव। (माण्डूक्य१)

५ एतद्वैसत्याम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार। (प्रश्नो० ५।२)

६ ओमिति ब्रह्म············। (तैत्तिरीय० १।८)

जाना जाता है वह ओ३म् ही है।1 वह बिना पैर के चलता है बिना आंखो के देखता है।2 ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं से अति सूक्ष्म है तथा सर्वत्र आकाश के समान व्यापक है। उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा है। और जीवात्मा को भोक्ता माना गया। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट उद्घोषणा की है कि दो सुन्दर परों वाले पक्षी एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर विराजमान हैं। एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन लेता है दूसरा साक्षी के रूप में अवलोकन कर रहा है।3 इस पर दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है– इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्ष रूप संसार में पाप और पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।4 इससे अगले मुण्डकोपनिषद के ही वचन में स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार की मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है। जो वीतराग योगी अपने आत्मा

---

१ तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। (कठो० १।२।२५)

२ अपाणिपादो जवनो गृहीत परत्य।
तमाहुरग्रयं पुरुषं महन्तम्॥ (श्वेता० ३।१९)

३ द्वा सुपर्णा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्व द्वत्यनश्नन्नंन्योऽभिचाकशीति

(मु० उ० ३४।१।१)

नोट—ईश्वर के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण उपनिषदों में आये हैं। यहां तो केवल वेद की तुलना के लिए अल्प ही प्रमाण दिए हैं।

को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है तब वह जीवात्मा उस की अनन्त महिमा और दिव्य सृष्टि का दर्शन करता है जो शोक से रहित हो जाता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषदों में भोक्ता जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इस पर शासन करने वाला ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। ब्रह्म, सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान सृष्टि रचियता, पालन कर्मा व संहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला अणु तथा परिछिन्न है। कर्म में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। प्रकृति अचेतन परिणामी एवं जगत् का उत्पादान कारण है।[2] जो श्रुतियां उपनिषों में द्वैतवाद का प्रबल समर्थन करती है, उनको अद्वैतवादी यह कहते हैं कि ये व्यवहार काल की श्रुतियां हैं। उपनिषदों में इस बात का लेश मात्र भी अंश नहीं मिलता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन नहीं है ? यदि सृष्टि का वर्णन है तो मिथ्या क्यों कहा जाये ? पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने का आधार क्या है? आचार्य शंकरब्रह्म को समझाने के लिए इस संसार का आश्रय लेते हैं फिर संसार मिथ्या और ब्रह्म पारमार्थिक वह कैसे हुआ अर्थात् मिथ्या पारमार्थिक सत्ता सिद्ध कैसे की जा सकती है ? वास्तव में व्यवहारिक स्तर में जो अद्वैतवादी भेद मानते

---

१ समाने वृक्षे पुरुषौनिमग्नौ नीशयाशोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
(मु० उ० ३।१।२)

२ आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री
(इन लन्डों पर स्वामी ब्रह्ममुनि, आर्य मुनि, शंकरदेव काव्य-तीर्थ संस्कृत साहित्य विमर्श पृष्ठ १५ आदि का भाव द्रष्टव्य हैं।)

हैं, उससे महर्षि दयानन्द की त्रैतवादी या यथार्थवादी विचारधारा को ही बल मिलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा गया है कि जिससे समस्त महाभूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं। प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था) चले जाते हैं।1 इसी कारण महर्षि दयानन्द ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा कि पहिले सब असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति थी, उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ, वह अव्यक्त से व्यक्त ब्रह्म ने ही किया है।2 अभी हम पीछे यथार्थवादी उपनिषदों के प्रमाण पीछे देकर स्पष्ट कर आये हैं। यह व्यावहारिक स्तर है ऐसी अद्वैतवादियों की कल्पना प्रतीत होती है। इसमें उनके कोई ठोस प्रमाण प्रतीत नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में तो मैक्समूलर की भी धारणा है कि उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है, उसे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को कहीं भी स्थान नहीं है।3 वास्तव में उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन जिस रूप में किया है वह विशुद्ध यथार्थवादी है। स्वामी दयानन्द का

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति.........(तै०उ० भृगुवल्ली अनु० १)

२ असद्वा इमदग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तथान्मानंस्वयमुकुरुत
(तै०अ० ब्रह्मानन्द व० अनु० ७ मं० १)

3 This idea that the world is only Maya and Dillustion, a vision a nothing was that colebrooke meant when he said it was absent from the Upnishdas and the orignal Vedanta Philosophy and so far he is right.
The Vedanta Philosophy P.70 Mexmuller.)

को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है तब वह जीवात्मा उस की अनन्त महिमा और दिव्य सृष्टि का दर्शन करता है जो शोक से रहित हो जाता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषदों में भोक्ता जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इस पर शासन करने वाला ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। ब्रह्म, सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान सृष्टि रचियता, पालन कर्मो व संहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला अणु तथा परिछिन्न है। कर्म में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। प्रकृति अचेतन परिणामी एवं जगत् का उत्पादान कारण है।[2] जो श्रुतियां उपनिषों में द्वैतवाद का प्रबल समर्थन करती है, उनको अद्वैतवादी यह कहते हैं कि ये व्यवहार काल की श्रुतियां हैं। उपनिषदों में इस बात का लेश मात्र भी अंश नहीं मिलता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन नहीं है ? यदि सृष्टि का वर्णन है तो मिथ्या क्यों कहा जाये ? पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने का आधार क्या है? आचार्य शंकरब्रह्म को समझाने के लिए इस संसार का आश्रय लेते हैं फिर संसार मिथ्या और ब्रह्म पारमार्थिक वह कैसे हुआ अर्क्षात् मिथ्या पारमार्थिक सत्ता सिद्ध कैसे की जा सकती है ? वास्तव में व्यवहारिक स्तर में जो अद्वैतवादी भेद मानते

---

१ समाने वृक्षे पुरुषौनिमग्नौ नीशयाशोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
(मु० उ० ३।१।२)

२ आचार्य द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री
(इन लन्डों पर स्वामी ब्रह्ममुनि, आर्य मुनि, शंकरदेव काव्य-तीर्थ संस्कृत साहित्य विमर्श पृष्ठ १५ आदि का भाव द्रष्टव्य हैं।)

हैं, उससे महर्षि दयानन्द की त्रैतवादी या यथार्थवादी विचारधारा को ही बल मिलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा गया है कि जिससे समस्त महाभूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं। प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था) चले जाते हैं।1 इसी कारण महर्षि दयानन्द ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा कि पहिले सब असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति थी, उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ, वह अव्यक्त से व्यक्त ब्रह्म ने ही किया है।2 अभी हम पीछे यथार्थवादी उपनिषदों के प्रमाण पीछे देकर स्पष्ट कर आये हैं। यह व्यावहारिक स्तर है ऐसी अद्वैतवादियों की कल्पना प्रतीत होती है। इसमें उनके कोई ठोस प्रमाण प्रतीत नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में तो मैक्समूलर की भी धारणा है कि उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है, उसे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को कहीं भी स्थान नहीं है।3 वास्तव में उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन जिस रूप में किया है वह विशुद्ध यथार्थवादी है। स्वामी दयानन्द का

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति.........(तै०उ० भृगुवल्ली अनु० १)

२ असद्वा इमदग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तथान्मानंस्वयमुकुरुत
(तै०अ० ब्रह्मानन्द व० अनु० ७ मं० १)

3 This idea that the world is only Maya and Dillusion, a vision a nothing was that colebrooke meant when he said it was absent from the Upnishdas and the orignal Vedanta Philosophy and so far he is right.
The Vedanta Philosophy P.70 Mexmuller.)

कथन है कि उपनिषदों में आचार्य शंकर के मायावाद का वर्णन कहीं भी जान नहीं पड़ता है। यह तो है कि माया शब्द उपनिषदों में आया है, परन्तु यहां माया आचार्य शंकर की माया नहीं है, अपितु माया का अर्थ प्रकृति है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है माया को प्रकृति जानो।[1] सांख्य दर्शन की प्रकृति और उपनिषदों की माया एक ही प्रतीत होती है। क्योंकि स्थान-स्थान पर उपनिषदों में सृष्टि रचना का जो वर्णन हुआ है, उसमें विवर्तवाद का कहीं उल्लेख नहीं जान पड़ता, अपितु परिणामवाद ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए ही सांख्य दर्शन अपने प्रकृति के परिणामवाद को श्रुति सम्मत बतलाता है।[2] उपनिषदों में जीव और प्रकृति को भ्रम कहीं नहीं कहा गया जैसा कि अद्वैतवादी रज्जु में सर्प का भ्रम बतलाते हैं, हां इतना अवश्य कहा गया है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है अर्थात् जीव और प्रकृति इन नित्य तत्त्वों का स्वामी अनादि ब्रह्म है।[3]

डा० राधाकृष्णन का मत है कि उपनिषदों की यथार्थवादी विचारधारा से आगे चलकर सांख्यशास्त्र में भी बल मिला है।[1]

---

१ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (श्वेताश्वेततो ४।१०)

२ श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य। (सांख्य० सू० ५।२)

३ नित्यो नित्यानां चैतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्। (श्वेताश्वतरो० ६।३)

4 " The realistic tendencies of the Upnishadas receiveemphassis in the sankhya conception of the Universe "
(Indian Philosophy Vol. P. 2502.
Dr. RadhaKrishnan)

अत: इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

सृष्टि का निर्माण होने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति किस अवस्था में थी, उसका क्या रूप था। सृष्टि निर्माण किसने किया इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गम्भीरता से दिया गया। ऋग्वेद में नासदीय सूक्त में इस दार्शनिक समस्या का समाधान बड़ी ही तात्त्विक दृष्टि से किया गया है। पश्चिमी विद्वान् मोक्षमूलर जो वेदों को ऋषियों द्वारा विरचित स्वीकार करते हैं, उस नासदीय सूक्त के विषय में उनका भी कहना है कि इस सूक्त को परमात्मा ने ऋषियों पर अवतरित किया है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का विवेचन करना यहां पर उचित जान पड़ता है।

१—उस समय अर्थात् प्रलयकाल में न असत् था और न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था। उस समय कहां क्या आच्छादित था? किसके आश्रय से था और क्या बहुत अधिक गम्भीर जल था।1

२—तब उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी प्रकार का जीव न था, रात्रि और दिवस भी नहीं था। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से स्वधा-प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्रणन कर रहा था, उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था।2

---

१ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
(ऋ० ८।१२९।१)

२ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत:।
आनीदवातं स्वाधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥
ऋ० १०।१२०।२

३—उस समय सब कुछ अन्धकार था तथा अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रवृत्ति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। वो तुच्छ था (ब्रह्म के सम्मुख प्रवृत्ति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त तो होने लगी। यहां महर्षि-दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है।1

१—इस प्रलयावस्था के समय मन का रेत: जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ मनीषी लोगों ने जान लिया कि इस असत् में सत् छिपा हुआ था।2

२—इन तीनों का किरण तिरछा फैला है, नीचे भी आश्चर्यकारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक, वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली जीव महान् थे, इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और

---

१ तम् आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तनमहिना जायतैकम्॥
ऋ० १०.१२९.३।

२ यदाकार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदा सत् सृष्टे प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुत: तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात् तस्मिन् काले सत् प्रवृत्याकमव्यक्तं, सत् सत्सज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्ना वर्तत:............किन्तु पर ब्रह्मण:............परम कारण संज्ञकमेव तदानीं सम वर्तत।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सृष्टि विद्या, विषय, (पृष्ठ—१३१ आठवीं बार सम्वत् २००८)

३ कामस्तग्रे समर्वत्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्य काव्यो मनीषा॥
(ऋ० १०। १२९।४)

पूरे प्रयत्न का बल था ।[1]

३—वस्तुत: कौन जानता है और कौन कह सकता है, कहां से निर्माण हुआ और कहां से विविध प्रकार की सृष्टि हुई है। देव (अर्थात् विद्वान् या सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में ही बने हैं। अब कौन यह जान सकता है कहां से यह सृष्टि निर्मित हुई है ।[2]

४—जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई, है वही इसका धारणा करता है। यदि न करे तो (सृष्टि विनष्ट हो जाय) यहां पर वा निश्चय के अर्थ में है। जो परम व्योम है इसका अध्यक्ष है, हे मित्र उसको जान, यदि उसको न जानेगा तो महती हानि होगी ।[3] (इन उपरोक्त मन्त्रों के अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और पं० जयदेव विद्यालङ्कार के भाष्यानुसार लिये गये हैं।)

कुछ आधुनिक विद्वान् जिन पर आचार्य शङ्कर का प्रभाव है, वे अद्वैतवाद का संकेत इसी सूक्त से ढूंढने का प्रयास करते हैं। यहां चिन्तनीय यह है कि सर्व प्रथम मन्त्र में सत् और असत् दोनों का ही उस अवस्था में होने का खण्डन किया है। यदि इस मन्त्र में यह

---

१ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामध: स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधाआसन्महिमान आसन्त स्वधा अवस्तात् प्रयति:परस्तात् ।।
(ऋ० १०.१२९.५)

२ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाताकुत इयं विसृष्टि: ।
अर्वागदेव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत जा वभूव ।।
ऋ० १०.१२९.६ ।।

३ इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।।
(ऋ० १०.१२९.७)

होता कि सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था कुछ भी नहीं था, तब तो आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन समुचित जान पड़ता, क्योंकि आचार्य शङ्कर ने अपने दर्शन को जो आधार बनाया वह यह कि तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता वह सत् ब्रह्म है।[1] वेद इसके विपरीत कहता है कि उस समय सत् नहीं था, इसका मायावाद के अनुसार अर्थ यह होना चाहिये कि उस समय ब्रह्म भी नहीं था, क्योंकि आचार्य शङ्कर के अनुसार तो सत् का कभी बोध होता ही नहीं है। परन्तु वेद तो न सत् को मानता है और वह न असत् को ही मान्यता देता है। इसलिये इसका अभिप्राय: यही उचित प्रतीत होता है कि सत् का अर्थ है, यह कार्यरूप जगत् नहीं था, और असत् का अर्थ है कि अभाव अर्थात् पूर्णत: अभाव भी नहीं था अपितु कारण प्रकृति अव्यक्तावस्था में थी। ईश्वर अपनी ईक्षण शक्ति से ही उसमें गति देकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है। यहां पर आचार्य सायण का अर्थ भी इस मन्त्र पर चिन्तनीय है क्योंकि उनका अर्थ इस प्रकार है — जगत् का कारण शशविषाण के समान निरुपाख्य नहीं था और न ही सद्रूप से ही निर्वाच्य था, किन्तु दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य था।[2] यहां पर स्पष्ट रूपेण सायण पर आचार्य शङ्कर

---

१ "त्रिकालाबाधितं सत्" (शङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र)।

२ जगतो मूल कारणं तदसच्छशविषाणवान्निरूपाख्यं नासीत्······ नो सन्नेवरुदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्··· उभयविलक्षणमनिर्वाच्य नैवासीत्। (ऋग्वेद संहिता १०.११.१२६.१)

चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य।

मैक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी १६६६। (इस प्रकार अज्ञान भावरूप है अर्थात् आकाश कुसुम के समान अभाव रूप नहीं है। उपर्युक्त का यह भाव है।)

का प्रभाव है। परन्तु सायण सम्भवतः यहां पर आचार्य शङ्कर के सत् शब्द के अभिप्राय को ओझल कर, न सत् था इसका अर्थ उनके सत् शब्द के अर्थ के विपरीत कर गये हैं। जब सायण शशविषाण के समान संसार के मूल कारण का अभाव नहीं स्वीकार करते हैं तो स्पष्ट रूप से प्रकृति को क्यों नहीं माना जाय, अनिर्वाच्य उसे क्यों कहा जाय ? वेदों में सृष्टि रचना का वर्णन बहुत ही दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[1] यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार आया है। इसका अर्थ हम में कर आये हैं। अर्थात् दो पक्षी सुन्दर गतिशील प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। एक उदासीन भाव से देख रहा है। दूसरा इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का आस्वाद न ले रहा है। जो स्वाद ले रहा है, वह सुख-दुःख रूपी उसके परिणाम को भोगता है, दूसरा नहीं। यहां पर प्रकृति की उपमा वृक्ष से दी है।

वेद और उपनिषदों ने सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर को माना है। नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के 'पुरुष' सूक्त में सृष्टि रचना का वृत्तान्त पाया जाता है। पुरुष सूक्त में इक्कीस प्रकार की सामग्री से ब्रह्माण्ड की रचना बताई गई है। एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियों का निर्माण किया।[2] आगे सूर्य चन्द्रमा आदि रचना दिखलाकर प्राणियों के शरीर की रचना का वर्णन है। इसी

---

१ ऋग्वेद १.१६४.२।

२ एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघ मण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं। सातवां सूत्रात्मावायु जो धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सृष्टि रचना विषय)

होता कि सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था कुछ भी नहीं था, तब तो आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन समुचित जान पड़ता, क्योंकि आचार्य शङ्कर ने अपने दर्शन को जो आधार बनाया वह यह कि तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता वह सत् ब्रह्म है।[1] वेद इसके विपरीत कहता है कि उस समय सत् नहीं था, इसका मायावाद के अनुसार अर्थ यह होना चाहिये कि उस समय ब्रह्म भी नहीं था, क्योंकि आचार्य शङ्कर के अनुसार तो सत् का कभी बोध होता ही नहीं है। परन्तु वेद तो न सत् को मानता है और वह न असत् को ही मान्यता देता है। इसलिये इसका अभिप्राय: यही उचित प्रतीत होता है कि सत् का अर्थ है, यह कार्यरूप जगत् नहीं था, और असत् का अर्थ है कि अभाव अर्थात् पूर्णत: अभाव भी नहीं था अपितु कारण प्रकृति अव्यक्तावस्था में थी। ईश्वर अपनी ईक्षण शक्ति से ही उसमें गति देकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है। यहां पर आचार्य सायण का अर्थ भी इस मन्त्र पर चिन्तनीय है क्योंकि उनका अर्थ इस प्रकार है — जगत् का कारण शशविषाण के समान निरुपाख्य नहीं था और न ही सद्रूप से ही निर्वाच्य था, किन्तु दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य था।[2] यहां पर स्पष्ट रूपेण सायण पर आचार्य शङ्कर

---

१ "त्रिकालाबाधितं सत्" (शङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र)।

२ जगतो मूल कारणं तदसच्छशविषाणवान्निरूपाख्यं नासीत्…… नो सन्नेवरुदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्… उभयविलक्षणमनिर्वाच्य नैवासीत्। (ऋग्वेद संहिता १०.११.१२९.१)

चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य।

मैक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी १९६६। (इस प्रकार अज्ञान भावरूप है अर्थात् आकाश कुसुम के समान अभाव रूप नहीं है। उपर्युक्त का यह भाव है।)

का प्रभाव है। परन्तु सायण सम्भवतः यहां पर आचार्य शङ्कर के सत् शब्द के अभिप्राय को ओझल कर, न सत् था इसका अर्थ उनके सत् शब्द के अर्थ के विपरीत कर गये हैं। जब सायण शशविषाण के समान संसार के मूल कारण का अभाव नहीं स्वीकार करते हैं तो स्पष्ट रूप से प्रकृति को क्यों नहीं माना जाय, अनिर्वाच्य उसे क्यों कहा जाय ? वेदों में सृष्टि रचना का वर्णन बहुत ही दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।[1] यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार आया है। इसका अर्थ हम में कर आये हैं। अर्थात् दो पक्षी सुन्दर गतिशील प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। एक उदासीन भाव से देख रहा है। दूसरा इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का आस्वाद न ले रहा है। जो स्वाद ले रहा है, वह सुख-दुःख रूपी उसके परिणाम को भोगता है, दूसरा नहीं। यहां पर प्रकृति की उपमा वृक्ष से दी है।

वेद और उपनिषदों ने सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर को माना है। नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के 'पुरुष' सूक्त में सृष्टि रचना का वृत्तान्त पाया जाता है। पुरुष सूक्त में इक्कीस प्रकार की सामग्री से ब्रह्माण्ड की रचना बताई गई है। एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधियों का निर्माण किया।[2] आगे सूर्य चन्द्रमा आदि रचना दिखलाकर प्राणियों के शरीर की रचना का वर्णन है। इसी

---

१ ऋग्वेद १.१६४.२।

२ एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघ मण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं। सातवां सूत्रात्मावायु जो धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सृष्टि रचना विषय)

प्रकार अथर्ववेद में भी प्रश्नों द्वारा सृष्टि रचना का वर्णन उपलब्ध होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि महर्षि दयानन्द वेदों में और उपनिषदों में प्रकृति को बतला कर इन ग्रन्थों को यथार्थवाद की शिक्षा पर ला खड़ा कर देते हैं। आचार्य शंकर ने तो उपनिषदों की प्रत्ययवादी (अद्वैतवादी) व्याख्या की है, उसमें एक कारण प्रतीत होता है आचार्य ने वेदों को न पढ़ पाया हो, इस में कारण यह दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं पर वेदों का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। भला यह कैसे हो सकता है कि वे वेदों के पण्डित होते और उनका प्रमाण न देते। जो कुछ भी रहा हो परन्तु उपनिषदों की वही दार्शनिक व्याख्या समुचित हो सकती है जो वेदों की व्याख्या से भी सहमति रखती हो। क्योंकि हम पीछे सिद्ध कर आये हैं कि उपनिषदें वेदों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है। स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वेदों में प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन् जैसे उद्भट्ट विद्वान् स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उनकी यह स्वीकारोक्ति दबी भाषा में अवश्य है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेदों में स्पष्ट रूप में यथार्थवाद का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार उपनिषदें भी वेदों के अनुसार यथार्थवाद का ही प्रतिपादन करती हैं।

---

1 Inx. 121 We have an account of the creation of the world by an omnipoent God out of pre-existent matter,
(Indian Philosophy V 1 P. 100 by RadhaKrishanan, Printed Indian Edition 1951.)

वैदिक दर्शन के पश्चात् भारतीय दार्शनिक परम्परा में अनेक दार्शनिक मतों की सृष्टि हुई है उसे प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :—

प्रश्न—त्रैतवाद आदि कुछ भी नहीं अपितु सर्वत्र हमें तो क्षणिता ही दिखलाई देती है। स्थाई सत्ता है ही नहीं अपितु जो भी सत् दिखाई देता है वह सब क्षणिक है[1] जैसे मेघ का आकाश में देखते है, कुछ क्षण बाद वह नहीं रहता इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्या जीव और संसार के दूसरे पदार्थ। हमें एक नियम दिखाई देता है कि व्यापक का निष्कासन करने से व्याप्य का भी निष्कान हो जाता है। अर्थात् व्यापक में नहीं रहने वाली वस्तुएें व्यापक में भी नहीं रहती है। इसी नियम के आधार पर व्यापक पदार्थ से क्रम और अक्रम का निष्कासन अथवा व्यावृत्ति करने पर, क्षणिक होने वाली वस्तुओं का भी निष्कासन हो जाता है। अभिप्राय : यह है कि व्यापक से क्रम अक्रम को पृथक् करने से, जिस से सम्भवतः अक्षिणक वस्तुओं से सत्ता पृथक् हो जाती है। क्षणिक सत् है यह सिद्ध हो जाता हैं। क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत होता है। असत् क्षणिक की सत्तासिद्ध होती है।[2] क्रम तथा अक्रम के बीच तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है।

---

१ व्यापक व्यावृत्या॰ व्याप्य॰ यावृत्तिरिति न्यायेन॰ व्यापक क्रमाक्रमवृत्ता अक्षणिकात् सत्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थो क्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तं। न च क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भवति (सर्वदर्शन स॰ क्षणिक प्रकरण)

२ यत् सत्—तत्क्षणिकम् यथा जलधरपटलम् (सर्वदर्शन॰ बौद्ध दर्शन) प्रकरण

क्योंकि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी हैं, दोनों के बीच में में तीसरा विकल्प सम्भव नहीं है। जो अर्थ क्रिया कारित्व का व्यापक कर सकें। किसी भी वस्तु को सत्ता या क्रमिक होगी अर्थात् आगे पीछे करें या अक्रमिक अर्थात् एक साथ। अतः जो अर्थमूल क्रिया की शक्ति है वह क्षणिक में निहित है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि यदि सत्ता कोई सत्ता स्थाई होती तो क्रम और अक्रम नहीं होता क्योंकि स्थाई होने पर क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः अस्थाई पदार्थों में ही क्रम और अक्रम हो सकते हैं। जैसे एक सौवर्ष पुराना वस्त्र, जो इस समय हमें जीर्ण शीर्ण दिखाई दे रहा है, क्या वह इस अवस्था में आज ही आया है ? यह नहीं अपितु इसमें सौ वर्ष से प्रत्येक क्षण में परिवर्तन हो रहा था। यहां एक वात और द्रष्टव्य है कि स्थाई पदार्थ में अर्थ क्रिया भी नहीं हो सकती, क्योंकि यदि अस्थाई कारण वनकर अपनी सत्ता के नाश के अनन्तर कार्य उत्पन्न करें तो भी यह सम्भव है परन्तु यह सम्भव नहीं है, यदि स्थाई तो फिर नाश कैसे। अतः अर्थ क्रिया को स्थाई पदार्थ से पृथक् करके स्वयं भी क्रम और अक्रम स्थाई से पृथक रहता है, जिससे केवल क्षणिक वस्तुओं की ही सत्ता सिद्ध होती है।

एक वीज के दृष्टान्त द्वारा यह वात सहज ही समझ में आ जाती है। यदि वीज एक क्षण से अधिक स्थाई रहता है इसके प्रतिक्षण में कार्योत्पादन की शक्ति भी अवश्य रहनी चाहिए। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी की सत्ता भी रहे किन्तु उसमें कार्यो-त्पादन की शक्ति न हो अतः सत्ता के लिए क्रिया कारित्व आवश्यक है। जैसे वन्द वोरे में वीज क्यों नहीं पौधा उत्पन्न करता है। यहां पर यदि कोई यह कहें कि वहां पर जल मिट्टी यादि सहकारी कारण उत्पन्न होते हैं तभी वह शक्ति कार्य को उत्पादन करती है। अतः

बीज एक है। यह भी गलत है क्योंकि बीज के पूर्व रूप से अर्थात् उसमें जब मिट्टी जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं होती है। उसके फलस्वरूप से अर्थात् जब उसमें जब मिट्टी जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं रहती उसके पर रूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी जल आदि से कुछ परिवर्तन आता है तब भी उसमें पौधे की उत्पत्ति होती है। अतः बीज दोनों अवस्थाओं में एक सा नहीं रहता वरन् उसमें परिवर्तन हो जाता है। बस यह परिवर्तन शीलता एक बीज में ही नहीं अपितु समस्त संसार में है क्योंकि किसी वस्तु से प्रतिक्षण एक ही प्रकार की सम्भावना नहीं रहती है। इसी प्रकार आत्मा भी क्षणिक होगा क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद के कारण परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थाई द्रव्यों को नहीं माना जा सकता है। अतः स्थिर आत्मा को भी नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार बौद्धों के इस क्षणिक-वाद को ही मानना चाहिए क्योंकि कहा भी बौद्धों का भगवान बुद्ध ही पूजन योग्य है। जो जगत् को क्षण भंगुर मानते हैं[1] अतः क्षणिकवाद ही सिद्ध होता है न कि त्रैतवाद।

उत्तरः– यह क्षणिकवाद सर्वथा अनुचित है क्योंकि यदि क्षणिकवाद को माना जाय तो स्मरण नहीं बनेगा। हम देखते हैं कि कल या उससे पूर्व की घटना का हमें स्मरण हो जाता है। क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार तो जो हम कल थे आज नहीं है अतः यह वही देवदत्त है जो मैंने आज से पांच वर्ष पूर्व हरिद्वार में देखा था।

---

१ बौद्धानां सुगतोदेवो विश्वंचक्षण भंगुरम (विवेकविलास अष्टम विलास २६५ वांश्लोक अथवा सत्यार्थ प्रकाश द्वादश समुल्लास-पूर्वपक्ष)।

यह व्यवहार कैसा होता है।[1] जो पहले जलचर आदि के दृष्टान्त दिए हैं वे भी ठीक नहीं क्योंकि बौद्धों के अनुसार क्षणिकत्व है वह कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता है। बादल को हम देखते हैं तो स्थाई दिखाई देता है न कि क्षण-क्षण में बदला हुआ सा। क्योंकि बौद्धों के यहां क्षण का अभिप्राय: एक क्षण है न कि नैयायिकों के तीन क्षण नहीं हैं। बौद्धों का जो क्षण है उसे हम आंक नहीं सकते हैं जब हमारा दृष्टान्त ही अशुद्ध है तो अनुभव कैसे होगा।

कपास के बीज अवयवों में भी जो कार्य से सम्बद्ध होने योग्य है उस में लोह रस का सेचन होता है, उसी के फल निकलने तक सम्बन्ध होते है। लाली आ जाती है। परम्परा से कुछ होगा ही नही क्योंकि यह कैसे हो कि संस्कार कहीं और उसका फल कहीं दूसरी जगह यह कैसे सम्भव है। कारणवाली आत्मा में कर्म हो और कार्य आत्मा उस के फल का उपभोग करे, अत: क्षणिकवाद का सिद्धांत बिलकुल ही नहीं बनता है। सन्तान और परम्परा को तब तक मान्य नहीं किया जा सकता जब तक उसे परस्पर मिलाने वाली वस्तुएं न हो अर्थात् सन्तानों को संयुक्त करने वाला न हो। अत: उन सन्तानों में एक ही व्यक्ति सिद्ध होता है।[2] यदि क्षणिकवाद को मानना चाहे तो

---

१ जो विश्वक्षण भंगुर हो तो चिरदृष्ट पदार्थ का यह वही है ऐसा स्मरण नहीं होना चाहिए। जो क्षण भंग हो तो वह पदार्थ ही नहीं रहता पुन: स्मरण किस का होवे जो क्षणिकवाद ही बौद्धों का मार्ग है तो इनका मोक्ष भी क्षण भंग होगा।
.....सत्यार्थ प्रकाश १२ समुल्लास प्रकरण बौद्ध खण्डन में देखो

२ सजातीया: क्रमोत्पन्ना: प्रत्यसन्ना: परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु सन्तान: स चैक इति गीयते ।।
(सर्व दर्शन स० जैन दर्शन)

अध्यापक और शिष्य में अध्ययन अध्यापन भी सम्भव नहीं। इस में एक दोष तो यह है कि दूसरे क्षण शिष्य और अध्यापक ही नहीं रहेंगे। दूसरे अति दोष आयेगा। इसी प्रकार किये गये कर्म का नाश तथा न किये गये कर्म को फल प्राप्त हो जायेगा। जो अध्यापक और शिष्य के उदाहरण से स्पष्ट है। एक दोष तो यह है कि किये गये का फल भोगना, तीसरा विश्व का विनाश चोथा मोक्ष का विनाश हो जायेगा क्योंकि आत्मा क्षणिक है तो मृत्यु के अनन्तर सुखी होने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करेगा। स्मृति भंग दोष भी आ जायेगा जिस का वर्णन हम पूर्व ही कर आये है।1 ओह–कितना आश्चर्य है कि बौद्ध लोग एक ओर तो आत्मा को क्षणिक मानते है दूसरी ओर स्वर्ग की प्राप्ति के लिये चैतन्य को पूजा करते है, सभी संस्कार क्षणिक है, दूसरी ओर हजारों वर्ष तक रहने वाले विहारों का निर्माग हो रहा है। एक ओर सब कुछ शून्य है दूसरी ओर गुरु को धन देने का आदेश भी मिल रहा है। देखो इन का सैद्धान्तिक पक्ष कैसा और व्यवहार कैसा है।2 यदि क्षणिकवाद को माना जाय तो ज्ञान के समय ज्ञेय पदार्थ की सत्ता नहीं रहेगी। ठीक इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ के समय ज्ञान के सत्ता नहीं रहेगी ज्ञेय पदार्थ कारण और ज्ञान कारण

---

१ कृतप्रणाशा कृतकर्मभोग भव प्रमोक्ष स्मृति भगं दोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षण भंगमिच्छ न्नहो महासाहसिकः परोऽसौ॥
(वी० स्तु० १८)

२ नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथच स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्काराः क्षणिका. युगस्थितिभृश्चते विहाराः कृताः।
सर्वशून्यमिंद वसूनि गुरवेदेहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरित किमन्यदियतो दम्भस्य भूमि परा॥
(न्यायमज्जरी पृष्ठ ३९)

पहले ज्ञेय हो तब ज्ञान। क्षणिकवाद के अनुसार दोनों रही नहीं सकते क्योंकि पूर्वापर के क्रम से होते है। अतः इसी प्रकार में कोई ग्राहक रहेगा न कोई गाह्य। इस प्रकार क्षणिकवाद नहीं बन सकता है।

प्रश्न :–क्षणिक पदार्थ ज्ञान पर अपने आकार की छाप छोड़ेगा।
उत्तर:–यह कहना ही नहीं बनता क्योंकि जिस पर छाप पड़ेगा वह है ही नहीं। अतः ग्राह्य ग्राहक नहीं बनेगा।

प्रश्न :–यदि क्षणिकवाद का खण्डन हो गया तो शून्यवाद तो ठीक ही हैं क्योंकि संसार का मूल कारण शून्य ही है। पूर्व भी शून्य था, आगे भी शून्य बन जायेगा। हम देख सकते हैं कि एक का अस्तित्त्व दूसरे पर आश्रित है। अभिप्रायः यह कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, ये एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। यदि इनमें से एक असत् होगा तो शेष दोनों भी असत् होंगे, जब हम किसी रज्जु को सर्प समझते हैं तो वहां उसका अस्तित्व बिलकुल असत् है। यदि सर्पही असत्य है तो ज्ञाता भी असत्य है। अतः इस उदाहरण द्वारा यह प्रतीत होता स्वप्न जगत की तरह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी असत् हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। सब कुछ शून्य ही है। शून्य का अर्थ सत्, असत्, सदसत् और असन्नासत् ये भी लक्षण किया जाता है, जो अनिर्वचनीय है। व्यवहारिक वस्तुएं सभी असत् या शून्य हैं। किन्तु उनकी पृष्ठभूमि में ऐसी सत्ता है जो अनौपाधिक और अविकृत है।१–कुछ इनके ही दार्शनिक बाह्य वस्तुओं को शून्य मानते हैं परन्तु चित्त जो सभी पदार्थों को बतलाने वाला है उसको शून्य नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि मानसिक धारणा में ही बाह्य पदार्थों के रूप में भ्रमवश, दृष्टिगोचर होते हैं। अर्थात् विषय नहीं

हैं अपितु विषयी ही अपनी तत् सम्बन्धित धारणाओं को आरोपित करता है। पाश्चात्य दर्शन में बेर्कले भी बाह्य पदार्थों का आश्रित्व नहीं मानता है। इसके अनुसार सत्ता अनुभव मूलक है।

उत्तर :–यह शून्यवाद भी ठीक नहीं है क्योंकि बाहर के पदार्थ में सत् अर्थात् वे अपनी सत्ता रखते हैं और अन्य मन चेतन आदि भी अपनी सत्ता रखते हैं। संसार स्पष्ट रूप में दिखलाई पड़ता है। जगत की सभी वस्तुएं अपनी-अपनी सत्ता रखती है। उनमें शून्यता का भाव लेशमात्र भी नहीं हैं। हम देखते हैं कि कार्य कारण का नियम कर रहा है। इस नियम के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। असत् कारण से कोई भी सत्ताधारी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। कहा कि असत् सर्प से सत् सर्प की उत्पत्ति देखी जाती है सो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहां प्रतीति काल अर्थात् हमें जब तक यह पता नहीं चलता कि यह सत् नहीं है अपितु रस्सी है तब तक सत् कारण से सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि भ्रान्ति दूर होने पर तो नहीं, परन्तु यह आपका उदाहरण भी तो भ्रम स्थल का ही है।

जाग्रत और भ्रम रहित स्थल वाले दृष्टान्त सब सत् कार्य को उत्पत्ति वाले हैं। हमें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो गुण कारण में हैं वे गुण कार्य में भी किसी न किसी रूप में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के रूप में तिल से ही तेल की उत्पत्ति होती है, बालू से तेल की नहीं। असत् से सत् की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती जिस प्रकार मनुष्य के सींग असत् है इसी ही प्रकार असत्

---

१ न सन्नासनन सदसन्न चाप्यनुभात्कम्।
चतुष्कोटो विनिपुक्तिं, तत्वं विनिमिक्तं माध्यमिकार विदुः॥

से सत् की भी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती ।[1] इसी प्रकार जब सब शून्य ही है तो ये गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ, ये शान्त और गम्भीर समुद्र, गहरी खाइयां और यह विचित्र जगत कैसे उत्पन्न हो सकता है।

शून्यवादी से पूछना चाहिए कि जिस शून्य पर तुम विचार कर रहे हो, वह तुम विचार करते तो शून्य नहीं हो सकते। फिर शून्य कहां रहा।[2] इस प्रकार एक तो शून्य दूसरा उसका ज्ञाता, अतः ज्ञाता और ज्ञेय अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। जब ये दोनों सिद्ध हों तो ज्ञान अपने आप सिद्ध हो जाता है। जो योगाचार आदि बाह्य शून्य तत्व मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि जैसे बाहर पहाड़ है, वे अन्दर किस प्रकार हो सकते हैं। यदि आप माने तो भी उतना स्थान हृदय में नहीं हो सकता है।[3] यही मानना समीचीन है कि पर्वत की सत्ता बाहर है उसका ज्ञान आत्मा में है।[4]

इसी प्रकार जो लोग पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानते है उन का अपना वचन भी अनुमेय ही मानना होगा। हम जो यह प्रयोग करते

---

१ नासतः ख्यानं नृशृंगवत।

२ शून्य आकाश, अदृश्य आकाश और बिन्दु को भी कहते है।
शून्य का जानने वाला शून्य कभी नहीं होता है।।
सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास आठ, प्रकरण नास्तिक।

३ जो सब शून्य हो तो शून्य का जानने वाला शून्य नहीं हो सकता और जो सब शून्य हो, तो शून्य को जान नहीं सकते इसलिये शून्य का ज्ञाता ज्ञेय दो प्रकार सिद्ध होते हैं, और जो योगाचार बाह्य यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होने चाहिये········ अवकाश कहां सत्यार्थ प्रकाश १२ समुल्लास।

४ इसलिये बाहर पर्वत है और पर्वत का ज्ञान आत्मा रहता है।
सत्यार्थप्रकाश, १२ समुल्लास।

है ये घड़ा अथवा यह घड़े का एक देश इन सब का प्रयोग भी नहीं बन सकता है। यह घड़ा है, यह अनुमान से नहीं परन्तु प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है क्योंकि सब अवयवों में एक अवयवी रहता है, उसके प्रत्यक्ष होने से घट के सब अवयव भी प्रत्यक्ष होते हैं, इस प्रकार सावयव घट प्रत्यक्ष होता है।[1]

शून्यवादी जो कहता है कि ज्ञाता, ज्ञेय और तीनों ही शून्य है इसका खण्डन हो गया। शून्यवाद द्वारा संसार की रचना सम्भव नहीं है। अतः त्रैतवाद द्वारा इस समस्या का समाधान हो सकता है। क्योंकि कारण तीन होते हैं।

प्रश्न :—अनैकान्तवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। हमें छोड़कर सभी लोग एकान्तवादी हैं। किसी वस्तु का ज्ञान हमें पूरा नहीं हो सकता है। उसके जानने के कई पक्ष होते हैं। उन सब पक्षों को एक साथ जानना बड़ा ही दुष्कर है। साधारण ज्ञान हम नहीं कर सकते हैं। हम किसी पक्ष विशिष्ट को ही जान सकते हैं, वहीं तक उस की सत्यता भी माननी चाहिये सर्व तो भावेन सत्य नहीं हैं। सभी दार्शनिक ज्ञान की इस सीमा का ध्यान नहीं रखते हैं कि अल्पज्ञ जीव किसी वस्तु के सभी पक्षों को कैसे जान सकता है। जैसे हम कहते हैं कि घड़ा है यह एक पक्ष से देशकाल गुण आदि का विचार करके हम घट की सत्ता मानते हैं। इसमें नहीं पक्ष भी है। जैसे उस देशकाल आदि की दृष्टि से घड़ा नहीं है। अतः यही सिद्ध सिद्धान्त है कि अनैकान्तवाद अर्थात्, स्याद्वाद मानना उत्तम है। किसी भी वस्तु की सत्ता या दूसरी

---

१ देखो सत्यार्थ प्रकाश १२ वा० समुल्लास बौद्ध प्रकरण।

बात के कहने में हमें (स्याद् शब्द का) प्रयोग करना चाहिये जैसे हम कहते हैं कि काला कपड़ा यहां उसमें सफेदपना नहीं है। अतः सम्भावना का प्रयोग करना ही सर्वथा उचित है। वास्तव में अन्य सभी दार्शनिक अपने-अपने दर्शनों के सिद्धान्तों को ऐसे ही वर्णन करने के समान है जैसे किसी ने कहा है कि कुछ अन्धे थे वे हाथी को छूकर देख रहें थे। एक ने कहा कि हाथी तो स्तम्भ के समान है, दूसरे ने कहा छाज के समान और तीसरे ने कहा दिवार के समान, सभी ने जैसा-जैसा छूआ वैसा कहा। अतः वे सभी अधूरे हैं। सभी का बताया हुआ हाथी सम्पूर्ण हाथी है। किसी एक का नहीं। इसी प्रकार कोई द्रव्य पदार्थ भी पक्षों पर विचार करने से होगा। हमारा सप्त-भंग न्याय सब को मानना चाहिये। प्रत्येक वस्तु स्यात् है,[1] स्यात् नहीं,[2] स्यात् है और नहीं भी है[3] स्यात् अवक्तव्य है,[4] स्यात् है और अवक्तव्य भी है[5] स्यात् नहीं है अवक्तत्व्य भी है[6] और स्यात् है, नहीं अवक्तव्य भी है[7] सब के समुच्चय से सप्त भंग कहलाता है।[8] इस को हम दूसरी प्रकार कह सकते है कि जैसे जीव चेतन होने से है अर्थात् वह भाव रूप है। यह प्रथम भंग हुआ। जीव जड़ नहीं है यह दूसरा भंग। इसी प्रकार सातो भंग होते है। अतः चित् और अचित् दो तत्व है।

---

१ स्याद्–अस्ति २–स्याद् नास्ति ३–स्यात्–अस्ति् नास्ति च।

४ स्याद्– अवक्तव्यम् ५–स्यात् अस्तिच अवक्तव्यचं ६–स्याद् नास्तिच अवक्तव्यच।

७ स्यात्–अस्तिच अवक्तव्यंच ८–तद्विधान विवक्षया स्यादस्ति इति गति भवत ······समुच्चययेन युक्तस्च सप्तम भंग उच्यते।
(सर्व दर्शन संग्रह जैन दर्शन)

उत्तर—किसी भी वस्तु में एक ही प्रकार की पारमार्थिक सत्ता हो सकती है। उस सत्ता के अन्दर, असत्ता नहीं रह नहीं सकती है। परस्पर विरोधी धर्म एक ही वस्तु में नहीं हो सकते है। इस प्रकार जो पारमार्थिक सत्ता है उस असत्ता आदि का समावेश किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। क्योंकि विकल्प क्रिया का तो हो सकता है परन्तु वस्तु का नहीं। वस्तुत: जैनियों का यह सिद्धान्त अन्योऽन्या भाव साधर्म्य और वैधर्म्य में एक बात है, यह मानने के समान है। हम यह देखते हैं कि जीव में अजीव और अजीव में जीव का अभाव होता है। जो जीव में चेतन्यत्व और अजीव में जड़त्व। एक ही धर्मो में एक सत् और असत् विरोधी धर्मो का समावेश नहीं हो सकता है। यह सात स्यात् है, स्यात् नहीं है, आदि।

सप्त भंग नय है ये ऐसे ही है जैसे शीतत्व और उष्णतत्व एक ही समय एक ही वस्तु में एक स्थान पर रहें। वे वैसे ही वा नहीं भी है। या और प्रकार से है, इस प्रकार से अनिश्चत् ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही है स्याद्वाद के मानने पर प्रत्येक वस्तु का

---

१ यह कथन (स्याद् वाद) एक अन यऽन्योभाव में साधर्म्य और वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल का प्रकरण छोड़ कर कठिन जाल रचना केवल""""होता है। जीव का अजीव और अजीव का जीव में अभाव रहता ही है। जैसे जीव और जड़ के वर्तमान होने से साधर्म्य और चेतन तथा जड़ होने वैधर्म्य अर्थात् जीव में चेतनत्व और जडत्व नहीं है इसी प्रकार जड़ में जडत्व और चेतनत्व नहीं है। इस से गुण कर्म स्वभाव के समान धर्म इतना प्रपंच बढ़ाना किस काम का।

(सत्यार्थ प्रकाश प्र० १२ समुल्लास)

लक्षण, स्वरूप अनिश्चत संशयरूप ही रहेगा।1

हमने देखा कि युक्तियों और तर्कों के आधार पर भी अनैकान्त वाद टिक नहीं सकता है। यदि इस स्याद्वाद को माना जाये तो प्रत्येक व्यक्ति हर समय में संशयवादी ही वना रहेगा। इनसे कोई पूछे कि क्या तीर्थंकर जब उपदेश देता था उस सयम भी ये इस स्याद् शब्द का प्रयोग करते हैं, कि यह उपदेश शायद ठीक है, शायद नहीं। यदि ये बुद्धि बनी रहेगी कि में इस बतलाये गये अनुष्ठान आदि आदि कर्मों में प्रवृत हूं या नहीं। स्यात् मोक्ष है स्यात् नहीं। भला बतलाइये यदि ये मान्यता हो तो कौन उधर प्रवृत होगा।

हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार एक ही वस्तु का एक साथ छोटा और बड़ा दोनों रूप रह सकता है।2 उसी प्रकार संसार को अनैकान्त मान ले। अभिप्राय: यह है कि जैसे द्वयणुक में ह्रस्त्व और दीर्घत्व दोनों है उस प्रकार जगत सत् और असत् है यह मानना ठीक नहीं है द्वयणुक का छोटा बड़ा होना सापेक्ष है किसी भिन्न प्रतियोगी कि अपेक्षा रखता है जैसे चतुरणुक और द्वय णुक। चतुरणुक की अपेक्षा वह छोटा है, द्व्यणुक की अपेक्षा वड़ा है परन्तु सत् असत् मानने में यह बात नहीं घटती है। वहां प्रतियोगी नहीं जिसमें सत् असत् कह सकें। क्योंकि वहां किस की अपेक्षा से कहेगें। ह्रस्त्व और दीर्घत्व उतने विरोधी नहीं है जितने की सत् और असत् को एक ही वस्तु में एक ही साथ स्थित कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भंगों का खण्डन भी स्पष्ट

---

१ नैकस्मिन् सम्भवात् (वेदान्तदर्शन २.२.३२)

२ नैचैकस्य ह्रस्वत्वदीघ······ जगत् स्यादिति वाच्यम्

(सर्वदर्शनसंग्रहरामानुज दर्शन)

रूप से हमें दिखाई देता है। अब हमें यह भी विचारना चाहिये कि कि जो इन सारे प्रपञ्चों की जड़ सप्त भंगीनय है, वह स्वयं एकान्त है या अनैकान्त यदि प्रथम विकल्प माना जाये तो सब कुछ अनैकाकान्त है, इस प्रतिज्ञा का ही विरोध होता है। यदि यह निश्चित स्वरूप वाला है तो फिर किस तरह से सब चीजों को अनैकान्त मानेगें क्या सप्त भंगीनय सब के अन्तर्गत नहीं है। यदि दूसरा विकल्प मानते हैं तो इष्ट वस्तु की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि अनैकान्त हो जाने से सप्त भंगी प्रमाणिक नहीं हो सकता। अर्थात् किसी वस्तु को सिद्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त उनके यहां तत्वों की सख्या नौ या सात मानी गई है। इस प्रकार निर्धारण करना फल है। और निर्धारण करसे वाला प्रमाता है। उसके निर्धारण का प्रमाण है और यह तत्व स्वयं प्रमेय है। यदि इन सब स्वरूप निश्चित माने तो सब कुछ अनैकान्त है कि प्रतिज्ञा कहां रही यदि इन का स्वरूप अनिश्चित है तो इतने बड़े प्रपंच की क्या आवश्यकता है। यह उपहासनीय वार्ता है कि इतने तत्व, प्रमाण प्रमाता और फल आदि का वर्णन करके कहते हैं कि यह सब कुछ अनैकान्त है। अतः अनैकान्तवाद ही स्वयं अपनी जड़ स्वयं खोद देता।

प्रश्न :— यह ठीक है कि है कि अनैकान्तवाद से सृष्टि कैसे रची इसका कौन रचने वाला है? इसमें कौन रहता है? इत्यादि समस्या का समाधान हो जाता है। संसार में एक तत्व है जिसकी पारमार्थिक सता है। है, वह है ब्रह्म। अद्वैतवाद में सबसे अधिक विशेषता यह कि इसके अंगीकार करने के अनन्तर एक तत्व ही सृष्टि रचना करता है। अतः इसके स्वीकार करने के पश्चात् आप द्वारा मान्य तीन कारणों की आवश्यकता नहीं है केवल ब्रह्म इस संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। आप कहेंगे कि

यह ठीक नहीं क्योंकि कारण एक से उत्पन्न वस्तु दिखाई देनी चाहिए। सो इस का उत्तर यह है कि क्या जब हम दूर से कुछ अन्धकार और प्रकाश में रस्सी में हमें सर्प की उत्पत्ति हो जाती है। वहां पर केवल रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। यदि कहो कि वहां तो सर्प, रस्सी वस्तुतः नहीं अपितु आरोपित सर्प की उत्पत्ति होती है तो इस में दोष क्या है ? यह संसार भी ब्रह्म पर आरोपित है। अतः संसार मिथ्या है।

सत्तायें तीन प्रकार की होती है। एक वह जिसका तीनों कालों में बाध न हो[1] वह सत्। दूसरी जिसका उत्तर काल में तो बाध हो जाये, परन्तु वर्तमान में ही उसे असत् नहीं कह सकते परन्तु वर्तमान काल में तो है इस प्रातितिक सत्ता (प्राति भासिक) कहते हैं। क्योंकि यदि संसार को सत् मान लिया जाये तो फिर यह तिरोहित कैसे हो जाता है। अतः संसार असत् नहीं परन्तु यह मिथ्या है। यदि संसार की तुलना हमें स्वप्न के पदार्थ या भ्रम से कर लेवें तो संसार आगे तिरोहित हो जाता, है इस समस्या का समाधान हो जाता है। यह संसार और जीव मिथ्या है।

उत्तर– यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। अच्छा बतलाओ वह तुम्हारे मत में मिथ्या अथवा झूठा किसे कहते हैं।

पूर्व पक्ष वस्तु की सत्ता तो नहीं परन्तु केवल प्रतीत हो जैसे सर्प होता तो नहीं परन्तु रज्जु में उसकी प्रतीत हो रही होती है।

---

१ त्रिकालाबाधितं सत्।

उत्तर पक्ष— जो वस्तु नहीं होती है उसकी प्रतीति ही सम्भव है। तुम्हारा ऊपर वाला उदाहृण भी ठीक नहीं क्योंकि सर्प वहां भले न हो परन्तु अन्यत्र तो होता ही है।

पूर्व :— क्यों नहीं अध्यास द्वारा, यह प्रितीति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है इसके अनेकों उदाहृण देखने में आते हैं।

उत्तर :—अच्छा आप वतलाइये आप के मत में अध्यास किसे कहते हैं ?

पूर्व :— किसी दूसरे पदार्थ में अन्य पदार्थ को आरोपित करना अध्यास कहलाता है।[1] जब हम अध्यारोप का निराकरण करते हैं तो वही अपवाद कहलाता है। ब्रह्म इन दोनों से पृथक् अर्थात् ब्रह्म प्रपंच से भिन्न है।

उत्तर :— यह आप का सिद्धान्त अनुचित है क्योंकि जो यह मानते हों कि सर्प वस्तु नहीं है। यदि यह कहा कि वह वहां तो नहीं है सो भी ठीक नहीं क्यों अन्यत्र सर्प के संस्कार हमारे हृदय में तो है। वास्तविक सर्प दूसरे स्थान पर है ही। इसी रज्जू में सर्प शुक्तिता में रजत और स्थाणु में पुरुष इन स्क्षलों पर भी समझ लेना चाहिए।

पूर्व :— स्वप्न में हमें जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वे तो सब भूठे ही हैं। उसी प्रकार इस जगत को समझना चाहिए।

उत्तर :— स्वप्न में भी वहीं पदार्थ हमें दिखाई देते हैं जिनको जागृत अवस्था में देखा अथवा सुना है।

---

१ वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

पूर्व :– यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसे भी स्वप्न आते है जिन को जागृत अवस्था में देखा नहीं होता है। जैसे अपने कंधे पर आप चढ़ना। अपना सिर कटा और स्वयं रोता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार जल की धारा भी ऊपर को जाती दिखाई दे जाती है।

उत्तर :– हम देखते है कि लड़ाई में सिर कटा, बन्धु-बान्धों को रोता देखा फव्वारे से जल भी ऊपर जाते देखा। इन सब के संस्कारें हमारें हृदय में रहते है उन की स्मृति भी बनी रहती है। स्वप्न अवस्था में सब बातें मनुष्य अपने में ही देख लेता है। यहां भी ये सब अवस्तु नहीं अपितु सभी कुछ देखा या सुना हुआ है। इतना अवश्य है कि स्वप्न जैसा देखा या सुना है वह यह आवश्यक नहीं कि सब नियमपूर्वक हों, अनियम से हो जाता है। जैसे हम कभी-कभी पूर्व दृष्ट या श्रुत को अपने हृदय से निकाल कर कागज में लिखना चाहते है तो वैसा ही नहीं लिख पाते है जैसी वह वस्तु देखी या सुनी भी। जैसा देवदत्त को मैंने आज से दस वर्ष पूर्व देखा आज फिर देख रहा हूँ परन्तु उस को मैं पहचान नहीं पा रहा हैं क्योंकि स्मृति कुछ धुन्धली पड़ गई हैं इसी प्रकार स्वप्न में भी होता है, वहां अनेकों स्मृतियां हृदय पटल पर अंकित होती है, सबका सम्मिश्रण हो जाता है। एक दूसरे पर उनका प्रभाव पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो चक्षुहीन जो जन्म से ही अन्धा है उसका रूप स्वप्न में कभी भी नहीं आता है। अतः इससे सिद्ध है कि स्वप्न में भी दिखाई देने वाली वस्तुऐं अवस्तु नहीं हैं।

पूर्व :– अध्यस्त के लिएं अधिष्ठान की भी आवश्यकता होती है जैसे रज्जु न हो तो सर्प की भी प्रतीति नहीं हो सकती है। रज्जू में सर्प की उपस्थिति तीनकाल में भी नहीं है। जब अन्धेरे में सर्प दिखाई देता है तो दीपक के आने पर सर्प की भ्रान्ति प्रकाश के

कारण समाप्त हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के होने संसार मिथ्या है इसका ज्ञान हो जाता है। पूर्ण रूप से ब्रह्म ज्ञान हो जाता है अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रज्जु के दीखने पर सर्प का ज्ञान नहीं रहता है।

उत्तर :– अच्छा यह बतलाओ कि यह भ्रम अवस्था अज्ञान किस-किस को हुआ। पूर्व–जीव को। उत्तर :– तुम नो ब्रह्म को छोड़कर किसी को मानते ही नहीं। अच्छा बतलाओ जीव को अज्ञान किस से हुआ ? पूर्व–अज्ञान से। उत्तर–अज्ञान कहां से आया और उसका रहने का स्थान कहां है ? पूर्व–अज्ञान अर्थात् अविद्या अनादि है और वह ब्रह्म में रहता है। उत्तर–क्या आप के ब्रह्म भी अज्ञानी है ? अच्छा बतलाओं ब्रह्म में अज्ञान ब्रह्म का ही है या किसी ओर का, वह अज्ञान हुआ किस को पूर्व–चिदाभास उत्तर–चिदाभास का क्या स्वरूप है ? पूर्व–ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर वह ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि बन जाता है।

उत्तर :– उस के भूलने का कारण क्या है ? पूर्व–अविद्या उत्तर—अविद्या क्या सर्वव्यापी का गुण ? अथवा अल्पज्ञ का ? पूर्व अल्पज्ञ का। उत्तर आप के मत में तो अल्पज्ञ है ही नहीं फिर यह कहां से आया यदि ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में अज्ञान मानोगे तो वह अज्ञानी हो जायेगा और उस अज्ञान का प्रभाव सर्वत्र हो जायेगा। जिस से ब्रह्म विकारी हो जायेगा। ब्रह्म के प्रदेश भी नहीं हो सकते। और नहीं ब्रह्म के किसी भाग में अज्ञान ठहर सकता है पूर्व–यह सब उनका ब्रह्म का धर्म है। जो औपाधिक है। अतः केवल यह उपाधिका धर्म है ब्रह्म का नहीं है उत्तर :– वह उपाधि जड़ है अथवा चेतन, सत्य है अथवा असत्य है। पूर्व अनिर्वचनीय है। उसे हम जड़, चेतन, सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कह सकते है। उत्तर :– यह कहना

कारण समाप्त हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के होने संसार मिथ्या है इसका ज्ञान हो जाता है। पूर्ण रूप से ब्रह्म ज्ञान हो जाता है अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रज्जु के दीखने पर सर्प का ज्ञान नहीं रहता है।

उत्तर :– अच्छा यह बतलाओ कि यह भ्रम अवस्था अज्ञान किस-किस को हुआ। पूर्व–जीव को। उत्तर :– तुम तो ब्रह्म को छोड़कर किसी को मानते ही नहीं। अच्छा बतलाओ जीव को अज्ञान किस से हुआ ? पूर्व–अज्ञान से। उत्तर–अज्ञान कहां से आया और उसका रहने का स्थान कहां है ? पूर्व–अज्ञान अर्थात् अविद्या अनादि है और वह ब्रह्म में रहता है। उत्तर–क्या आप के ब्रह्म भी अज्ञानी है ? अच्छा बतलाओं ब्रह्म में अज्ञान ब्रह्म का ही है या किसी ओर का, वह अज्ञान हुआ किस को पूर्व–चिदाभास उत्तर–चिदाभास का क्या स्वरूप है ? पूर्व–ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर वह ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि बन जाता है।

उत्तर :– उस के भूलने का कारण क्या है ? पूर्व–अविद्या उत्तर—अविद्या क्या सर्वव्यापी का गुण ? अथवा अल्पज्ञ का ? पूर्व अल्पज्ञ का। उत्तर आप के मत में तो अल्पज्ञ है ही नहीं फिर यह कहां से आया यदि ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में अज्ञान मानोगे तो वह अज्ञानी हो जायेगा और उस अज्ञान का प्रभाव सर्वत्र हो जायेगा। जिस से ब्रह्म विकारी हो जायेगा। ब्रह्म के प्रदेश भी नहीं हो सकते। और नहीं ब्रह्म के किसी भाग में अज्ञान ठहर सकता है पूर्व–यह सब उनका ब्रह्म का धर्म है। जो औपाधिक है। अतः केवल यह उपाधिका धर्म है ब्रह्म का नहीं है उत्तर :– वह उपाधि जड़ है अथवा चेतन, सत्य है अथवा असत्य है। पूर्व अनिर्वचनीय है। उसे हम जड़, चेतन, सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कह सकते है। उत्तर :– यह कहना

पूर्व :– यह ठीक नहीं क्योंकि ऐसे भी स्वप्न आते है जिन को जागृत अवस्था में देखा नहीं होता है। जैसे अपने कंधे पर आप चढ़ना। अपना सिर कटा और स्वयं रोता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार जल की धारा भी ऊपर को जाती दिखाई दे जाती है।

उत्तर :– हम देखते है कि लड़ाई में सिर कटा, बन्धु-बान्धों को रोता देखा फव्वारे से जल भी ऊपर जाते देखा। इन सब के संस्कार हमारे हृदय में रहते है उन की स्मृति भी बनी रहती है। स्वप्न अवस्था में सब बातें मनुष्य अपने में ही देख लेता है। यहां भी ये सब अवस्तु नहीं अपितु सभी कुछ देखा या सुना हुआ है। इतना अवश्य है कि स्वप्न जैसा देखा या सुना है वह यह आवश्यक नहीं कि सब नियमपूर्वक हों, अनियम से हो जाता है। जैसे हम कभी-कभी पूर्व दृष्ट या श्रुत को अपने हृदय से निकाल कर कागज में लिखना चाहते है तो वैसा ही नहीं लिख पाते है जैसी वह वस्तु देखी या सुनी थी। जैसा देवदत्त को मैंने आज से दस वर्ष पूर्व देखा आज फिर देख रहा हूं परन्तु उस को मैं पहचान नहीं पा रहा हैं क्योंकि स्मृति कुछ धुन्धली पड़ गई हैं इसी प्रकार स्वप्न में भी होता है, वहां अनकों स्मृतियां हृदय पटल पर अंकित होती है, सबका संम्मिश्रण हो जाता है। एक दूसरे पर उनका प्रभाव पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो चक्षुहीन जो जन्म से ही अन्धा है उसका रूप स्वप्न में कभी भी नहीं आता है। अतः इससे सिद्ध है कि स्वप्न में भी दिखाई देने वाली वस्तुऐं अवस्तु नहीं हैं।

पूर्व :– अध्यस्त के लिए अधिष्ठान की भी आवश्यकता होती है जैसे रज्जु न हो तो सर्प की भी प्रतीति नहीं हो सकती है। रज्जू में सर्प की उपस्थिति तीनकाल में भी नहीं है। जब अन्धेरे में सर्प दिखाई देता है तो दीपक के आने पर सर्प की भ्रान्ति प्रकाश के

कारण समाप्त हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के होने संसार मिथ्या है इसका ज्ञान हो जाता है। पूर्ण रूप से ब्रह्म ज्ञान हो जाता है अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रज्जु के दीखने पर सर्प का ज्ञान नहीं रहता है।

उत्तर :– अच्छा यह बतलाओ कि यह भ्रम अवस्था अज्ञान किस-किस को हुआ। पूर्व–जीव को। उत्तर :– तुम तो ब्रह्म को छोड़कर किसी को मानते ही नहीं। अच्छा बतलाओ जीव को अज्ञान किस से हुआ? पूर्व–अज्ञान से। उत्तर–अज्ञान कहां से आया और उसका रहने का स्थान कहां है? पूर्व–अज्ञान अर्थात् अविद्या अनादि है और वह ब्रह्म में रहता है। उत्तर–क्या आप के ब्रह्म भी अज्ञानी है? अच्छा बतलाओं ब्रह्म में अज्ञान ब्रह्म का ही है या किसी ओर का, वह अज्ञान हुआ किस को पूर्व–चिदाभास उत्तर–चिदाभास का क्या स्वरूप है? पूर्व–ब्रह्म। ब्रह्म को ब्रह्म का अज्ञान अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर वह ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि बन जाता है।

उत्तर :– उस के भूलने का कारण क्या है? पूर्व–अविद्या उत्तर—अविद्या क्या सर्वव्यापी का गुण? अथवा अल्पज्ञ का? पूर्व अल्पज्ञ का। उत्तर आप के मत में तो अल्पज्ञ है ही नहीं फिर यह कहां से आया यदि ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में अज्ञान मानोगे तो वह अज्ञानी हो जायेगा और उस अज्ञान का प्रभाव सर्वत्र हो जायेगा। जिस से ब्रह्म विकारी हो जायेगा। ब्रह्म के प्रदेश भी नहीं हो सकते। और नहीं ब्रह्म के किसी भाग में अज्ञान ठहर सकता है पूर्व–यह सब उनका ब्रह्म का धर्म है। जो औपाधिक है। अतः केवल यह उपाधिका धर्म है ब्रह्म का नहीं है उत्तर :– वह उपाधि जड़ है अथवा चेतन, सत्य है अथवा असत्य है। पूर्व अनिर्वचनीय है। उसे हम जड़, चेतन, सत्य और असत्य कुछ भी नहीं कह सकते है। उत्तर :– यह कहना

ठीक नहीं क्योंकि यह कथन आपका स्वयं अपनी बात का खण्डन करता है।[1] यह कैसे हो कि अविद्या का कोई स्वरूप ही नहीं। यह तो ऐसे ही हुआ कि जैसे किसी स्वर्णकार के निकट हम दो धातुएं मिलाकर जाय और पूछें कि यह क्या है ? किन्तु वह यहीं तो कहेगा कि इस में दो धातुएं मिली हुई है। पूर्व—जैसे घटाकाश मठाकाश आदि में घट और मठ के होने से पृथक्-पृथक् होते है वस्तुत: तो एक महदाकाशी ही है ऐसी ही माया और अविद्या से युक्त होकर ब्रह्म अन्त:करण की उपाधियों से हमें अलग नजर आता है। वास्तव में ब्रह्म एक ही है। जैसे-जैसे अग्नि को हम देखते हैं, छोटे, चौड़े और लम्बे इत्यादि सब आकृति वाले पदार्थों में व्यापक होकर तदाकार दिखता है, वैसे उनसे पृथक है वैसे ही ब्रह्म एक है परन्तु वह अन्तकरणों में तदाकार होकर दिखाई दे रहा है। वैसे वह एक ही है।[1] उत्तर :— यह भी कहना व्यर्थ है क्योंकि जैसे घट, मठ और मेघ अलग-अलग है कारण कार्य रूप जगत को और जीव तथा ब्रह्म को पृथक-पृथक क्यों न माना जाये पूर्व :— ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म जड़ अथवा चेतन में व्यापक होकर आकार युक्त दिखाई देता है जैसे हजारों पानी के कुण्डो में सूर्य अलग-अलग दिखाई देता है जिसके अनेकों प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। वस्तुत: सूर्य एक है। कुण्डों के नष्ट होने पर वे प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार जो अन्त:करणों में ब्रह्म का अभाव, जिसे चिदाभास भी कहा जाता

---

१ वदतोव्याघात् यह विवाद सत्यार्थ के एकादश समुल्लास में शंकर मत समीक्षा मे है। उस का यहां टिप्पणी में देना बड़ा कठिन है क्योंकि, यह विस्तार- पूर्वक है ऊपर उस के अनुसार ही लिखा गया है।

है यह नभी तक है जब तक की अन्तःकरण है। जब अन्तकरण समाप्त हो जायेंगे तो ब्रह्म अकेला ही रह जाता है। जब तक वह अन्तःकरण रहता है तभी तक वह अपने को सुखी दुखी : पापी, भूखा प्यासा समझता है वह ऐसा अपने में आरोपित कर लेता है। जब तक उसे ज्ञान नहीं होता है। उत्तर :– यहउदाहरण अशुद्ध है क्योंकि सूर्य आकार वाला तथा कुण्डे भी आकार वाले हैं। सूर्य जल से भिन्न है, जल सूर्य से भिन्न है तभी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। प्रतिबिम्ब तभी सम्भव है जब कि एक वह पदार्थ जिसका वह प्रतिबिम्ब पड़ रह रहा हो। परन्तु यहां ब्रह्म निराकार है उसका प्रतिबिम्ब बन ही नहीं सकता है। ब्रह्म सर्वव्यापक है उस का अलग दिखाई देना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि सभी पदार्थ ब्रह्म में ही तो है उन का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है अतः वे एक भी नहीं हो सकते है। अन्वय व्यतिरेक से देखने में तो एक दिखाई देते है परन्तु वास्तव में वे पृथक् पृथक् दिखाई देते है। देखिए अन्तःकरण चलायमान है परन्तु ब्रह्म अचल है। यदि ब्रह्म को जीव से भिन्न न माना जायेगा तो जहां-जहां अन्तःकरण जायेगा वहां-वहां का ब्रह्म अज्ञानी। जहां-जहां से वह अन्तःकरण चला जायेगा वहां-वहां का ब्रह्म ज्ञानी हो जायेगा। जैसे हम छाता लेकर चलते हैं। वहां-वहां छाया, दूसरे स्थानों पर प्रकाश रहता है। इसी प्रकार अन्तःकरण ब्रह्म को ज्ञानी और अज्ञानी और मुक्त प्रतिदिन करता रहेगा। ब्रह्म के किसी देश में अज्ञान रहने से ब्रह्म का वह प्रदेश अज्ञान से युक्त हो जायेगा इसो प्रकार यदि आपके इस सूर्य और जलकुण्डों के दृष्टान्त

---

१ अग्निर्य थको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूप प्रतिरूप बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
कठ० वल्ली ५। मं ९।

को स्वीकार कर लिया जाये, तो जैसा आप ब्रह्म मानते हैं वैसा ब्रह्म ही नहीं रह जायेगा क्योंकि ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है अन्तःकरण आदि के आवरण से ब्रह्म अज्ञानी दोष युक्त बद्ध और अखण्ड से खण्ड-खण्ड हो जायेगा। पूर्व पक्ष—ब्रह्म न सर्वज्ञ है और न अल्पज्ञ है क्योंकि सर्वज्ञता और अल्पज्ञता उपाधि सहित वाले पदार्थों में होते हैं। उत्तर—उपाधि सहित कौन है ? पूर्व०— ब्रह्म। उत्तर—तब तो ब्रह्म ही सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हुआ। यदि कहो कि उपाधि कल्पित अथवा मिथ्या है तो कल्पना करने वाला कौन है। जीव है अथवा ब्रह्म ? या कोई अन्य। पूर्व०—ब्रह्म। उत्तर—जो ब्रह्म स्वरूप है वह मिथ्या कल्पना नहीं कर सकता। जो मिथ्या कल्पना कर सकता है वह ब्रह्म ही नहीं हो सकता। तुम जो यह मानते हो कि ब्रह्म ही सत्य है यह स्थापना खण्डित हो जाती हैं। पूर्व०—हम सत्य और असत्य को झूठ मानते हैं। वाणी से बोलने को भी मिथ्या मानते हैं। उत्तर०—जब आप झूठ कहने और मानने वाले हो तो तुम स्वयं झूठे हो गये। इस प्रकार तुम्हारा सिद्धान्त भी झूठा हो गया। पूर्व० सत्य और झूठ ये हमारे ही कल्पित हैं। हम दोनों के साक्षी अधिष्ठान हैं। उत्तर—जो तुम सत्य और झूठ के आधार हो तो तुम धनी और चोर सदृश हुए, ऐसा व्यक्ति कभी प्रामाणिक नहीं हो सकता है। ब्रह्म संसार के प्रपंच को फैलाता है उस समय माया जो कि ब्रह्म का आश्रय है ब्रह्म को ही आच्छादित कर लेती है। उत्तर—माया सत् या असत् है। पूर्व० माया अनिर्वचनीय है। उत्तर—संसार में हम देखते हैं कि कोई वस्तु या तो सत् होगी या असत्। सत् और असत् दोनों एक स्थान पर नहीं रह सकते। इसलिये माया अथवा अविद्या में अनिर्वचनीत्वानुपपत्ति नामक दोष आ जाता है। अतः संसार में सत् अथवा असत् ये दो प्रकार की ही वस्तुएं हैं इससे भिन्न नहीं। अविद्या का स्वरूप जो कल्पित किया है वह भी ठीक नहीं—क्योंकि तुम मानते हो कि विषय

शून्य और आश्रय शून्य अनुभूति मानते ही ये दोनों दोष नहीं बन सकते, क्योंकि दोष या पारमार्थिक हो सकते हैं या अपारमार्थिक। यदि पारमार्थिक माना जाये तो ब्रह्म के दोष भी पारमार्थिक हो जायेंगे। यदि अपारमार्थिक माना जाये तो यह जो अनुभूति द्रष्टा, दृश्य बन जाता है तो यहां पर इसके मूल में भी दोष मानना पड़ेगा इस प्रकार दोष की अनन्त कल्पना से अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः अविद्या का स्वरूप हो नहीं सकता। जिसका स्वरूप ही नहीं बनता उसकी कल्पना ही व्यर्थ है। अविद्या प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं होती। अविद्या प्रत्यक्ष प्रमाण से तो सिद्ध है ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष में तो हमें जीव और प्रकृति की सत्ता स्पष्ट रूप से दिखलायी ही देती है। पूर्व० परमार्थ रूप से प्रत्यक्ष तो सब मिथ्या है क्योंकि प्रत्यक्ष भी अविद्या वत् है।[1] उत्तर० यदि प्रत्यक्ष भी मिथ्या है तो संसार में कोई प्रमाण ही नहीं रहेगा। प्रत्यक्ष को मिथ्या कहने वाले की बात स्वयं मिथ्या है क्योंकि मेरे सामने देवदत्त खड़ा है। में यह कैसे कह सकता हूं कि मुझे देवदत्त प्रत्यक्ष नहीं हो रहा। तुम जो सर्प रज्जु के दृष्टांत देते हो वह भी तो प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान नहीं बन सकता और प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं तो शब्द प्रमाण भी नहीं ठहरता। हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष ही कारण और कार्य का अनन्यत्व बताता है जैसे–तन्तु स्थानीय कपड़े में वस्त्रनामी कार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है तानाबाना किए हुए तन्तु ही प्रत्यक्ष दीखते हैं और तन्तुओं में उनके अंश और उन अंशों में उनके अवयव। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से ही अनुमान किया जाता है। क्या तुम ब्रह्म को अभिन्न निमितोपादान कारण सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष और अनु-

---

१ अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

मान का आश्रय नहीं लेते हो ? तुम्हारी सभी युक्तियां प्रत्यक्ष और अनुमान पर ही आधारित है। आप लोग अज्ञान को भावरूप मानते हो जो कि ठीक नहीं है। क्योंकि अनुमान से भी ऐसा सिद्ध नहीं होता है।

पूर्व०— अनुमान से अज्ञान भावरूप वन सकता है क्योंकि अविद्या को प्रमाणिन करने वाला ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के अनन्तर होता। जो वस्तु ज्ञान के प्रागभाव से विल्कुल भिन्न ज्ञान के विषयों को ढकने वाली, ज्ञान के द्वारा हटने वाली तथा ज्ञान के स्थान में अवस्थित अथवा बनी रहती है। (साध्य) दूसरा यह है कि प्रमाण ज्ञान अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाशित करता है। (हेतु) जिस प्रकार अन्धकार में पहले-पहल उत्पन्न होने वाली दीप की प्रभा होती है। यहां पर हल देखते हैं कि प्रमाण ज्ञान का विषय ब्रह्मादि हैं उसके स्वरूप को ढकने वाला प्रमाण ज्ञान का देश आत्मा है उसी में अवस्थित रहने वाला वह प्रमाण ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न है। इन युक्तियों से सिद्ध होता है कि जो दीप प्रथम प्रकाश की किरणों को फैलाता है। उसी में अन्धकार भी नष्ट करने की शक्ति होती है। जब हम प्रथम बार दीप को कमरे में जलाते हैं तो वह कमरे में रखी हुई सभी अप्रकाशित वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार अन्धरी की तरह किसी दूसरी वस्तु को हटाकर प्रमाण ज्ञान भी अप्रकाशित को प्रकाश में ले आता है। जो वस्तु हटाई जाती है वही अविद्या अथवा अज्ञान है, जो अनुमान द्वारा भावात्मिकता सिद्ध होती है। और जिसकी व्यावृत्ति ज्ञान द्वारा हो जाती है।

उत्तर पक्ष :— उपर्युक्त अनुमान तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है क्योंकि ज्ञान को आप एक दूसरी वस्तु अज्ञान के बाद

सिद्ध करते हैं तो यह अज्ञान भी एक दूसरे अज्ञान की अपेक्षा रखेगा, ऐसा आप कर नहीं सकते क्योंकि ऐसा करने पर अर्थात् दूसरे अज्ञान से प्रपंच का आवरण हो जाने पर संसार की ही भावना मिट जायेगी. जो कि मायावादियों के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। यदि आप भाव रूप अज्ञान को या उसके साधक अनुमान को तथा यह कथित विशेषणों से युक्त किसी दूसरी वस्तु के पश्चात् सिद्ध नहीं करेंगे तो हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। दूसरे आपका वह अनुमान साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं रखता है! क्योंकि वास्तव में दीपक की प्रभा अप्रकाशित वस्तु को प्रकाशित नहीं करती। ज्ञान किसी वस्तु का प्रकाशन कर सकता है। दीपक के रहते भी ज्ञान से ही विषयों का प्रकाशन होता है। चक्षु इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न करती है। उसी समय प्रदीप प्रभा सहायक के रूप में प्रकाश के विरोधी घने अन्धकार को दूर करके साधन बनती है। जिस अज्ञान के विषय में विवाद है। वह विशुद्ध ज्ञान के स्वरूप ब्रह्म में आश्रय नहीं ले सकता क्योंकि वह अज्ञान है जबकि दूसरा ब्रह्म ज्ञान है क्योंकि जैसी सुख आदि के बारे उत्पन्न अज्ञान ज्ञाता पर ही तो आश्रित है, न कि ज्ञान पर। क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। इसी प्रकार आप (द्वैत) का वह रूप अज्ञान ज्ञाता पर ही आश्रित है न कि ज्ञान पर। परन्तु आप तो इस अज्ञान को ज्ञान रूप ब्रह्म पर आश्रित मानते हो जो कि ठीक नहीं है। यदि आप कहे कि सुख आदि के विषय में होने वाले अज्ञान का आश्रय स्वचेतन है। उसका स्वभाव ही विशुद्ध ज्ञान है, फिर अज्ञान का आरोपण ज्ञान स्वरूप आत्मा पर कैसे करते हैं। इस का उत्तर यह है कि अनुभव करना, अनुभव करने वाली आत्मा का

वल अपनी सत्ता से किसी वस्तु में व्यवहार

की योग्यता उत्पन्न करने का स्वभाव रखता है। जिस अनुभूति के ज्ञान अवगति, संविद आदि बहुत से नाम है। तथा जो धर्म कर्म

करने वाला भी है। अनुभव करने वालों को आत्मा और आत्मा की वृत्तियों में स्थित एक गुण को ज्ञान कहते हैं। यदि आप कहे कि-ज्ञान तो आत्मा स्वरूप है, तो भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वरूप होते हुए गुण भी है जिस प्रकार मणि, सूर्यादि तेजस पदार्थ स्वयं प्रभा से युक्त स्वरूप से अवस्थित है। किन्तु प्रभा रूपी गुण के आश्रय स्थान भी है। अर्थात् सूर्य आदि तेज के स्वरूप भी है। अर्थात् सूर्य आदि तेज के स्वरूप भी होकर भी तेज के एक प्रकार के प्रभा गुण से भरे हैं। जिस प्रकार प्रभा मुख्यतः द्रव्य है, गौण रूपेण उसे गुण मानते हैं। उसी प्रकार ज्ञान भी मुख्यतः द्रव्य (आत्मा का स्वरूप) गौण रूप से उसे गुण के रूप में समझते हैं। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है।

नमक का टुकड़ा जैसे अन्तबाह्य का विना भेद किए रस का ही खण्ड है। उसी प्रकार यह आत्मा अन्तबाह्य के विभाजन से शून्य हो प्रज्ञान ही खण्ड है। इसमें ज्ञान को आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है कि जो यह समझे कि मैं इसे सूंघ रहा है, वहीं आत्मा है।[1]

हमने यहां पर देखा है कि उपनिषदों में भी आत्मा को ज्ञान स्वरूप और कुछ में अज्ञान गुणक यथा तथा ज्ञान स्वरूप दोनों माना गया है। इस प्रकार रामानुज का कथन है कि जहां अज्ञान को भाव रूप मानने में प्राप्त प्रमाण भी स्वीकार नहीं है क्योंकि कहा कि जो ऋत से भिन्न हो उससे ढका हुआ है।।

---

१ स तथा सन्धवघनाऽतरोऽब्राह्यः कृत्स्नो रसघनो रूपैवं वा अरेऽयंमात्मानन्तरोऽ वाह्यः कृत्स्न प्रज्ञानघनः एव

बृ० उ० ४.५.१३

यहां पर उसे भिन्न पाप कर्मों का कहा है न कि अज्ञान कहा गया है। जो ब्रह्म की प्राप्ति का विरोधी है। क्योंकि ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है। जो इस ब्रह्म की प्राप्त नहीं करते हैं, वह अनृत से ढके हुए हैं।2 आप लोग जो अनृत का अर्थ अविद्या करते हो सो ठीक नहीं। यहां पर तो केवल अनृत अर्थ का वे पाप कर्म है जो ब्रह्म लोक प्राप्ति में बाधक बन जाया करते हैं। क्योंकि ऋत उन कर्मों का कहते हैं जो हमें ब्रह्म लोक की प्राप्त कराते हैं।

माया शब्द भी जिसे आप लोग अनिर्वचनीय अविद्या कहते हैं, यह भाव रूप अज्ञान का वाधक नहीं है अपितु विचित्र पदार्थों की सृष्टि करने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही है।3

पूर्व :– अद्वैत की सिद्धि में श्रुति प्रमाण है। उपनिषद, गीता में इस प्रकार के प्रमाणों को कोई न्यूनता नही है। निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि ब्रह्म निर्विशेष है, आत्मा और ब्रह्म की एकता अज्ञान के नष्ट होने पर हो जाती है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।4 जिस प्रकार मिट्टी मूल में सत्य है, शेष जितने भी पदार्थ मिट्टी से बने हैं, उसका विकार मात्र है।5 अतः इस

---

१ अथ यो वेदेदं स आत्मा छ० ८.१२.४.
न चानृतेनहि प्रत्यूढ़ाः छ० ८.३.२ ॥
२ य एतलोकं य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेनहि प्रत्यूढाः।
३ मायां तु प्रकृतिं विद्यात् (श्व० उ० ४.१०) छा० ८.३.२ ॥
४ ब्रह्म वेद ब्रह्नैवभवतीति। मु० ३.२.९ ॥
५ मृत्योः समृत्युमाप्नोति विकारो नामधेयमृत्तिकेत्येवसत्यम्।
(छान्दोग्य ६-१-८)

प्रकार ब्रह्म केवल पारमर्थिक सत्ताहै शेष में जगत् आदि तो माया के विकार जानो। जो नानात्तव का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है[1] जब तक यह द्वैत रहता है तभी तक सभी दुःख है। यह जो सब कुछ दिखाई देता है वह आत्मा है। चिन्मात्र ब्रह्म है, जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता, ज्ञेय आदि जो भेद हैं। वे सब कल्पित और मिथ्या हैं १ में (ब्रह्म) ही सर्व भूतों का एकमात्र आश्रय हूं। ब्रह्म ही केवल है दूसरे पदार्थ नहीं हैं।

उत्तर :— वस्तु हमेशा अपने गुणों के साथ होती है। अर्थात् वस्तु सविशेष होती है निर्विशेष कभी नहीं। हम देखते हैं कि पदार्थ सविशेष रूप से, किसी न किसी विशेषण के साथ प्रतीत होता है। सभी वस्तुओं के स्वभाव अथवा विशेष धर्म होने से सभी वस्तुयें सविशेष ही है। कहीं भी निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। स्वभावतः ज्ञाता का ज्ञातव्य विषय का प्रकाश करना ही ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ब्रह्म भी सविशेष है। जैसा कि शास्त्र में कहा वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त आदि गुणों वाला है उसके अन्दर अननतादि गुण विराजमान है इससे ब्रह्म भी सविशेष हो हुआ।

पूर्व :— वह ब्रह्म निर्विशेष है। तुमने जो सत्यार्थ गुणों वाला अर्थ किया हुआ ठीक नहीं अपितु वह ब्रह्म है असत्य नहीं, अज्ञानी नहीं और सान्त नहीं है। इसका निषेधात्मक अर्थ करना चाहिए।

उत्तर— फिर वह कैसा है यह भी नहीं, वह भी नहीं। उसका अपना स्वरूप क्या हुआ जिस वस्तु का अपना स्वरूप नहीं होता वह

---

१ इदं सर्वं यदंयमात्मा (वृहदा० ४.५.७ ॥

पदार्थ पदार्थाभास ही होगा। यह तो माना जा सकता है कि जो गुण उसमें न हो उनका खण्डन किया जाये जैसे ब्रह्म के अन्दर रागद्वेष कपट जड़ता आदि गुण नहीं उस दृष्टि से वह निर्गुण है परन्तु उसमें चेतनता, न्याय-ज्ञान, अनन्तता गुण विराजमान है इसलिए वह सविशेष अर्थात् सगुण भी हो गया है। अतः उपनिषदों में जो उसके लिए निर्गुण निष्कल आदि शब्द आये हैं यह सापेक्ष हैं। अर्थात् उस अपने स्वभाव एवं स्वरूप वाले विशेषण अर्थात् गुण हैं विरोधी नहीं। किसी वस्तु के विशेषण जहां व्यावर्तक होते हैं अर्थात् दूसरी वस्तु से पृथक करने वाले होते हैं वहां पर विशेषण उस वस्तु का प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है।1 यहां अद्वैत शब्द जीव और दूसरे पदार्थों से पृथक करता है विशेषण जो प्रकाश करने वाला है वह ब्रह्म एक है हमें इसका ज्ञान कराता है। जैसे इस नगर में देवदत्त अद्वितीय धनी है, विक्रम सिंह सेना में अद्वितीय शूरवीर हैं।2 इससे यही सिद्ध होता है कि देवदत्त के समान इस नगर में दूसरा कोई धनी नहीं है। विक्रम सिंह के समान सेना में कोई शूरवीर नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म के विषय में समझना चाहिए। शेष आपने जो अद्वैत की सिद्धि में प्रमाण दिये है उनकी भी संगति समझनी चाहिए। क्योंकि उपनिषद् और वेदादि में द्वैत परक बहुत वचन हैं जिनकी इसी प्रकरण में आगे व्याख्या होगी।

---

१ सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, । ४ एकेमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।
अहमात्मा गुडाकेश । सर्वभूताशयस्थितः । (गीता १घ.३)

२ अशेष विशेष प्रत्यनीकचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थः तदतिरेकि नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम् (छा ६.२.१.)

पूर्व०–आप तो कहते हैं कि उपनिषद् वाक्यों कि संगति लगा लेनी चाहिये परन्तु तैतिरीय उपनिषद् में आता है कि जीवात्मा और ब्रह्म में थोड़ा सा भी अन्तर करता है उसको भय होता है।

उत्तर– इसका अर्थ जो आपने किया सो ठीक नहीं। अपितु यह है कि जो मनुष्य उस परब्रह्म परमात्मा का खण्डन करता अथवा जो अपने पराये का भेद करता है तथा परमात्मा को सर्व व्यापक न समझकर उसके नियमों के विपरीत आचरण करता है और जो दूसरों से शत्रुता है उसको भय प्राप्त होता है।

पूर्व– मैं ब्रह्म हूं और वहतू ब्रह्म है[1] इत्यादि वाक्य भी तो स्पष्ट अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं।

उत्तर– यहां पर ऋषि दयानन्द जी के शब्दों में इन वाक्यों का अर्थ दिखाते हैं। मैं ब्रह्मस्थ हूं, यहां तात्स्थ्योपाधि है (जैसे हम कहते हैं) कि मञ्चान पुकारते हैं।[2] मञ्चान जड़ है, उनमें पुकारने का सामथ्र्य नहीं इसलिए मञ्चस्थ पुरूष पुकारते हैं इसी प्रकार यहां भी जानना। कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं पुन जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्स्थ हैं परन्तु साधर्म्य युक्त निकटस्थ जीव है वैसा अन्य नहीं, और जीव की ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य व तत्सहचरितोपाधि अर्थात् ब्रह्म का सहकारी जीव है। इससे ब्रह्म

---

१ प्रवर्तक प्रकाशक विशेषणं भवतीति। (सत्यार्थ प्र० ७ समुल्लास)
२ अस्मिन् नगरेऽद्वितीया धनाढ्यों देवदत्तः। अस्यां सेनायां अद्वितीय शूरवीरो विक्रम सिंहः)

और जीव एक नहीं है ।1 अब हम वह तू है इसका स्पष्टीकरण करते हैं। इससे एक बात तो यह है कि आप लोग जो तत् पद से ब्रह्म को लेते हो सो ठीक नहीं है क्योंकि यहां ब्रह्म शब्द तो है नहीं। हम उपनिषद् के समस्त वचन को रखते हैं जिसका अर्थ है कि वह ब्रह्म जाना जा सकता है जो वह सबके अन्दर व्याप्त हो रहा है अर्थात् सभी पदार्थों और जीव का अन्तर्यामी ब्रह्म से तू युक्त है। इस प्रकार का उपदेश श्वेतकेतु के पिता दे रहे हैं।

हमने जो अर्थ किया है उसका स्पष्टीकरण उपनिषद् के इस वचन में स्पष्ट आया कि महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को को उपदेश देते हैं कि जो ब्रह्म जीव आत्मा में स्थित और उस जीव से भिन्न है, जिसे अविद्वान लोग नहीं जानते हैं वह परमात्मा हमारी आत्मा में व्यापक है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार हमारे शरीर में जीवात्मा है, उसी प्रकार जीव में परमात्मा व्यापक है। ऐसे परमात्मा को तू जान।

इस उपरोक्त वचन से यह सिद्ध होता है कि जीव परमात्मा से भिन्न है परन्तु परमात्मा उस जीवात्मा में भी व्यापक होने से इस प्रकार वचन आते हैं कि जो ऐसे प्रतीत होते हैं अद्वैत का प्रतिपादन कर रहे हो परन्तु वास्तव में वे जीव और ब्रह्म को भिन्न ही मानते हैं। जब योगी समाधिरूप होकर ब्रह्मा का साक्षात्कार करता है तो कहता है कि जो परमात्मा व्यापक मेरे अन्दर हो रहा है।1 ब्रह्म शब्द का अर्थात् होता है आच्छादन करने वाला अर्थात् सर्त्र व्यापक

---

१ अथोदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति
अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि। ५ मञ्चाः क्रोशन्ति

है। ऐसा ब्रह्म का अर्थ मानकर अर्थात् योगी उसका साक्षात्कार कर के ऐसा अनुभव करता है। जैसा कि उपर कह आये हैं।

ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है ऐसा जो आप लोग मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि इसका अभिप्राय: यह है कि ब्रह्मवित को प्राकृतक नाम रूप समाप्त हो जाता है तब वह ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त होता है। आनन्द साम्य से ऐसा कहा जाता है। जैसे हम पीछे बतला आये हैं।

पूर्व– भाग्य त्याग लक्षण द्वारा हम जीवात्मा और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। जैसे यह वही देवदत्त हैं जो ग्रीष्मकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा ऋतु में मथुरा में देख रहा हूं।[1] यहां पर काशी उष्णता, वर्षा ऋतु मथुरा आदि को छोड़कर शुद्ध देवदत्त का ग्रहण होता हैं इसी प्रकार ईश्वर का परोक्ष देश, काल माया उपाधि और जीव का देशकाल, अविद्या और अल्पज्ञता आदि छोड़ देने से शुद्ध ब्रह्म शेष रहता हैं। अतः भाग्यत्याग लक्षणा अर्थात् दोनों ओर विभिन्नता वाले विशेषणों को छोड़कर, केवल दोनों तरफ साम्य को लेकर किसी वस्तु का निर्णय कर लिया जाता है।

उत्तर–यह भी ठीक नहीं क्योंकि माया से विशिष्ठ जो तुम ईश्वर मानते हो, उसका हम पीछे खण्डन कर आये हैं। यहां इतना सम-

---

१ य आत्मानि तिष्ठन्नात्मनोऽतरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् आत्मनोऽतरो यमयाति सत आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

स०प्र० ७ स०छा० ३.७.२२.

२ अयमात्मात्मा ब्रह्म (वृञ्,वृद्धौ,बृञ्, आच्छादने) माण्डू क्य० २ (स०प्र० ७ स०)

झेंगे कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों नित्य हैं। आपका उक्त दृष्टान्त ईश्वर और जीव के पक्ष में नहीं घट सकता, क्योंकि वहां तो देवदत्त ही केवल भिन्न-भिन्न स्मृतियों में देखा हैं। परन्तु जीवात्मा के विषय में भी यह आया हैं कि वह नित्य हैं और शरीर के नष्ट होने पर वह नष्ट नहीं होता हैं।[1] विशेष जीवात्मा की नित्यता जीव प्रकरण में सिद्ध करेंगे।

पू० प०– ब्रह्म का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने में आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में कहा हैं कि मकड़ी अपने अन्दर से ही तन्तु निकाल जाला बनाकर उसमें क्रीड़ा करती है और उस बने हुए जाल को अपने अन्दर पुनः समेट लेती हैं ठीक इसी प्रकार ब्रह्म अपने में से जगत को बना आप जगदाकार बन इस संसार में स्वयं क्रीड़ा कर रहा हैं।[2] क्योंकि माण्डूक्योपनिषद् पर गोडपाद आचार्य ने इस प्रकार कहा हैं जो प्रथम न हो अन्त में रहें वह वर्तमान में भी नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि के आदि में जगत न था केवल ब्रह्म था प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म ही रहेगा तो वर्तमान में भी ब्रह्म क्यों नहीं हैं।[3]

---

१ सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः स इदानीं प्रावृट समये मथुरायां दृश्यते

२ नायं हन्ति न हन्यते (गीता) अजो नित्य शाश्वतोऽयम्
(गीता २.१८)

३ स य एषोणिमा ॥ ऐतदात्म्यमिद सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति स०प्र० ७ वा०स०छा० ६ ७.

उ० प०— यदि आप के कथनानुसार जगत् उपादान कारण भी ब्रह्म हो तो वह परिणामी और विकारी हो जायेगा। क्योंकि उपादान कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य में आते है। जैसे—मिट्टी से घट बनता है घट का मिट्टी उपादान कारण है घट में भी मिट्टी के जडत्व आदि गुण आते है ठीक इसी प्रकार जो ब्रह्म सच्चिदानन्द—स्वरूप है चेतन है उस के ये गुण भी जगत् में दिखाई देने चाहिये परन्तु जगत् इस प्रकार का नहीं है इसलिपे ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता ऊपर आप ने जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया है आपके मत को सिद्ध नहीं करता है अपितु खण्डन ही करता है। क्योंकि मकडी का जो जड शरीर है वह तन्तु का उपादान कारण है और जीवात्मा उस का निमित्त कारण।[3]

अब तक हमने अद्वैतवाद का खण्डन उस का पूर्वपक्ष रखते हुए युक्तियों द्वारा किया। कहीं-कहीं उपनिषद् वचनों को लेकर, जिनको कि अद्वैतवादी अपने मत में दिया करते है उन सभी वचनों की संगति हम इसी प्रकरण में लगा चुके है। अब इस से आगे दर्शन ग्रन्थों में त्रैतवाद प्रतिपादक प्रमाणों का उल्लेख करेंगे।

---

१ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। मुण्डुकोप ७॥

२ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने कि तत्तथा।

गोडपादीय का० अलात् ४.३१।

३ क्योंकि वह जड़ रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है। यह भी परमात्मा की अद्भुत् रचना का प्रभाव है सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ८।

वेदान्त दर्शन :-

वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र में ही कहा कि इसके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं।1 यहां पर ब्रह्म दूसरा उसी की जिज्ञासा करने वाला यह स्पष्ट द्वैत की निष्पत्ति है।

ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं, क्योंकि जीवात्मा के आनन्द की उपपत्ति युक्ति द्वारा प्रतिपादन नहीं की जा सकती।2

यहां पर ब्रह्म और जीव में भेद दिखाते हुए व्यास ने यह दिखलाया है कि जीवात्मा और ब्रह्म एक नहीं है अपितु भिन्न-२ है क्योंकि ब्रह्म जो आनन्द स्वरूप है जीवात्मा वैसा नहीं।

भेद का कथन होने से जीवात्मा तथा आनन्दमय ब्रह्म पृथक२ है। जीवात्मा और ब्रह्म में भेद यही है कि ब्रह्म आनन्दमय है और जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं है। क्योंकि शास्त्रों में केवल सत्‌चित् कहा है। हां इतना अवश्य है कि वह आनन्द की प्राप्ति का प्रयास करता है।3

जीवात्मा में उक्त गुण न होने से ब्रह्म से भिन्न है। यहां पर सूत्रकार यह बतलाना चाहते हैं कि जीवात्मा केवल शरीर में रहता है परन्तु सर्वव्यापक और सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। वह ब्रह्म जन्म मरण आदि के बन्धन में नहीं आता है। इस-लिए वह ब्रह्म जीवात्मा के सदृश्य नहीं है।4

---

१ अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (वेदान्त १.१.)
२ नेतरोऽनुपपत्तेः १.१.१६.
३ भेदव्यपदेशाच्च १.१.१७.
४ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः १.२.२.

जीवात्मा कर्म एवं कर्त्ता के कथन से युक्त होने से वह उपास्य नहीं अपितु उपासक हैं। यहां सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि उपास्य और उपासक भिन्न-भिन्न है। उपासक जीवात्मा के हृदय में उपास्य आत्मा ब्रह्म सदैव विराजमान रहता है। अतः वह सत्य संकल्प आदि गुणों वाला जीव 'ब्रह्म से पृथक है ऐसा समझना चाहिये।[1]

प्राण धारण करने वाला आत्मा घी आदि का आयतन सम्भव नहीं यह जीवात्मा द्यौ आदि का आयतन नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से अल्पज्ञ है। संसार की रचना में यद्यपि जीवात्ला के कर्म निमित्त होते हैं परन्तु फिर भी वे जड़ है इसलिए वे नियन्ता नहीं बन सकते। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा से भेद है अतः जीवात्मा द्यौ आदि का आयतन सम्भव नहीं है।[2] जैसे आकाशादि उत्पत्ति प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध होते हैं वैसे जीवात्मा के विषय में उत्पन्न होन के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते क्योंकि उसे तो श्रुति में जन्म लेने वाला न मरने वाला, नित्य और शाश्वत आदि नामों से कहा है।[3]

जगत् सम्बन्धी व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्त आत्मा को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जहां जगत् की रचना का शास्त्र में कथन है, वहां ब्रह्म का प्रकरण समझना चाहिए। मुक्त आत्माओं का नहीं।[4]

---

१ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च १.२.४.

२ प्राणमच्च। भेदव्यपदेशात् वेदान्त १.३.४.५.

३ नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः २.३.७.

४ जगत् व्यापार वर्ज प्रकरणसन्निहित्वाच ४.४.१७.

इन उपरोक्त वेदान्त दर्शन के सूत्रों में ब्रह्म जीव और प्रकृति में भेद दर्शाया है। समस्त वेदान्त दर्शन में एक भी सूत्र उसमें उपलब्ध नहीं होता जो अद्वैत का प्रतिपादन करता है परन्तु आचार्य शङ्कर माया और अविद्या की कल्पना करके दर्शन का भाष्य अद्वैत परक कहते हैं। यद्यपि आचार्य शङ्कर ने इन उपरोक्त सूत्रों का अर्थ भेद परक ही किया है। परन्तु वे यह कहना भी नहीं चूकते कि यह भेद अविद्या के कारण है। प्रत्येक सूत्र के साथ उन्होंने ऐसा लिखा है जब कि जीवात्मा की मुक्ति का वर्णन करते हुए समय इस बात की अंगीकरण करते हैं कि कल्पतक का जीवात्मा की मुक्ति में रहते हैं। क्योंकि उन्होंने वृहदारण्क के एक वचन का अर्थ करते हुए कहा है। कि जीवात्मा मुक्तावस्था में अनेक वर्ष अर्थात् कल्पपर्यन्त निवास करते है। मुक्ति में जीवात्मा सदा के लिये नहीं रहता है। ऐसा भाव आचार्य शंकर ने अनेकों स्थानों पर व्यक्त किये हैं। उन में के कुछ का उल्लेख मुक्ति से पुनरावर्तन प्रसंग में करेगे। अब ये समझ नहीं आता कि जब शंकर मुक्ति में जीव को कल्प पर्यन्त मानते है तो फिर वे अद्वैतवादी कैसे हुये। अस्तु यह विद्वानो का अन्वेषणीय विषय है।

हमने देखा कि वेदान्त दर्शद भेद का प्रतिपादन करता है। ईश्वर जीव और प्रकृति का उल्लेख स्थान-स्थान पर उन्होंने किया है कि जीव के गुण प्रकृति में ईश्वर के गुण जीव में नहीं आ सकते है। इस प्रकार मूल तत्व त्रय का प्रतिपादन स्वरूप से हुआ है।

न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन तो स्पष्ट रूप से द्वैत को मानते ही है। ये दोनों प्रमाणुओं को नित्य मानते है जिस से जगत् का निर्माण हुआ है। न्याय ने बारह प्रमेय माने हैं उनमें औ र शरीरादि को माना है। शरीर प्रकृति का विकार है। आत्मा चेतन तत्त्व जो

नित्या ऐसा न्याय और वैशेषिक स्वीकार करते हैं। आत्मादि का विषय जीव की सिद्धि में लिखा जायेगा। न्याय और वैशेषिक तो द्वैत को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते ही हैं। विशेष इनका प्रमाण जीव प्रकृति आदि की सिद्धि में दिया जायेगा। यहां इतना ही पर्याप्त है।

सांख्य और योग दर्शन में भी द्वैत को अंगीकार किया गया है। सांख्य प्रकृति से जगत् की रचना करता है और उस प्रकृति को वह नित्य मानता है।[1] सृष्टि रचना की यही प्रणाली योग दर्शन ने भी मानी है। ईश्वर को[2] दोनों ही स्वीकार करते हैं। हां सांख्य–कारिका में ईश्वर का अवश्यमेव खण्डन किया है परन्तु महर्षि दयानन्द सांख्य सूत्रों को ही प्रमाणिक मानते हैं जिसमें ईश्वर को स्वीकार किया गया हैं।[3] इस प्रार सभी दर्शनों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के नित्यत्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

□□

---

१ परावत: प्रकृष्ठा: समा: सम्वत्सरान अनेकान् वसन्ति।
ब्रह्मण अनेकान् कल्पान् वसन्ति त्यर्थे: ॥

छा० ६.२.५ शांकर भाष्य।

२ ······पुरुष विशेष ईश्वर: (सां० १.२४)

३ ईदृश ईश्वर सिद्धि सिद्धा ॥ साख्य ॥ ३.५७ ॥

तृतीय अध्याय

ब्रह्म मीमांसा

एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद-

वेदों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से देवों का स्मरण किया गया है। यह उपासना उन्हें एक सम्पूर्ण देव मानकर चलती है, कहीं अग्नि को पूर्णदेव मानकर स्तुति की जा रही है तो कहीं इन्द्र को ही सर्वोत्तम मानकर उससे अपनी रक्षा आदि की कामना की जा रही है। कहीं रुद्र का ईश्वरत्व प्रकट हो रहा है तो कहीं वरुण और मित्र का। कहीं सूर्य के गीत गाये जा रहें हैं तो कहीं पूषन् के। कहीं सविता को अखिल विश्व का स्वामी बताया जा रहा है तो कहीं भग को और कहीं विष्णु को इन समस्त तीनों लोकों का आराधक मानकर उपासना की गई है। इस प्रकार वेदों में बहुत से देवों की स्पष्ट सत्ता प्रस्थापित की हुई मिलती है। ये देवता द्युलोक के आवासी भी हैं और अन्तरिक्ष के भी। ये प्राकृतिक शक्तियां भी कही जाती हैं और भाव-संवलित आकारधारी भी। इन सबको अपने-अपने सन्दर्भों में विशिष्ट-२ व्यक्तियों से युक्त माना गया है। अमरत्व और अपरिवर्तनशीलता इनके गुण हैं। यद्यपि उन्हें विपुल शक्ति सम्पन्न माना गया है। संसार का कल्याण - अकल्याण इन्हीं की कृपा पर आधारित माना गया है। इसलिए मानवमात्र से उनको प्रसन्न करके जगत्-कल्याण हेतु कामना करने का उपदेश दिया गया है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों का अधिनायक इन्हीं देवताओं को माना गया है। उनका पृथक्-पृथक् अपना निर्धारित क्षेत्र बतलाया गया है।

यही बहुदेववाद का विचार शनैः शनैः प्रगति की ओर अग्रसर होता है और सभी शक्तियों, सभी देवताओं के उपर एक अमोघ

शक्ति का उद्घोष वेदों में होता है 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—जो कहकर उसको ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मस्पति, वरूण, मित्र, अर्ममा, रुद्र, पूषन्, सविता और भग देवता बताया जाता है।1 पूर्वोक्त समग्र बहुदेववाद की प्रतिच्छाया एकेश्वरवाद के पूर्णलोक में सिमट जाती है। सभी शक्तियां, सभी व्यक्तित्व या तो उसी के द्वारा आयोजित बताये जाते हैं अथवा उसी को इन भिन्न-२ में देखा जाता है। कहीं उसे विराट् की संज्ञा दी जाती है। कहीं उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सब नामधारी देवताओं का उसी को समाधार कहा गया है।2 इतना ही नहीं, उसे समस्त जगद्रूप भी कहा गया है।3 महर्षि यास्क भी कहते हैं कि— महाभाग्यवाद् देवता या एक आत्मा बहुधा स्तूयते। (निरूक्त देवतकाण्ड ७.१.)

---

१ (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुद्रयोनमस्यः।
त्वं ब्रह्म रयिविद्र ब्रह्मणस्पते विर्घज्ञ सर्वसे पुरध्या ॥
(ऋग्वेद २.१.३)

(ख) त्वमग्ने राजा वरुणो वृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्मदयः।
त्वमर्यमा भवसि यस्य संमुजत्वमंशो विदये देवभाज्यः॥
(ऋग्वेद २.१.४.)

(ग) त्वमग्ने द्रविणोदा अलंकृते त्वं देवः सविता रत्नप्रा असि।
त्वं भर्गो नृपते वस्व ईशिशे त्वं पाथये यस्तेजविघत् ॥
(ऋग्वेद् २.१.७)

(घ) इद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य सुपर्णो गरूमान्।
एकं सद्विप्रा बहुणा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥

२ यो देवानां नामध एक एव।
ऋग्वेद–१०.८२.३., यजु० १७.२७, अथर्व० २.१.३

३ यजु० ३२.१.

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही दार्शनिक एकेश्वरवाद के समर्थक हैं। दोनों एक परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले हैं। किन्तु दयानन्द का एकेश्वरवाद रामानुज के एकेश्वरवाद से उन अर्थों में भिन्नता रखता है, जिन अर्थों में रामानुज सर्वेश्वरवाद की ओर अग्रसर होते हैं।

आचार्य शंकर ने सम्पूर्ण अर्थों में सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया है। उन्होंने परमात्मा का एकात्मक प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों के आधार पर जिनमें—सर्व खल्विदं ब्रह्म "न नानास्ति किंचन" एकं ब्रह्म सत्य इत्यादि है। शंकर ने परमात्मा को परम सत्य ही नहीं प्रत्युत एकमात्र तत्व स्वीकार किया है। शंकराचार्य के अनुसार यह समस्त जगत् मिथ्या है। मिथ्याज्ञान किंवा अविद्या का विकार है। जीव भी अन्तःकरणा वा छिन्न परमात्मा ही है। अतः वह भी उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। इसलिये जगत् के मिथ्या होने से, जीव के प्रमुख ब्रह्म होने से एकमात्र वह ब्रह्म ही परम सत्य है। अन्य किसी भी तत्व की सत्ता सत्य नहीं है। इस प्रकार आचार्य का एकत्ववाद अपने सम्पूर्ण अर्थों में सर्वेश्वर है। यह जगत् और यह जीव अन्ततोगत्वा उसी के रुपान्तरण हैं।

आचार्य रामानुज उक्त सर्वेश्वरवाद की ओर तो बढ़ने को उत्सुक से प्रतीत होते हैं किन्तु अन्येतर तत्वों का यथार्थ उनके विचारों के पैरों को बांधता हुआ सा प्रतीत होता है। इस लिये वे उस रूप

---

१ (क) स०प्र० पृष्ठ ११५।
(ख) वासुदेवा सर्वम्—गीता—रा०भा० ७.१४।
(ग) सर्ववेदान्तेव सर्वे शब्दः परमकारणतथा जयमेव गीतये इत्यर्थं (वेदार्थ संग्रह—पृष्ठ १८० ॥

में सर्वेश्वरवादी नहीं बन पाते, जिनमें शंकराचार्य हैं। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वराश्रित ही हैं। इसलिये वे जीव और जगत् अपने-अपने स्वभावों के कारण ईश्वर से भिन्न होकर भी ईश्वर से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक शरीर अपने अस्तित्व के लिये अपनी आत्मा पर निर्भर करता है, किन्तु वह आत्मा से भिन्न होता है, उसी प्रकार जीव और जगत् परमात्मा का सम्बन्ध है। रामानुज इसी अभिन्नता के आधार पर परमात्मा को उपादान कारण एवं निमित्त कारण स्वीकार करते हैं। इस अर्थ में वे अद्वैतवाद, अभिन्ननिमितो-पादनेश्वरवादी हैं। इसलिये वे भी सर्वेश्वरवादी ही हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे रामानुज—अभिन्नता जीव जगत् को परमात्मा ही नहीं मानते, प्रत्युत उनकी अपनी-अपनी सत्ता को भी सत्य मानते हैं। इसलिये वे त्रितत्व समर्थक होकर भी सर्वेश्वर वादी हैं। उनका सर्वेश्वरवाद (विशिष्टाद्वैत) उन्हें उपान्तरित सर्वेश्वरवादी कहने के लिये बाध्य करता है, यही उनका अपना वैशिष्ट्य है। जिनके कारण—अर्थात् जीव और जगत् विशिष्ट—परमात्मा को स्वीकार करने से विशिष्टाद्वैतवादी है।

किन्तु दयानन्द इस प्रकार का उपान्तरित सर्वेश्वरवाद स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार परमात्मा की सत्ता शाश्वत है और सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु जीव और जगत् की सत्ता भी अनादि है, तस्मात् वे दोनों भी यथार्थ हैं। यद्यपि ईश्वर के साथ उनका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, किन्तु किसी भी प्रकार वे अपनी यथार्थता के लिए ईश्वर के आश्रित नहीं हैं। दयानन्द, आचार्य रामानुज की भांति त्रितत्व का मूल किसी एक (परमात्मा) को ही नहीं मानते। उनके त्रितत्व अपने-अपने में सर्वथा सत्य हैं और यथार्थ हैं। सृष्टि के मूलभूत हेतु जगत् की पृथक् सत्ता की स्वीकृति करने के कारण वे परमात्मा को न्याय दर्शन की भांति सृष्टि के प्रति मात्र निमित्त कारण मानते हैं।

इस अर्थ में वे निमित्तेश्वरवादी हैं। इसलिये वे त्रितत्व के यथार्थ को अङ्गीकार करने के कारण सर्वेश्वरवादी नहीं कहे जा सकते हैं। तस्मात् एकेश्वरवादी तो वे अवश्य हैं किन्तु सर्वेश्वरवादी नहीं।

तत्वमीमांसा की दृष्टि से कहा जाता है कि आचार्य शंकर अद्वैतवादी किंवा सर्वेश्वरवादी अर्थात् एकतत्वमात्रवादी हैं, रामानुज त्रितत्ववादी हैं, और उस त्रितत्व का एक ही को मूल मानने के कारण विशिष्ट द्वैतवादी किंवा उपान्ततरित सर्वेश्वरवादी हैं। किन्तु दयानन्द पूर्णतः त्रितत्ववादी है और उन त्रितत्वों के सम्पूर्ण यथार्थ्य को स्वीकार करने के कारण एकेश्वरवादी हैं। दर्शन भी भाषा में उन्हें त्रैतवादी न कहकर द्वैतवादी कहना ही उपयुक्त होगा। अति संक्षिप्त विशेषण इस प्रकार हैं–

ईश्वर सत् है,[1] चित् है[2] और आनन्द है[3]–अर्थात् सच्चिदानन्द हैं। वह निराकार[4], सर्वशक्तिमान् [5], न्यायकारी[6], और दयालु है।[7]

---

१ ऋग्वेद १.१६४.४६, अथर्व० १०.८.६, यजु० ३२.८॥
२ अथर्व० १८.४.१४, ऋ० ४.३१.२, यजु० ३६.५॥
३ अथर्व० २.१.५, यजु० ११.१०, ऋ०१०.१२१.१ यहां पर क पद आनन्द स्वरूप वाचक है।
४ यजु० ४०.८, ३१.३, ३१.४, ३२.१, ऋ० ८.६८.११, १.२६.१३, १६.७.६॥
५ ऋ० ८.१४.२१, ८.३२.१५, १०.५५.६, ६.२५.५,अथर्व० १०.८.२३॥
६ ऋ० ८.४३.२४, अथर्व० १.२०.४, ४.१,६६॥
७ ऋ० ५.६४.३, २.४१.११, ७.८७.७॥

अजन्मा, [1] निर्विकार,[2] अनादि,[3] अनुपम,[4] सर्वाधार,[5] और सर्वेश्वर[6] होने के साथ-साथ वह सर्वव्यापक[7] है वह सर्वान्तर्यामी[8] और सर्वज्ञ[9] भी हैं। अजर,[10] अमर[11], अभय[12], नित्य[13], पवित्र[14],स्वभाव वाला वही जगत्कर्त्ता[15] है। वह उपास्य देव है।

---

१ ऋ० १.६७.३, ७.३५.१३, यजु० ३१.१६, ४०.८ ॥
२ ऋ० १०.१११.३, ८.४७.६, अथर्व० १०.८.४४ ॥
३ सामपूर्व० ५.२.१, उत्तरार्चिक १.१.२२, यजु० ३२.२ ॥
४ ऋ० ७.३२.२३,सामपूर्वार्चिक ३.१.१०,ऋ०८.५१.३, १०.१२१.१०॥
५ यजु० ३१.११, १३.४, ऋ० १.६.१, अथर्व० १०.८.६, १०.७.१३०, १०.८.११ ॥
६ ऋ० ८.६४.३, १०.८६.१०,१.३२.१५, १०.१२१.३, अथर्व०१३.३.३॥
७ ऋ० १.६७.६. १०.२६.१४, यजु० ३२.८, ४०.५, ३२.११, अथर्व० ७.८७.१ ॥
८ ऋ० ३.६२.६, १.२५-१०-११, १.२५.७, अथर्व० ५.११.४, ४.१६.२ व ५-६ ॥
९ ऋ० ८.१०१.१४ ॥
१० अथर्व १० अथर्व० १०.८.४४, ऋ० ६.४६.१०, ६.५.७ ।, ६.१६.२॥
११ अथर्व० ५.१४.२, ६.४.२, १०.४८.५, ४.१.१॥
१२ ऋ० ३.३०.५, २.२७,१४, अथर्व० १.२१.१ ॥
१३ अथर्व० १०.८.२२-२३, ऋ० १०.१५.६ ॥
१४ ऋ० ८.६५.७-८, ६.३५.६ ॥
१५ ऋ० १०.११०.६, १०.१२५.८, १०.१६०.३, यजु० १७.१८-१६, सामपू० ६.४.३, अथर्व० १६.१.६॥
१६ ऋ० १.७५.३, २.१.४, ५.८.४, १.१.१, १०.१२१.१ ॥

ऋग्वेद में स्पष्ट वर्णन आया है कि जिस परमात्मा ने पृथिवी आदि लोक लाकान्तरों को परिमाणपूर्वक बनाया है इस पृथिवी आदि से ऊपर नक्षत्र चन्द्र तारकादि के सहस्थान द्युलोक का भी स्तम्भन वही कर रहा है। वह परमात्मा अपने सामर्थ्य से नियम में रहता हुआ स्तवन के योग्य है। महान् सामर्थ्यों को प्राप्त होकर मैं भी सर्वत्र स्तवन करूँ। इस उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल प्रकृति से उस परमेश्वर ने पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का निर्माण किया और तीसरी वस्तु जीवात्मा है जो उस परमात्मा को प्रार्थना उपासना इत्यादि करता है। यहां भी द्वैत की स्पष्ट सिद्धि हो जाती है।

महान् सुख का भन्डार परमेश्वर चराचर जगत् का उत्पादक और व्यवस्था में रखसे वाला है। वही परमात्मा धारक तथा लय करने वाला है। वह सबको उत्पन्न करके सबको शुभ कर्मो की प्रेरणाप्रदान करता है[2] इस मंत्र से स्पष्ट रूप से त्रैतवाद सिद्ध होता है। जिस परमेश्वर न सभी पदार्थों का निर्माण किया है जो उस परमेश्वर को नहीं जानता। और जो योगाम्यास आदि द्वारा उसके जानने का प्रयास करता है उसका ही ज्ञान यथार्थ है। जो उस ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता उसका वेद भी क्या करेगा। जो मनुष्य उस वेद ज्ञान द्वारा अपने अन्तिम उदेश्य प्रभू की प्राप्तकर लेंगे वही उस परमात्मा में मगन हो सकते हैं। इस परमानन्द को प्राप्त करने के लिए परमात्मा का ज्ञान आवश्यक है।

---

१ वृहत्सुम्न : प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरूभायष्य योवसी। सना देवा सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथ मर्घसः॥

२ विष्नोनर्क वीर्याणि प्रवोच यः पर्थिवानि विममेरंजासि। यो अस्कभंयादुत्तर संघस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरूगायः ॥ऋ०१.१५४

इस मंत्र में उपादेय परमेश्वर है तथा हेय सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि रूप जगत् है। जो कि अपने मूल भूत अनादि प्रकृति का विकार रूप है। तीसरा जीव है जो परमेश्वर के प्रदत्त वेद ज्ञान द्वारा इस हेय जगत् का साधन रूप में त्यागपूर्वक सेवन कर उपादेय प्रभु को पाने का प्रयास करता है इस प्रकार त्रैत की सिद्धि हो जाती है।

दो सहवासी सखा जीवात्मा तथा परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष परवैठे हुए हैं। उनमें से एक कुछ वृक्ष के स्वादु फलो का उपभोग करता है दूसरा जो कि सच्चिदानन्द स्वरूप है उस वृक्ष के फलों का उपभोग नहीं करता, अपितु अपने दूसरे सखा को उपभोग करते हुए देखता है और उसका साक्षी है। जो सखा उस उस वृक्ष के फलों को खाता है वह दुख सुख आदि कर्मफलों को प्राप्त होना है। परन्तु जो दूसरा सखा जो केवल साक्षी मात्र है अर्थात् फलों का उपभोग नहीं करता वह कभी भी किसी भी प्रकार के वन्धन में नहीं आता।[2]

इस मन्त्र में दो सखा और एक वृक्ष वतलाकर स्पष्ट रूप से त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। अलंकार रूप से यह समझाया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र है। प्रकृति एक वृक्ष के समान है जीवात्मा संसार में आ कर नानाविध कर्मों को करता है और नाना प्रकार के दुःख सुख रूपी फलों का उप-

---

१ यस्मिन् वृक्षमदवदः पर्णानिविशन्त सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्ने तन्नेन्नसद्य पितरं न वेद॥
ऋग्वेद १.६४.२२

२ न तं विदाथ य इमा जजानान्य द्युष्माकमन्तरं वभूव।
ऋग्वेद १०.८२.७

भोग करता है। परमात्मा इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर निवास करता हुआ भी किसी प्रकार का कर्म नहीं करता। वह केवल द्रष्टामात्र है। जिस प्रकृति के विकार भूत इस दृष्टि रूपी वृक्ष पर अनेक जीव वैठे हुए, वहीं पर ही अपनी सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसी वृक्ष के फलों का उपभोग करते हुए उन्हीं की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं अर्थात् विविध प्रकार के भोगों को भोगते हुए यही कहते हैं कि अमुक पदार्थ बड़ा स्वादिष्ट है अमुक उससे भी अधिक स्वादिष्ट है आदि आदि।

इस प्रकार जो भोगों की प्रशंसा करें धीरे-धीरे उनमें मग्न हो जाते हैं तो वे काम, क्रोध, लोभ आदि की दुष्प्रवृत्तियों में फंस जाया करते हैं। जब तक उस परमानन्द परमपिता परमेश्वर को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते तब तक साँसारिक दुःखों में फंसे रहते हैं। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए निश्चल बुद्धि से उसकी आराधना करनी होगी।

यहाँ भी स्पष्ट रूप से त्रैत की सिद्धि हो जाती है। जिस परमेश्वर ने इस चित्र विचित्र नाना–विधि-सृष्टि का सृजन किया है। उस करूणा निधि स्रष्टा को तुम नहीं जानते। वह तुम्हारे अन्दर व्याप्त हो रहा है। तब भी उस परमात्मा को क्यों नहीं जानते ?[1] यहाँ भी त्रैतवाद की सिद्धि स्पष्ट है। एक संसार दूसरा परमेश्वर तीसरा जीवात्मा जो कि संसार के भोगों में फंस कर उस परमात्मा को नहीं जानता।

---

१ न त्वा वां अन्योदिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥
ऋग्वेद ७.३२.२३

अनन्त धनों के भण्डार प्रभु तुम जैसा अन्य कोई द्युलोक में और न ही कोई पृथ्वी लोक में उत्पन्न हुआ और न ही होगा । हे परमेश्वर्यों के केन्द्र इन्द्र हम अश्वादि यानायात के साधनों को भली प्रकार प्राप्त करें ।1

जिस महान् समर्थ वाले परमात्मा ने तीन तेजों से परिपूर्ण तथा प्रकाशमान सर्वहित सम्पादक सूर्यादि पदार्थों को रचा है। जिसने इस विशाल भूमण्डल को दृढ़ किया है और इसके द्वारा होने वाले सुख को भी धारण किया है, उसी की ही अनुकम्पा से हमें विविध सुखों का अनुभव होता है । उसने दुःख रहित मोक्ष के आनन्द को भी धारण किया हुआ है । यदि हमें सर्वोत्कृष्ट आनन्द की कहीं प्राप्ति हो सकती है, तो उसी विधाता परमेश्वर से ही प्राप्त हो सकती है।

इस मन्त्र में जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि हम किस देव की श्रद्धा तथा नम्रता पूर्वक उपासना करें ? उत्तर में स्पष्ट कहा गया है उस परमात्मा कि जिसने की द्यौ पृथ्वी आदि को धारण किया हुआ है उपासना करें । यहां त्रैतवाद स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है ।

वेदों में भी त्रैतवाद की सिद्धि है । इस विषय में हमने कुछ मन्त्र प्रस्तुत किये हैं । हमारे निबन्ध का कलेवर अधिक न बढ़े इसलिए आगे मन्त्र न दिखा कर मात्र वेदों में आये कुछ शब्दों के अर्थ लिख रहे हैं । जिनसे त्रैत की सिद्धि होती है ।

१- मामा हि सोज्जनिता यः पृथिव्या यावा दिव सत्यधर्मा व्यानट् ।
२- प्रजायाः पालकः पति स्वामी वा ।
प्रजापतिश्चरति गर्भे...........मनु० ३१।१६॥

यजुर्वेद में परमेश्वर के लिए प्रजापति शब्द आया है। जिसका अभिप्राय है कि—प्रजा का स्वामी,[1] उस प्रजा से अनादि जीवात्मा तथा जिससे वह प्रजा का पालन पोषण करता है। उस कार्य रूप जगत् से अनादि प्रकृति रूप तत्त्व की अनुमान से सिद्धि को होकर तंत्र की प्रतिपत्ति हो जाती है।

ईश्वर के लिए हिरण्यगर्भ शब्द भी आया है। जिसका अभिप्राय है कि-सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थ जिसके गर्भ में है।[1] इन सब पदार्थों से जिनका कि गर्भ में रखे हुए है अनादि उपादान प्रकृति रूप कारण का अनुमान से ज्ञान होता है। अब चूंकि यह सूर्य चन्द्र आदि का कार्य है। अतः ये सब पदार्थ उपभोग के लिए बनायें गये हैं। वह जीव समुदाय। इसप्रकार हिरण्यगर्भ शब्द से भी अनादि तत्त्वमय की निष्पत्ति हो जाती है।

वेदों में देव शब्द भीअ ाता है जिसका अर्थ होता है कि जो परमात्मा आनन्द स्वरूप होकर आप ही क्रीडा करता है अथवा बिना किसी सहायता के अपने सहज स्वभाव से ही संसार की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय करता रहता है। वह सब की क्रीडाओं का आधार है जो सबको जीतने हारा परमेश्वर देव है। १ जो चराचर जगत का प्रकाशक है अर्थात् जिससे सारा चराचर जगत प्रकाशित हो रहा है।२ सज्जनों तथा धर्मात्माओं द्वारा स्तुति किया जाता है। अथवा उपासना किया जाता है वह देव है।३ इसप्रकार हमने देव शब्द के अर्थ का विवेचन किया। इन सब निरुक्तियों अथवा निर्वचनों से ज्ञात होता है कि

१- सूर्य विद्युत हिरण्यादि पदार्थाः गर्भे यस्य सः हिरण्यगर्भः परमेश्वर
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे............ऋग्वेद १०।१२१।७।।
हिरण्यगर्भ इत्येष............यजु० ३२।३।।

वह परमात्मा देव समस्त ब्रह्माण्ड का बनाने वाला है और वह चर अचर जगत् के सब व्यवहारों को सिद्ध करता है। इससे वह देव है। तात्पर्य यह है कि देव के इन सभी अर्थों से त्रैत की निष्पत्ति हो रही है। क्योंकि वह देव उपासकों को स्तुति तथा उपासना आदि के द्वारा प्राप्त होता है तो उपासक जीवात्माओं को सिद्धि भी अपने आप ही जाती है।

विराट:– विराट शब्द से यद्यपि परमेश्वर का भी ग्रहण होता है परन्तु यजुर्वेद ३१।५ के आधार पर जगत् का ही ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय: होता है कि जो विशेष प्रकार यह महान् जगत् प्रकाशित किया जाता है वही विराट कहाता है। ४ अब प्रश्न यह होता है कि यह विराट जगत् किस निमित्त कारण से प्रकाशित उत्पन्न किया जाता है, अपितु कौन इसकी उत्पत्ति प्रकाशन करने वाला है, क्योंकि बिना किसी निमित्त कारण के तो किसी की उत्पत्ति बन नहीं सकती जैसे कि घड़ा आदि। दूसरा प्रश्न यह भी होता है कि यह जगत् किस उपादान कारण से उत्पन्न किया जाता है अर्थात् इसका उपादान कारण क्या है ?

जिसमें सम्पूर्ण संसार ऐसे आश्रय लिये हुए है कि जैसे पक्षी अपने घोंसलें में रहता है। उसी सर्वाधार परमेश्वर से यह जगत्

१- यो दी व्यति क्रीडति स देव:।
विजिगीषते य: स देव:।
एषो ह देव: प्रदिशो नु सर्वा...........यजु० ३२।४
२- यश्चरोचर जगद् द्योतयति स देव:।
३- य: स्तूयते स देव:
४- ततो विराडजायत विराडो हि पूरूष:......यजु ३१।५

उत्पत्ति काल में उत्पन्न होकर स्थूल रूप में आ जाता है और प्रलय काल में कारण रूप प्रकृति में लीन होकर उसी परम पुरुष प्रभु में समा जाता है। वही जगदीश्वर व्यापक परमात्मा पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली इन प्रजाओं के तानें बानें के साधन से ओत-प्रोत हो रहा है। उसी परम पुरुष को विद्वान् योगाभ्यासी जन योगाभ्यास द्वारा अपनी हृदय गुहा में देखकर साक्षात्कार कर परमानन्द में मग्न हो जाते हैं।1

यहाँ हृद गुहा में विहित परमेश्वर के एक नीडवत् आधार प्रभु से आदि निमित्त ब्रह्म, विविध विश्व से उसकी मूल प्रकृति और प्रजाओं से अनादि जीवात्मा समुदाय का ग्रहण कर अनादि तत्त्वत्रय का प्रतिपादन हो जाता है।

जो परमात्मा सत्यधर्मा है। वही परमेश्वर भू लोक का निर्माण करता है। यही नहीं बल्कि द्युलोक-प्रकाश लोक-चन्द्रमा आदि-आदि को उत्पन्न करके उन सब के अन्दर परिपूर्ण हो रहा है। वह प्राणप्रिय करुणा निदान इन से अनेक विध करुणामय समान रूप अन्य औषधियों आदि तृप्तिकार भोगी की व्यवस्था कर हमारे लिए प्रदान कर हमें अनुगृहीत करता है।2

यहाँ पर कहा गया है कि वह परमेश्वर सत्यधर्मा है। उस के लिये जनिता, सत्यधर्मा, व्यानट ये तीनों शब्द दर्शा रहें हैं कि जगत्

---

१ येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षं रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥यजु०३२।६

२ वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद संचविचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु ॥
यजु० ३२.८ ॥

की उत्पत्ति आदि का कोई निमित्त कारण है, वह सत्य सर्व व्यापक प्रभु है। पृथ्वी द्यो, चन्द्र आदि जो पद आयें हैं, वे अपने उपादान मूल प्रकृत्ति की ओर संकेत करते हैं। उपासक शब्द के लिए हविषा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो जीवात्मा के वाचक हैं। क्योंकि कारण के बिना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। तीसरा प्रश्न यह है कि विराट जगत् की उत्पत्ति किस के लिए हुई। इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि परमात्मा इसका निमित्त कारण है उपादान कारण मूल प्रकृति है और जिसकी उत्पत्ति हुई वह जीवात्मा है।

वैश्वानर:— वैश्वानर परमेश्वर सकल प्राणियों को अपने शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार लोक लोकान्तरों की प्राप्ति कराता है।[1] यहां वैश्वानर से अनादि परमेश्वर जिन नरों प्राणियों को वह भोगों की अथवा भिन्न-भिन्न योनियों को शरीरों की कर्मानुसार प्राप्ति करता है। उनसे अनादि जीवों तथा जिन भोगों लोक लोकान्तरों को प्राप्ति कराता है, उनसे अनुमान द्वारा अनादि उपादान प्रकृति की सिद्धि होकर अनादि वैदिक त्रैतवाद की उपलब्धि हो जाती है।

वरुण :—वरुण वरणीय परमेश्वर धर्मात्मा एवं धनी जनो के द्वारा वरण किया जाता है। यहां पर एक वरणीन और एक वरण करने वाला इन दोनों से द्वैत और तीसरा जो मूल प्रकृति तत्त्व है जिसका जीवात्मा नानाविध भोग भोगता है, तीनों की सिद्धि हो जाती है।

विष्णु :— जो चराचर जगत् में व्यापत हुआ[2] इस महान् जगत्

---

१ नासतो विद्यते भाव:—गीता कारणभावात्कार्योभावत् वैशेषिक
२ यो विश्वान् अखिलान् नरान्नयति प्रापयति कर्मानुगुण भोगलोक स वैश्वान: परमेश्वर:।

की व्यवस्था कर रहा है वह विष्णु महान् परमेश्वर है।[1] यहां विष्णु से अनादि अविनाशी ब्रह्म और चराचर से जगत् और जीव इन तीनों की उपपत्ति हो जाती है।

विश्वकर्मा:— विश्वकर्मा परमात्मा से सारा जगत् रचाया जाता है उसी विश्वकर्मा से यह उभयविध जगत् का निर्माण होता है।[2] इस प्रकार हमने वेद मन्त्रों और वेदों में आये कुछ शब्दों के द्वारा देखा कि जगत् में मूल रूप से कम से कम तीन तत्त्व मानने चाहियें।

मूल उपनिषदों में ब्रह्म का विवेचन—

१ ईशावास्योपनिषद्—वह परमात्मा कंपन नहीं करता है, परन्तु मन से भी वेगवान् है। ये इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं, परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है। वह स्थिर है, परन्तु अन्य को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण जो वायु स्वयं हल्की है अपने से भारी बल को उठा लेती है।[3] कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि शुद्ध रूप से परमात्मा नहीं चलता अपितु शब्द रूप में चलता है। इस प्रकार परमात्मा के दोनों रूप बन सकते हैं परन्तु यह आशय उपनिषद्कार का प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म में उभयरूप मानना ठीक नहीं है। आगे कहा है कि जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व

---

१ विवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् इति विष्णु सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वरः। वृयते यः स वरुण परमेश्वरः इति। ओं शन्नोमित्र वरूणे—ऋ० १.६.१८।

२ विश्वंकरोति इति विश्वकर्मा, विश्वकर्मो विमना—ऋ० ८.३.१७। विष्णोः कर्माणिपश्यत— ऋ० २.७.१९।

को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी की निन्दा स्तुति नहीं करता है। यहां पर इस वचन में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।[1] इस उक्त मन्त्र का अर्थ अद्वैतवादी यह करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो वह निन्दा स्तुति नहीं करता है।[2] इसके आगे उपनिषद् में परमात्मा का निर्बीज समाधि द्वारा जब योगी साक्षात्कार करता है तो उस अवस्था में योगी समदर्शी हो जाता है, वह शोक और मोह ने रहित हो जाता है। उसे अपने पराये का यश नहीं रहता अपनी प्राणीमात्र में एकता देखता है।[3] यहां यदि एकत्व का अर्थ ब्रह्म और जीव का अभेद होता है तो मोह और शोक पद की आवश्यकता न होती, अपितु यह कहा जाता कि वह ब्रह्म हो जाता है। परन्तु जैसा कि योगदर्शन में व्याख्यान है कि योगी समाधि काल में ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है या अपने स्वरूप को देख लेता है। आत्मतत्त्व बोध हो जाता है, अवस्था कहकर भेद प्रतिपादित किया गया है।[4] जिस परमात्मा के साक्षा-

---

१ ईशोपनिषद्—५।

२ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ई० उ० ६॥

३ यहां प्रकरण में आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है, जबकि अद्वैतवादी यहां अपने अर्थ में ग्रहण करते हैं। जब पहले से परमात्मतत्त्व का वर्णन है तो आत्मा का अर्थ परमात्मा लेना उचित नहीं। आर्यमुनि॥

४ ईशो० ७—"तत्र को मोह कः शोक एकतत्वमनु पश्यत"
यहां एक त्वम् का अर्थ है—एकता—समता—एक दृष्टि उस अवस्था में योगी जाति, सम्प्रदायों से उपर उठकर निष्पक्ष हो जाता है।

त्कार हो जाने पर योगी समदर्शी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है उस ईश्वर का स्वरूप क्या है ? इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह ईश्वर सब स्थानों पर गया हुआ है। दीप्त, शरीर रहित, नस-नाड़ियों रहित, घावों से रहित, सब प्रकार से पवित्र, पापरहित, क्रान्तदर्शी ज्ञानी, सब जगह व्याप्त, स्वयं सत्ता वाला है। वह जैसा चाहता है वैसा भलीप्रकार सृष्टि के पदार्थों को रचता है अर्थात् धारण करता है। वह निरन्तर व्यवधान रहित सभी कल्पों से चला आ रहा है। जैसी व्यवस्था चाहता है वैसा प्रबन्ध कर रहा है।[1] ईश्वर के उस स्वरूप को सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। कुच्छ आधुनिक प्रत्ययवादी विद्वान् अन्य अर्थ करते हैं। वे इस मन्त्र में ब्रह्मवित्त पर अर्थ करते हैं, जो समीचीन नहीं है क्योंकि मन्त्र के उत्तरार्द्ध में सृष्टि रचियता के रूप में ईश्वर को माना है। मुक्त आत्मा सृष्टि रचना कभी भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य तो केवल ईश्वर का ही है वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष सृष्टि रचना नहीं कर सकता है।[2] अत: उक्त मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन है। इस मन्त्र में ईश्वर के स्वरूप को निधेयात्मक और निषेधात्मक[3] हेतु और सिद्ध किया है। वह ईश्वर शुक्र, शुद्ध पर्यगात, कवि, मनिषी, परिभू, स्वयंभू, शाश्वतीभ्य:, समाभ्य: "इन विशेषणों से युक्त है, यह

---

१ तदा द्रष्टु: स्वरूपे अवस्नानम् यो० १।३॥

२ पर्यगाच्छुक्रमकाय............ईशो० ८ ॥

३ जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च वेदान्त० ४.४.१७– इस शंकरभाष्य – जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्जयित्वाअन्यदक्षिण-माद्यैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्ये श्वरस्य।

उसके विधेयात्मक गुण है।" अकार्म, अव्रणं, अस्थाविरं, अपापविद्ध, इन विशेषणों से उसका निषेधात्मक रूपेण व्याख्या की है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को अज्ञानोपहित चैतन्य माना है। परन्तु ईशोपनिषद् में जो ईश शब्द आया है वह ब्रह्म के अर्थ में ही आया है। किसी भी उपनिषद् में ईश्वर को मायोपहित चैतन्य माना है। ऐसी श्रुतियों का अर्थ आचार्य शंकर यह कह कर करते हैं ये श्रुतियां व्यवहार काल को बताती हैं परन्तु मूल उपनिषदों को यह अमान्य लगता है एक श्रुति व्यवहारकाल की दूसरी पारमार्थिक काल की है।

२–केनोपनिषद्—इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन नाटकीय ढगं किया है। प्रारम्भ में प्रश्न किया है वह कौन सा देव है जो सब चक्षु, श्रोत्र और वाणी आदि इन्द्रियों को शरीर के साथ युक्त करता है। मन और प्राणों को भी कौन प्रेरणा देता है।[2]

इन सबका प्रेरण देने वाला या शरीर के संयुक्त करने वाला वह देव परमेश्वर है। जिसको जानकर अमृत हो जाते हैं।[3] जो लोग ईश्वर को साकार मानते हैं, उनका खण्डन रूप में किया गया है। उस देव परमेश्वर को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं माना जा सकता है। मन भी जानने में असमर्थ है अर्थात् उसका साक्षात्कार

---

१ पाजिटिव–नेगेटिव।

२ केन–प्रथम–केनेषितां पतति।

३ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो। केन प्रथम खण्ड, १–२।
वह परमेश्वर देव श्रोत्र का श्रोत्र मनका मन अर्थात् इस सब की शक्ति उसके कारण है।

आत्मा ही कर सकता है। उस ब्रह्म की महिमा वर्णन करते हुए कहा कि ये चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन तथा प्राणी बोलती है, मन मनन करता है। श्रोत्र सुनते हैं और प्राण गति करता है, उसी को ब्रह्म जानो, वही उपासनीय है। जिसकी साधारणतः उपासना की जाती है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।[1] जो लोग यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया वे अभी अल्प ही जानते हैं वह ब्रह्म शब्दों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।[2] इस उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन रूप द्वारा किया है। ये अग्नि, जल, वायु आदि देव उस महादेव की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अग्नि में जलाने की वायु में उड़ाने की और जल में बहाने या गलाने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है, इसका अभिप्रायः यह है कि जड़ वस्तुओं पर नियमन वही ईश्वर करता हैं। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभूति या आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करने का विषय है न कि केवल शब्द द्वारा जाना जा सकता है। उसको प्राप्त करने के लिए ध्यान योग द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त कर समाधियों का अनुष्ठान करना होगा।[3] इस उपनिषत् में भी ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रूप में ही अधिक हुई है।

३ कठ—इस उपनिषद् में ब्रह्म के मुख्य नाम ओ३म् का प्रतिपादन यह व्याख्यान करके किया है कि जिसका सब वेद बर्णन करते हैं और जिसको प्राप्त करने के लिये तप और ब्रह्मचर्यादि का पालन किया जाता है वह ओ३म् पद से कहा गया है। इसी ओंकार

१- केन-यत्श्रोत्रेण........तदैव ब्रह्म-केन-प्रथमखण्ड-४-५-६-७-८ ॥

२- यदि मन्यते सुवेदीति......वही-९ ॥

३- केन-द्वितीय खण्ड-तथा तृतीय खण्ड ॥

का उल्लेख अन्य उपनिषदों तथा वेदादि में मुख्य रूप से किया जाता है। कहते हैं उसी का आलम्वन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु अर्थात् सब से सूक्ष्म है। आकाश आदि विभु आदि पदार्थो से भी महान् है अर्थात् उससे महान् है। साधक अपनी हृदयरूपी गुहा में विराजमान उस परमात्मा की महिमा,उसकी कृपा से निष्काम कर्मों और शोक रहित होकर उसका साक्षात्कार करता है।१ कुछ विद्वान धातु शब्द का अर्थ मन आदि इन्द्रियों से करते हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है क्योंकि वेद में भी धातु शब्द को वा धातु शब्द से तृच प्रत्यय से धातृ शब्द का निर्माण किया जाय तो भी उसका अर्थ होगा पदार्थ मात्र जिसके आश्रित हो अर्थात् सबका धारण करने वाला उसका नाम कथन किया है। अतः परमात्मा का नाम धातु है। इन्द्रियों से धातु का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान जो ईश्वर को साकार होना मानते हैं वे महान् से महान् का अर्थ अवतार करते हैं, उनसे कोई पूछे क्या अवतार सर्वव्यापक होता है या एक देशी। इसका खण्डन अगले मन्त्र से ही हो जाता है। वह ब्रह्म अपनी सत्ता में सर्वत्र अगले गतिमान है अतः वह एक स्थान पर ठहरा हुआ भी दूर देश में जा सकता है। और सर्व व्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्य वस्तुओं को सब और से घेरे हुए है। वह आनन्द स्वरूप होने से मद और इन्द्रिय अन्य हर्ष के होने से अमद कहलाता है। ऐसा ही वर्णन ईशोपनिषद् में तदेजति......कहकर किया है।

१- अणोरणीयान्महतो महीयांन्......कठ० २० ॥
२- सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत-कम् ८।८।४८।२॥
३- धीयंते सर्वमस्मिन् दधाति सर्वं वेति धातु।
४- आसीनो दूरं व्रजति-कठ० २४१ ॥

परन्तु अद्वैतवादी इसे जीव का वर्णन मानते हैं परन्तु यह उनकी भावना एक उपनिषद् की भावना के विरुद्ध है, क्योंकि इस उपनिषद में तो अनेको ऐसे स्थल हैं जहां ब्रह्म का भेद स्थापित किया है । उस ब्रह्म की व्यापकता ओर सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहा है कि वह शरीर धारियों में शरीर रहित है और अनित्य वस्तुओं में नित्य है तथा अवस्थित है, इसप्रकार का विभु व्यापक मानकर भी साधक उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे शोक रहित हो जाते हैं।१ यहां उपनिषद् ने औपाधिक ईश्वर का खण्डन अशरीरी कहकर कर दिया है। इससे आचार्य शंकर की इस मान्यता का खण्डन स्वतः हो जाता है कि वह चैतन्य मायोपहित पोकर सौपाधिक हो जाता है, उसकी शक्ति से अस्त हो है, समस्त देव उसी में अर्पित है अर्थात् उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है।२ आगे व्याख्यान किया है कि जो ब्रह्म इस जन्म अर्थात् इस लोक में हमारे कर्मों का नियन्ता है वह परलोक में भी नियन्ता है, जो परलोक में है वही यहां पर भी उस प्रभु में जो नानात्व देखते हैं वे मृत्यु के ग्रास बनते हैं।३ इस कथन के अनुसार वह देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से कथन की गई है। जिसप्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरों में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थों में तदाकार रूप में अवस्थित है इसीप्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है। वह उनके अन्दर ही नहीं अपितु बाहर भी विद्यमान है।४ इस कथन के

१- अशरीरं शरीरेषु...........।।
२- कठ०-२४।९।।
३- कठ० ४।१०।।
४- कठ०-२।२२।।

अनुसार बहु देवतावाद या ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से कथन की गई है, जिसप्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरों में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थ में तदाकार रूप में अवस्थित है इसीप्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है। वह उनके अन्दर ही अपितु बाहर भी विद्यमान है। ४ इसी वायु के दृष्टान्त से उसकी व्यापकता सिद्ध करते हुये माना है कि जैसे एक ही वायु समस्त लोक लोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ तदाकार हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी सब भूतों का अन्तर्यामी होता हुआ उनके बाहर भी वर्तमान रहता है।१

प्रतिरूप से अद्वैतवाद को मानने वाले केवल ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध हुआ मानते हैं परन्तु उनका खण्डन अगले मंत्र में ही उसब्रह्म को निमित्त कारण मानकर कर दिया है। वह ब्रह्म जिस जगत का निर्माता है, वह उर्ध्वमूल है अर्थात् कारणरूप में ऊपर है। उसका कार्यरूप में (जिसे शाखा रूप) जगत् नीचे है। यह अनित्य संसार रूप वृक्ष प्रवाह से अनादि हैं, ऐसा वृक्ष जिस ब्रह्म के आधार पर स्थित है, वह ब्रह्म अत्यन्त ज्योति या पवित्र है, वही अमृत है, उसी में सभी देव अधिष्ठित हैं उसका उल्लंघन कोई नही कर सकता है।२ हे नाचिकेता यह वही ब्रह्म है जिसके विषय में तूने पूछा है। परन्तु यहां पर प्रत्ययवादियों का विचार है कि ऊर्ध्व मूल का अर्थ उपादान कारण है परन्तु उनका यह विचार इसलिए उचित नहीं है कि यदि यहां पर ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान सिद्ध करने का उद्देश्य होता तो ऊर्ध्व-

---

१- कठ०-५।६-१०॥

२- कठ०-७-१॥

मूल माना है। निमित्त होने कारण होने से शाखा पद के स्थान पर मूल पद ही होना चाहिए परन्तु यहां शाखा रूप में कार्य जगत् का वर्णन किया है। इस मंत्र में ब्रह्म को आधार आधेय भाव से निरूपण किया गया है आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही सब कुछ होने से वह आधार आधेय निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु यहां तो स्पष्ट रूप में उक्त निरूपण हुआ है। अश्वत्थ रूपी वृक्ष को कुछ आचार्य ब्रह्म रूप में मानते हैं परन्तु ऐसा अर्थ भी नही किया जा सकता है क्या ब्रह्म काल तक ही रहेगा।1 इस मंत्र के आधार पर शबलवादी जड़ पदार्थों की शबल रूर में उपासना करने का यत्न करते है। अर्थात् शाखा से मूल तक जाना परन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष के विपरीत है। प्रत्यक्ष में सभी मूल में शाखा की ओर आते हैं । साकार पूजा का खण्डन पीछे भी कठ ने किया है। अर्थात् जड़ वस्तुयें अमृत कभी नहीं हो सकती हैं। वह ब्रह्म ही अमृत है। दूसरा कोई नहीं है।

४-प्रश्नोपनिषद्—इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप में किया है। ब्रह्म के विषय का विवेचन करते हुए ऋषि पिप्पलाद व्याख्यान करते हैं कि जैसे पक्षी अपने वासस्थान रूप वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थात् उस परमात्मा ने सूक्ष्म कोई भी नहीं हैं।2 इतना ही नहीं अपितु आये वर्णन किया है कि जो उस प्रसिद्ध ब्रह्म

---

१ शबल ब्रह्मवादी मानते हैं कि ब्रह्मरूपी वृक्ष शाखा रूप से शबल और मूल रूप से शुद्ध है। परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होतीहै क्योंकि जड़ पदर्थों की पूजा का खण्डन उपनिषदों में सर्वत्र प्राप्त है।

२ प्रश्नोपनिषद्-चतुर्थ-प्रश्न-७।

को अज्ञान से रहिता, शरीर से रहित दि व्रणों से रहित, प्रकाश स्वरूप, अविनाशी, परमात्मा भली प्रकार जानता है अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्म का ज्ञाता सब कुछ जान लेता है और तद्‌रूप अर्थात् उसके गुणों को धारण करके महान् हो जाता है ।1 यहां अभिप्राय: यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है । यह केनोपनिषद् में भी कहा है ।2 यहां पर अद्वैतवादी सर्वज्ञ: का अर्थ करते हैं कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं फिर सर्वज्ञ: का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है । यहां अभिप्राय यह है कि सर्वं जानाति इति सर्वज्ञ: अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है ।3 यहां परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप को निषेधात्मक रूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस उक्त उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा, सर्वव्यापकता और वह जड़ पदार्थों से भिन्न है, उसकी संक्षिप्त रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है ।

५–मुण्डकोपनिषद्— वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य, भूर्तधर्मों के रहित, सर्वत्र व्यापक, प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है । इसलिए वह उत्पत्ति से रहित है, प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है । अव्याकृत प्रकृति से परम सूक्ष्म है ।4 समस्त संसार के

---

१ वही—चतुर्थ–प्रश्न–१० ।

२ तस्मिन्नेवविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । वही ।

३ पं० सत्यकाम विद्यालंकार– काभाष्य द्रष्टव्य । आर्यमुमि, ब्रह्म-मुनि भाष्य द्रष्टव्य ।

४ दिव्योह्यमूर्तं......मुण्डक० २–खण्ड १-२ ।

पदार्थों में निरुक्तकार यास्क मुनि के अनुसार षड् भाव उपलक्ष्य है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं।[1] परमात्मा इन षड्भाविकारों से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है। अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियां आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी से पृथ्वी आदि। यहां निमित्त-कारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।[2]

ब्रह्म का रूपक द्वारा निरूपण किया है। यदि हम उसे मूर्त-रूप में देखना चाहें तो यह अग्नि उसका मुख है। चन्द्र और सूर्य उसकी आंखे हैं, वायु प्राण है, समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है। पृथ्वी पादस्थनीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में वह ब्रह्म सबका अन्तरात्मा है।[3] यह अलंकार रूप में उस विराट् ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया है। ये अग्नि आदि अवयव उसके आरोपित हैं वस्तुतः नहीं, क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।[4]

वह ब्रह्म सर्वत्र और सर्ववित है, और उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित है, वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप में वर्तमान है, ज्ञान रूप है, प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणि में विद्यमान रहकर आनन्द की वृष्टि कर रहा है।[5]

---

१ अस्तिजायतेवर्धतेविपरिणतेअपक्षीयते विनश्यति इदि षड् भाव-विकाराः निरु० १-२।

२ मुण्डको०। २-३।

३ अग्निमूर्धा— मु० २.१.४।

४ २.१.५,६,७,८।

५ यः सर्वज्ञः — मुण्ड० २.२.७.।

उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मवित् विद्वान् जानते हैं। यहां रूपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रूप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा, नक्षत्र, विद्युत और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है।[1] इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद रूप में उल्लेख करते हुए कहा कि यह अमृत रूप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं यहां पर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, और स्वतन्त्र न होने के कारण सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसीलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[2] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें भी लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म हैं। वही सभी की शक्तियों

---

१ मुण्डक० २.२.१० ।

२ आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य ।

की शक्ति है। हे सौभ्य वही लानने योग्य है।1 इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।2 अतः ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम

६–माडूक्य— माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन वहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म् यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है अक्षर का अभिप्राय: यह कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाला का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला जाता, वह नहीं, और अग्नि शब्दस्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त तीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।3 यहां पर यह द्रष्टव्य है कि इस

उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मवित् विद्वान् जानते हैं। यहां रूपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रूप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा, नक्षत्र, विद्युत और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है।[1] इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद रूप में उल्लेख करते हुए कहा कि यह अमृत रूप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं यहां पर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, और स्वतन्त्र न होने के कारण सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसीलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[2] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें भी लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म हैं। वही सभी की शक्तियों

---

१ मुण्डक० २.२.१०।

२ आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य।

की शक्ति है। हे सौम्य वही जानने योग्य है।[1] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] अतः ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम

६–माडूक्य— माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म् यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है अक्षर का अभिप्रायः यह कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाला का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला जाता, वह नहीं, और अग्नि शब्दस्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्त्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त तीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।[3] यहां पर यह द्रष्टव्य है कि इस

---

१ मुण्डक–२.२.१।

२ उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन युक्ति (हेतु) प्रधान न हो कर अनुभूति प्रधान है। स्वामी ब्रह्ममुनि।

३ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेय भूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात् अभिधानस्य ओंकाराव्यतिरेकादोकार एवेदं सर्वम्। तस्यैतस्य परापर ब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्। माण्डूक्य–शंकरभाष्य–पृष्ठ २५।

और मन बुद्धि चित अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये १९ तत्त्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में है। यह जाग्रत स्थान रूप में प्रथम पाद है।1 दूसरे पाद का नाम तैजस रखा है क्योंकि स्वप्नावस्था तैजस् है। अन्तः प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरुष न किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियां विरुद्ध हो जाती हैं वह सुषुप्ति रूप तृतीय पाद है। यह तीनों पादों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्दमय अवस्था का वर्णन है। यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता है तो चतुस्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता,2 वास्तव में यज्ञ प्राज्ञ नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों एक ही बोध की अवस्था भेद से संज्ञा विशेष हैं। परन्तु अद्वैतवादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीवन की तीन संज्ञा मानते हैं इसी प्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन संज्ञा मानते हैं।3 ये तीनों मायोपहित चैतन्य हैं। परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं आया है कि ब्रह्म से विवर्त हो कर ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है। ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्रों शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसङ्गानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं।

---

१ माण्डूक्य उपनिषद्–३।
२ वही–४।
३ वही–५।

जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिये हुआ है। ईश्वर वाची नाम में इसका अर्थ है कि समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक।[1] परन्तु वैश्वानर आदित्य अर्थ भी आता है।[2] आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते हैं।[3]

अतः उक्त तीनों पादों में जीव का ही वर्णन है, परमात्मा का नहीं। वह परमात्मा जिसका चतुर्थ पाद में वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, सर्वज्ञ, सर्वान्तिर्यामी वह सबका कारण है। क्योंकि उससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। उक्त तीनों पादों में जिस जीव का वर्णन किया था उससे विलक्षण ब्रह्म विवेचन इस प्रकार किया है कि वह ब्रह्म जाग्रत, स्वप्न में जीव जो बहिप्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ वह इससे भिन्न है अर्थात् वह तो सर्वज्ञ है। न ही अप्रज्ञ अर्थात् जड़ प्रकृति भी नहीं है। अदृश्य, सूक्ष्म होने के कारण अव्यवहार्य है, अमूर्त है, अर्थ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। सब चिन्हों से वर्जित है। वह आनन्द स्वरूप और सजातीय विजातीय

---

१ आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीन पादों को अभेदपूर्ण, विश्वानर, हिरण्य ईश्वर रूप कहते हैं।

२ वेश्वानरः प्रविश अतिथि ब्राह्णोगृहान्–कठ० १-७।

३ वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्–ब्र०सू० १.२.२४.।

स एषः वैश्वानरोविश्वरूपः–प्रश्न० १.७.।

वैश्वानरशब्दसु त्रयाणां साधरणः।

स्वगत भेद शून्य, ऐसे ब्रह्म को जो मानते हैं वह परमात्मा है और वही जानने योग्य हैं ।1

इस चतुर्थ पाद के रूप में ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट रूप में जीव से भिन्न किया है। यदि ऐसा अभिप्रेत न होता तो यहां स्पष्ट कहा होता कि वह जीवात्मा अज्ञान से दूर होकर चतुर्थ पाद के रूप में ब्रह्म हो जाता अथवा वही ब्रह्म है ।

७–ऐतरेय उपनिषद्–ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म का आख्यान निमित्तकारण के रूप में उपलब्ध होता है। वह ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् कार्य रूप जगत् से पूर्व था। ऐसा उसके तुल्य कोई भी तत्व नहीं था जो उसकी स्पर्द्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था। उसने ही अपनी ईक्षया शक्ति द्वारा सभी लोक लोकान्तरों को उत्पन्न किया।2 अन्य उपनिषदों की तरह ब्रह्म को अनेक नामों से ऐतरेय में कहा गया है। उस ईश्वर का नाम ब्रह्म उसी का नाम इन्द्र, प्रजापति और प्रज्ञानेत्र आदि नाम हैं। जिससे समस्त पदार्थ सत्ता रूप में व्यक्त होकर लाभ को प्राप्त करते हैं उसका नाम नेत्र है।3 अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र हों जिससे उसका नाम नेत्र है।4 प्रत्ययवादी इसका अभिप्रायः यह लेते हैं, यह जड़ चेतन जगत् शुक्ति रजत के समान प्रज्ञानरूप में कल्पित होने के कारण इस संसार वर्ग को प्रज्ञान में प्रतिष्ठत कहा गया है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो, आरोप रूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम प्रज्ञानेत्र है।5 और

---

१ अनात्रश्चतुर्थोंअव्यवहार्य—माण्डू० १२ ।

२ आत्मा एव इदमेक एवाग्र······ऐतरेय–१.११ ॥

३ नीयते सत्ता प्राप्यतेअनेनेति नेत्र–आर्यमुनि ॥

४ एष ब्रह्म एष इन्द्र···ऐतरेय ५.३ ॥

५ प्रज्ञा चैतन्यमेवनेत्रं व्यवहारकारणं यस्य स प्रज्ञानेत्रः ॥

चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलय काल में स्थिति पाने के कारण इसे प्रज्ञा प्रतिष्ठा कहा गया है।[1] इस प्रकार संसार का एक मात्र कारण वे ब्रह्म को ही मानते हैं। ये अन्त में औ "प्रज्ञान" ब्रह्म कहा है इससे यह बोध ब्रह्म बन जाता है। परन्तु यह उनका कथन उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अगले मन्त्र में ही जीव की उत्क्रान्ति विवेचन करके उसको सुख रूप मुक्ति की प्राप्ति का उल्लेख किया है। यदि उक्त अभिप्राय: होता तो, जीव की मुक्ति का वर्णन न किया होता। जब "प्रज्ञानेत्रो लोकः" कहकर अखिल ब्रह्माण के बाधसमानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन किया गया है तो जीव भी उसी में आ गया। दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रथम मन्त्र में प्रज्ञानपद ईश्वर वाच्य है तो यहां ब्रह्म के प्रकरण में अज्ञान का अर्थ जीव क्यों ग्रहण किया जाय। प्रकृष्ट ज्ञान का स्रोत ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्म के लिये ही प्रज्ञान पद का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रज्ञानं ब्रह्म विशेष्यविशेषण भाव कथन किया है। यदि प्रज्ञानं पद का विशेषण न देकर कहा जाता तो ब्रह्म का अर्थ प्रकृति, जीव और वेद भी तो हैं। इसलिए इनसे पृथक् करने के लिये ज्ञानस्वरूप ब्रह्म रूप में ब्रह्म स्वरूप उपलब्ध होता है।

८—तैत्तिरीय—तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्म का स्वरूप सत्य ज्ञान-अनन्त-रूप में कहा गया है।[2] वह परमात्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त धर्मों वाला है। इस वाक्य में विशेष्य और सत्यादि उसके विशेषण हैं। यदि ब्रह्म सत्य कहा जाता तो प्रकृति में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि जीव भी ज्ञानस्वरूप है। इसकी व्यावृत्ति के लिये

१ प्रज्ञायां चैतन्यै प्रतिष्ठिति प्रलयकाले सर्वं जगल्लीयते इति प्रज्ञा-प्रतिष्ठां-अद्वैतवादीव्याख्या।

२ ब्रह्म विदाप्नोति परम्—सत्यज्ञानमनन्तब्रह्म—ब्र०व० २।

"अनन्तं ब्रह्म" ब्रह्म का लक्षण हुआ। ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणों वाला (गुणों) है। परन्तु अद्वैतवादी विद्वानों के मत में यह लक्षण नहीं बन सकता है कि लक्षण व्यावर्तक भी होता है क्योंकि इनके यहाँ ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर किसका लक्षण किया जाय। अद्वैतवादी इसका अर्थ भी करते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है परन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही प्रतीत होती है। क्योंकि उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा है कि वह "सर्वान् कामान्" सब कामनाओं का उपभोग ब्रह्म के साथ करता है। यदि ब्रह्म ही हो जाता तो फिर कामनाओं का प्रश्न ही न पैदा होता। वस्तुतः इसका अभिप्राय: यह है कि परम ब्रह्म को जानने वाला जीवात्मा भी ब्रह्म अर्थात् महान् हो जाता है।1 आचार्य शंकर का मत इसी अध्याय में पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।2

९- श्वेताश्वेतर–इस उपनिषद् में प्रश्नोत्तर रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। वह काअण रूप ब्रह्म क्या है? प्रकृति और अस्वात्मा क्या है? यह ब्रह्म ही अपेक्षित है। वह ब्रह्म नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है जो सांख्य और योग द्वारा जाना जाहा है। वही सृष्टि को व्याकृत करने में कारण है। उसे ज्ञान कर ही मुक्ति मिल सकती।३ इतना ही नहीं अपितु इससे पूर्व कहा है कि एक देव। समस्त भूतों में व्याप्त है,४ वह सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से विरल है। वह हमारे कर्मों का साक्षी है। और निर्गुण है। वह अणु से भी सूक्ष्म

१- जैसा कि कहां परं ब्रह्नैव ब्रह्नैत्र भवति ॥
२- सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥
३- नित्योनित्यानां-श्वेता० ६॥१३॥
४- एकोदेव सर्वभूतेषु-श्वेता० ६॥११॥

और महान् है।१ समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबका ज्ञाता है। वह ब्रह्म हाथ,हांव रहित होकर भी वेगवान होकर ग्रहण करने वाला है। चक्षुरहित होकर भी देखता, कर्ण रहित भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वेधवर्ग को जानता है किन्तु उसे साधारणत कोई जानता है। वह प्रभु महान् है।२ आगे इसी को प्रकारान्तर से कहा है कि उस ब्रह्म के सब और हाथ पांव है सब और आखें, शिर, और मुहं हैं वह सर्वत्र सुनने वाला हैं।३ अभिप्राय: यह है कि ऐसा स्था नहीं वहां पर वह देखता सुनता, न हो, वेद में कहा है कि अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमें कोई भी नहीं देखता है परन्तु वरुण तृतीय उन्हें देख रहा है।४ वास्तव में वह पुरुष ही भूत, भविष्य और वर्तमान में सबका स्वामी है। वही अमृत है। इन मंत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ब्रह्म को नि विशेष रूप मानकर प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यहां स्पष्ट रूप में कहा कि वह ब्रह्म ज्ञानातीत है। और प्रकाश स्वरूप है।५ यह प्रकाश स्वरूप होने से सविशेष व निरूपण है यदि निविशेष रूप कहा होता तो प्रकाश और तम दोनों से रहित कहना चाहिए। इससे आगे कथन किया है कि उस ब्रह्म से उत्कृष्ट वस्तु कोई भी नहीं है और सबसे सूक्ष्म होने के कारण उससे छोटी वस्तु भी कोई नहीं है। न ही उससे कोई महत्तर है।६ वस्तुत: अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म से व्याप्त है। इशोपनिषद् में भी कहा है कि जगता में जो जगत् है वह ईश्वर से व्याप्त है।

१- श्वेता० ३।२०।।
२- आपाणिपादो-श्वेता० ३।१९।।
३- श्वेता० ३।१६।।
४- वरुणस्तृतीय पश्यति-ऋग्वेद ।।
५- श्वेता० ३।८।।
६- श्वेता० ३।९।।
७- ईशावास्यंमिदं सर्वं-ईशा० यजु ४०।१।।

इसी प्रकार आगे कहा है कि वह ब्रह्म होकर भी अपनी शक्ति से नानाविध संसार का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् रचता है।१ उस ब्रह्म के अनेक नाम हैं इसका विवेचन इसप्रकार किया है कि अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, और शुक्रादि नाम उसी ब्रह्म के है।२ इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदें अनेक देवतावाद या वहु देवतावाद को नहीं मानती है महर्षि दयानन्द का भी यही मत है।३ ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी इसी आशय के मंत्र अनेकों उपलब्ध होते हैं इन्हीं भावों को यजुर्वेद में कहा है।४ ऋग्वेद् में कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि. यम और मातरिखान उसी एक ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं। विद्वान लोग उसे वहुत नामों से कहते हैं कि जबकि वह एक ही है।५ यह सर्वव्यापी देव जगत्कर्ता और सर्वदा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है। उस परम ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञः बुद्धि से जानकर मनीषि लोग अमर हो जाते हैं। इस संसार क्षेत्र में देव एक जाल को अनेक प्रकार से विकृत कर अन्त में संहार करता है। तथा यह महात्मा ईश्वर ही (कल्पान्तर के आरम्भ) प्रजापतियों को पुनः उत्पन्न कर सवका अधिपत्य करता है।६ उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि जगत् का निमित्तकारणभूत जो परमात्मा प्रत्तेक वस्तु के स्वभाव को स्थिर करता है। अकेला ही समस्त संसार का नियमन करता है। वह परम ब्रह्म है।७ ब्रह्म को यथार्थ रूप में व्याख्या प्रस्तुत

१- श्वेता० ४।१।।
२- तदैवाग्नितर्दादित्य-श्वेता० ४।२।
३- महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में १०४ नामों की व्याख्या प्रस्तुत।
४- यजुर्वेद-३२।
५- इदंमित्रवरुणं-एकं सद्विप्रा-ऋग्वेद-१।१६४।४६।।
६- श्वेता० ४।१७।।
७- श्वेता० ५।३।।

का है जैसा कि कहा है कि इस गहन संसार के भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्व के रचयिता, अनेक रूप, विश्व को एकमात्र व्याप्त करने वाले देव को जानकर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[१] इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण निमित्तकारण केरूप में हुआ है। आचार्य शंकर का इस पर जो भाष्य उपलब्ध होता है उसे प्रायः अद्वैतवादी विद्वान स्वीकार नही करते क्योंकि उनका कहना है कि यह उनकी भाषा प्रतीत नहीं होती है। परन्तु उनका ऐसा कहना संभवतः इसलिए है कि इस उपनिषद् में पूर्ण रूपेण यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन मिलता है।

१०–छान्दोग्य–इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ओ३म् शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि ओ३म् उस का मुख्य नाम है, जो अक्षर (अविनाशी) इसी को उद्गीथ अर्थात् वाणी का आधार मानकर उपासना करे।[2] उसकी सर्वव्यापकता के लिये कहा है कि ब्रह्म ने समस्त लोक–लोकान्तरों में प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशान्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म का ज्ञात हुआ जिस प्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिपे हुए होते हैं या जिस प्रकार रथ के पहिये आरों से लगे होते हैं उसी प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण वाणियां प्राप्त हैं अथवा वह ओंकार ही सम्पूर्ण में व्याप्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है।[4] उसकी व्यापकता के साथ सूक्ष्मता का विवेचन बड़े विशद् रूप में छान्दोग्य में उपलब्ध है। जैसा कि उदाहरणों से समझाया है कि जो ब्रह्म, जिससे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय होता है उन पदार्थों को

---

१ अथानन्तं सलिलस्य मध्ये···श्वेता० ५.१३ ॥
२ छान्दोग्य १.१ ॥
३ भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृतियां कहलाती हैं।
४ छान्दोग्य २.२२.३ ॥

ब्रह्मस्थ समझें क्योंकि वह ब्रह्म को जगत् से तीनों कालों में अभिन्न माना है। यह उनके अनुसार मुख्य सामाधिकरण है। अर्थात् समस्त पदार्थ अपने-अपने आकार से ब्रह्म रूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। यहां यह विवेचनीय है कि क्या इन पदार्थों को ब्रह्म माना जाय या इन पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक माना जाय। यदि पहली बात मानी जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पत्ति, स्थिति, लय वस्तुओं का होने के कारण ब्रह्म विकृत नहीं हो जायेगा। विवर्त कहने से दोष दूर नहीं हो सकता क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म है। इसलिये ये वस्तुएं ब्रह्म नहीं हो सकती। क्योंकि आगे ही प्रतिपादन है कि उक्त गुणों वाला ईश्वर मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म हैं थानों से और यवों से और सरसों से चावलों से भी अति सूक्ष्म है। यह ब्रह्म मेरे हृदय के मध्य में पृथ्वी से अन्तरिक्ष से द्योलोक से अर्थात् लोकों से महान् है। यहां सूक्ष्म से सूक्ष्म महान् से महन् रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।।[1] शण्डिल्य ऋषि ने ब्रह्म के स्वरूप का विश्वकर्मा रूप में वर्णन किया है। सर्व कर्मों वाला, सब कामनाओं वाला, सब ग्रन्थों वाला, सब रसों वाला है, यह सब जगत् उस ब्रह्म से व्याप्त है। वाणी रहित पक्षपात शून्य मेरे हृदय के अन्दर यही वह ब्रह्म है। ऐसे गुणों वाले या स्वरूप वाले ब्रह्म को प्राप्त होंऊं, यही मेरी प्रार्थना है। उक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि वह ब्रह्म हमारा स्वामी है, पिता है। जीवात्मा उके पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, के सम्वन्ध से प्राप्त करना चाहता है। परमात्मा के कोशों का वर्णन भली प्रकार करते हुए प्रतिपादित किया है कि उसका कोश कैसा है। आकाश जिसका उदर समान है, पृथ्वी पाद समान है, दिशायें जिसके कोणें हैं, द्यौलोक जिसका खुला मुख है। इत्यादि ऐसा जो परमात्मा रूप कोश है कभी

---

१ ३.१४.३।
२ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धा······३.१४.४ ।।

जीर्ण नही होना अर्थात् सदा एक रस रहता है। विश्व का धन उसके कोश के आश्रित हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की तरह वेदों में भी ब्रह्म का विराट् रूप में वर्ण प्राप्त होना है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के इक्कासी और बयासीवें सूक्त में ब्रह्म का विश्वकर्मा के रूप में वर्णन हुआ है। क्योंकि वह विश्व का बनाने वाला है।2 छान्दोग्य में ईश्वर का वर्णन भूमा रूप में भी हुआ है। भूमा नीचे, ऊपर, पीछे पूर्व में, वही दक्षिण, वही उत्तर में स्थित है। अर्थात् वही इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है।3 इस उपनिषद् में ब्रह्म का नाना रूप में व्याख्यान हुआ है। उसके सत्य नाम की व्याख्या देखने योग्य है। ब्रह्म के सत्य नाम में स, त्, य यह तीन अक्षर है इन अक्षरों में जो सकार है वह अमृत है। और जो तकार है, वह मर्त्य है। तथा जो

निमित्त पृथक् है। उपादान निमित्त कारण से भिन्न हैं।

यकार है वह उक्त दोनों को नियम में रखता है। इसी कारण य् कहलाता है, वास्तव में जो ऐसा जानने वाला है, वह प्रतिदिन महान् सुख को प्राप्त होता है। इस उक्त स, त्, य का अभिप्राय यह हुआ कि कि स का अर्थ अमृत जीवात्म है। त का अर्थ मर्त्य अर्थात् प्रकृतिहै में परिवर्तन होने से वह मर्त्य है। वह य रूप ब्रह्म दोनों का उपयोग कर संसार का निर्माण करता है।4 इससे आगे ब्रह्म का वर्णन से तु रूप में हुआ है। वह ब्रह्म जो सदा अहतपाप्मा विजर, विमृत्य और विशोकादि विशेषण युक्त है वही संसार का सेतु है। अर्थात् जैसे हम सेतु पर बिना चढ़े नदी को पार नहीं कर सकते।5 इसी प्रकार ब्रह्म का आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी सेतुरूप को कठ में, श्रेष्ठ

१ अन्तरिक्षोदर कोशो भूमियध्नो न जीर्यते–छा० ३.१५.१ ॥
२ विश्वंकरोतीति विश्वकर्मा ।
३ छान्दोग्य० ६.२५.१ ॥
८.३.५ ॥
५ ८.४.१ ॥

आलम्बन नाम से कहा है। यदि यह सेतु संसार को धारण न करे तो संसार तत्काल नष्ट हो जाय अत: यह अमृतमय सेतु ही इसकी रक्षा कर रहा है। मुण्डक में भी इसको अमृत का सेतु कहा है।[1] छान्दोग्य का ब्रह्म भी दूसरी उपनिषदों के समान है। इसी भाव को यजुर्वेद में भी प्रदर्शित किया है।[2] वास्तव में उपनिषद् के मन्त्र केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है अपितु समाधि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर जो अनुभूति या साक्षात्कार ऋषियों को हुआ वही उपनिषदों में प्रतिपादित है। अनुभव सदा समान ही हुआ करता है क्योंकि ब्रह्म एक ही है तो उसका साक्षात् भी समान रूप में ही होगा।

११–बृहदारण्यक–जैसा कि हम पीछे नाना रूपों में ब्रह्म के स्वरूप का अवलोकन कर आये हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा को अश्व रूप में वर्णन किया है। अथर्ववेद में गवि सूक्त में गौ रूप में परमात्मा का वर्णन हुआ है। वह अश्वरूप परमात्मा कैसा है? इसका प्रतिपादन करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि उस परमात्मा के ब्राह्म मुहूर्त काल शिरस्थानीय सूर्य, चक्षु स्थानीय, वायु प्राण स्थानीय, वैश्वानर, अग्नि विस्तृत मुख के समान और संवत्सर देह स्थानीय है। इस पूज्य अश्व का प्रकाश पृष्ठ स्थानीय अन्तरिक्ष लोक उदर स्थानीय पृथ्वी पाद स्थानीय पूर्व आदि दिशायें पासे और आग्नेयादि–वीच की दिशायें पसलियां हैं। ऋतुएं अंगस्थानीय, महीने तथा पक्ष सन्धियें, दिन और रात्रि ठहरने का स्थान और नक्षत्र अस्थि है। मेघों से परिपूरित आकाश मांसस्थानीय बालू रेत बनाये हुए जन्म के समान नदियां नाड़ि स्थानीय, पर्वत यकृत् और क्लोम पिपासा स्थान स्थानीय औषधियों तथा वनस्पतियों लोम स्थानीय, उदय होता

---

१ अमृतेषु सेतु २.२५ ॥

२ तमेव विदित्वा ३१.८ ॥

हुआ सूर्य उसका पूर्वार्द्ध और मध्यान्ह का ढलता हुआ सूर्य उसके पीछे का भाग है। जो जमाई लेता है वह बिजली का चमकना, जो उसके प्रकृति रूप शरीर का हिलाना है। वह बादल का कड़कना है जो उसके प्रकृति रूप शरीर से सूक्ष्म धातुओं का बहना, वही वर्षा और जो इस विराट् में जो गर्जना है वही उसके शब्द समान है।[1] वास्तव में जैसा कि इस उपनिषद् नाम बृहत् है ऐसी ही विराट् स्वरूप की व्याख्या अश्वरूप में उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कर दी है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में तथा उपनिषदों में भी इस प्रकार के परमात्मा के वृहत स्वरूप का व्याख्यान हुआ है।[2]

जैसे विराट् अश्व का वर्णन परमात्मा के लिये हुआ है इसी प्रकार आगे इसी उपनिषद् विराट् पुरुष का विशद विवरण इस प्रकार किया है–सृष्टि से पूर्व वह आत्मस्वरूप ब्रह्म ही था इस पुष्पाकार आत्मा ने चारों ओर देख आलोचन किया, तो अपने से भिन्न कुछ न देखकर मैं ही सर्वात्मा हूं। इस प्रकार कथन किया, यह पुरुष भी प्रथम अहं–अयं कहकर पश्चात् जो इसके माता-पिता कृत अन्य नाम होता है उसे कहता है, जिस कारण इस सम्पूर्ण प्रपंच से पूर्व उस आत्मा ने सब पापी को दग्ध किया अर्थात् जो सृष्टि से पूर्व भी शुद्ध और अपापविद्ध था इस कारण भी उसको पुरुष कहते हैं जो इस प्रपंच से पूर्व पुरुष की तरह होने की इच्छा करता हुआ इस से पूर्व आत्मा की शुद्धता को जानते है। वह पुरुष भी पाप को दग्धकर के सुखी

---

१ अश्नुतेव्याप्नोति सर्व जगदिति अश्वः। कालो अश्वो वहति ॥
अथर्व०द्र१९.६.५ ॥
बृहदा० १.१.१ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्यशिरः–
२ यजुर्वेद का पुरुष सूक्त ३१ ॥

होता है ।[1] वास्तव में यहां पर यह स्पष्ट किया गया है इस जगत् कि की रचना से पूर्व ब्रह्म किस प्रकार इस जगत् को रचने का ईक्षण किया है ।

प्रियतम रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह आत्मा पुत्र, चित्त तथा अन्य सब पदार्थों से प्रियतम है सो जो इस आत्मा से अन्य पुज्ञादिकों को प्रिय मानता उसके प्रति आत्मवेत्ता कहना हैं कि यदि आत्मातिरिक्त पू पदार्थों को प्रिय समझता है तो तू निश्चय रूप में अज्ञानी है ।[2] इसका अभिप्राय यह है कि संसार में अन्य वस्तुयें प्रिय तो हो सकती हैं परन्तु प्रियतम केवल ब्रह्म ही है ।

ब्रह्म में सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुविज्ञेयता को बतलाते हुए ऋषि कहते हैं कि वहा द्वैत होता है वहां दूसरे को सूंघता है, देखता है, सुनता है, कथन करता है, मनन करता है और दूसरे को जानता है । पर जहां अपना आप ही यहां कौन किसको सूंघे, कौन किसको सुने, कथन करे, मनन करे, जाने, जिसकी सत्ता पुरुष सबको जानता है उसको किससे जाने अर्थात् जो सब का विज्ञाता है उसको किससे जाने । इसका अभिप्राय यह है कि जब तक हम द्वैत रूप में अर्थात् यह मेरा है प्रिय है, और वह दुश्मन है. रहेगा तब तक हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते यही द्वैत है । वास्तव में यह मनुष्य निश्चय कर लेता है कि एकमात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का परित्याग कर देता है । ऐसा करने के कारण दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता है । वास्तव में यह समस्त चाराचर जगत् उस परमात्मा की सत्ता के आश्रित है । पीछे दुन्दुभि

---

१ बृहदा० १.४.१ ॥

२ बृहदा० १.४.८ ॥

आदि दृष्टान्त भी इसलिये दिये है। लवण से भी यही बतलाया है कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से भी ग्रहण किया जाय वहां लवण ही लवण प्रतीत होता है, इसी प्रकार इस चराचर जगत् के पीछे अर्थात् भीतर व्यापक होने से सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दृष्टिगत होता है।[1] इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् में भी देख गये है। इसी भाव को दूसरे रूप में आगे कथन किया गया है कि यह पृथ्वी सब भूतों का मधु उपकारक है। यह तेजोमय प्रकाशक, अमृतमय आनन्दमय पुरुष है। वह उसी ब्रह्म के आश्रित है। समस्त विश्व को ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म कहा गया है।[2] इसी प्रकार आप (जल) अग्नि वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म और सत्यादि दृष्टान्तों से समस्त विश्व को उसके आश्रित बतलाकर उस आत्मतत्व को ब्रह्म कहा है। क्योंकि संसार के पदार्थ उसके आश्रय में रहते हैं इसलिये ही महान् है परन्तु इनकी महत्ता ब्रह्म के कारण है। जैसा कि अन्य उपनिषदों में भी हम देख आये हैं। संसार में समस्त वस्तुयें मिलकर उस ब्रह्म का पराभव नहीं कर सकती है। क्योंकि वह सभी रूपों में पूर्ण है वह सर्वत्र आकाश के समान होने के कारण पूर्ण है, उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य कारण रूप संघातमक जगत् भी पूर्ण कहाता है। उसी पूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही जगत् अध्याकृत से शेष रह जाता है। कौरव्यायणी के पुत्र का मत है कि जो परमात्मा निरतिशय कल्याण गुणकार होने से ब्रह्म तथा आकाश की तरह सर्वगत होने से उसी को ब्रह्मवेत्ता लोक ओ३म् पद वाच्य

---

१ बृहदा० २.४.१४ ॥

२ इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां······स योऽयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥

होता है ।1 वास्तव में यहां पर यह स्पष्ट किया गया है इस जगत् कि की रचना से पूर्व ब्रह्म किस प्रकार इस जगत् को रचने का ईक्षण किया है ।

प्रियतम रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह आत्मा पुत्र, चित्त तथा अन्य सब पदार्थों से प्रियतम है सो जो इस आत्मा से अन्य पुत्रादिकों को प्रिय मानता उसके प्रति आत्मवेत्ता कहना हैं कि यदि आत्मातिरिक्त पू पदार्थों को प्रिय समझता है तो तू निश्चय रूप में अज्ञानी है ।2 इसका अभिप्राय यह है कि संसार में अन्य वस्तुयें प्रिय तो हो सकती हैं परन्तु प्रियतम केवल ब्रह्म ही है ।

ब्रह्म में सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुविज्ञेयता को बतलाते हुए ऋषि कहते हैं कि वहा द्वैत होता है वहां दूसरे को सूंघता है, देखता है, सुनता है, कथन करता है, मनन करता है और दूसरे को जानता है । पर जहां अपना आप ही यहां कौन किसको सूंघे, कौन किसको सुने, कथन करे, मनन करे, जाने, जिसकी सत्ता पुरुष सबको जानता है उसको किससे जाने अर्थात् जो सब का विज्ञाता है उसको किससे जाने । इसका अभिप्राय यह है कि जब तक हम द्वैत रूप में अर्थात् यह मेरा है प्रिय है, और वह दुश्मन है. रहेगा तब तक हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते यही द्वैत है । वास्तव में यह मनुष्य निश्चय कर लेता है कि एकमात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का परित्याग कर देता है । ऐसा करने के कारण दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता है । वास्तव में यह समस्त चाराचर जगत् उस परमात्मा की सत्ता के आश्रित है । पीछे दुन्दुभि

---

१ बृहदा० १.४.१ ॥

२ बृहदा० १.४.८ ॥

आदि दृष्टान्त भी इसलिये दिये है। लवण से भी यही बतलाया है कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से भी ग्रहण किया जाय वहां लवण ही लवण प्रतीत होता है, इसी प्रकार इस चराचर जगत् के पीछे अर्थात् भीतर व्यापक होने से सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दृष्टिगत होता है।[1] इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् में भी देख गये है। इसी भाव को दूसरे रूप में आगे कथन किया गया है कि यह पृथ्वी सब भूतों का मधु उपकारक है। यह तेजोमय प्रकाशक, अमृतमय आनन्दमय पुरुष है। वह उसी ब्रह्म के आश्रित है। समस्त विश्व को ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म कहा गया है।[2] इसी प्रकार आप (जल) अग्नि वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म और सत्यादि दृष्टान्तों से समस्त विश्व को उसके आश्रित बतलाकर उस आत्मतत्व को ब्रह्म कहा है। क्योंकि संसार के पदार्थ उसके आश्रय में रहते हैं इसलिये ही महान् है परन्तु इनकी महत्ता ब्रह्म के कारण है। जैसा कि अन्य उपनिषदों में भी हम देख आये हैं। संसार में समस्त वस्तुयें मिलकर उस ब्रह्म का पराभव नहीं कर सकती है। क्योंकि वह सभी रूपों में पूर्ण है वह सर्वत्र आकाश के समान होने के कारण पूर्ण है, उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य कारण रूप संघात्मक जगत् भी पूर्ण कहाता है। उसी पूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही जगत् अध्याकृत से शेष रह जाता है। कौरव्यायणी के पुत्र का मत है कि जो परमात्मा निरतिशय कल्याण गुणकार होने से ब्रह्म तथा आकाश की तरह सर्वगत होने से उसी को ब्रह्मवेत्ता लोक ओ३म् पद वाच्य

---

१ बृहदा० २.४.१४ ॥

२ इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां······स योऽयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्मदं सर्वम् ॥

कहते हैं। समाधि अवस्था में जप करते हैं क्योंकि मनुष्य एक मात्र उसी ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा प्रसंख्यान को प्राप्त होकर सब प्रकार के क्लेशों से रहित हो जाता है।[1] वास्तव में ब्रह्म सब कार्य कारणात्म संघात का कर्त्ता ब्रह्म के द्वारा ही भूमि, सूर्य, द्यौ आदि धारण किये हुए हैं।[2]

उक्त उपनिषदों में बहु देवता वाद या बहु ईश्वरवाद का विचार का अभाव है क्रमशः संक्षिप्त रूप में सभी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप का प्रतिवादन करने का अभिप्राय: यह है कि उपनिषदों की मूल भावना ओर पूर्वापर संगीत लगाकर अर्थ का वास्तविक भाव दूसरा ही है। उक्त उपनिषदों में ब्रह्म का जो स्वरूप प्रतिपादित यथार्थ रुप में हुआ है। ब्रह्म विषयक दयानन्द मत का निष्कर्ष—

१—बहुदेवतावाद या बहुईश्वर वाद की गंध भी उप निषदों में उपलब्ध ही होती है।

२—ईश्वर अमूर्त है इसलिए इसका अवतार कभी भी नहीं हो सकता है।

३— ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। दयानन्द ने जो ईश्वर का लक्षण किया है कि वह ब्रह्म सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त है उपनिषदों की मान्यता के अनुसार ही है[3]। ऋषि दयानन्द ने ईश्वर के जितने लक्षण लिए हैं वे लगभग सभी उपनिषदों में प्राप्त हो जाते हैं।

१—बृहदा० ५।१।१।।

२—सत्येनोत्तभिताभूमि.........दिविसोमो...... अथर्व० १४।१।१।१।।

३—ईश्वरकि जिसके कि ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं। जो सच्चिदानन्दा-

४–कुछ उपनिषद् मंत्रों में इसप्रकार के मंत्र उपरी दृष्टि से ज्ञान पड़ते हैं कि उनकी व्याख्या प्रत्यक्षवादी (अद्वैतवादी) की जाय तो अति समीचीन प्रतीत होती है परन्तु पूर्वापर और प्रसंगानुसार सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर याथार्थ वादी व्याख्या समीचीन जान पड़ती है।

दि लक्षण युक्त है, जिसके गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टिकर्ता धर्ण, हर्त्ता, सबजीवों, के कर्मानुसार सत्य न्याय के पालदाता आदि लक्षण युक्त है। इसी को परमेश्वर मानता है। (स०प्र० स्वमन्त व्यावतव्य प्रकाश-पृष्ठ ७३५-लक्षण।

दर्शनों में ईश्वर का स्वरूप—

ईश्वर (सिद्धि) में दार्शनिक युक्तियां

प्रश्न:–ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं घट सकता जब प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।

उत्तर :–परमात्मा की सत्ता की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से होती है क्योंकि सोम त्वचा प्राण आदि का बब स्पर्श रूप आदि सप्तरा सत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से उसका ज्ञान होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु अब विचारना चाहिए कि इन्द्रिय और मन के सहयोग से गुणों को प्रत्यक्ष होता है ना कि गुणी का जैसे चारों त्वचादि इन्द्रियों से स्पष्ट रूप रस गन्ध का ज्ञान होने से पूर्ण गुणी जो पृथ्वी आदि है उनका प्रत्यक्ष आत्मा युक्त मन से होता है वैसे ही संसार की प्रत्यक्ष रचना को देखकर उसके नियम ज्ञान और विचित्रता आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से ईश्वर भी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध

हो जाता है जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को विषयों में लगाया है अथवा चोरी आदि करवाता है तो उस समय हमारे मन में भय शंका और लज्जा उत्पन्न होती है, और जब हम अच्छे कार्य करते हैं —

१—चेतननिरपेक्षापरमाणवोननियम पूर्वक गतिशीला भवतुमर्हन्ति ज्ञानप्रयत्न शून्यत्वात् खण्डित गिरिऐवण्डादिवत् (नास्तिक वाद पृष्ठ ३० ।

२—सत्यार्थ प्रकाश मसु० ७ ।

तब आनन्द उत्साह आदि उत्पन्न होते हैं यह ईश्वर के गुण हमारे मन में प्रतिदिन प्रत्यक्ष होते हैं इस प्रकार गुणों के प्रत्यक्ष होने पर गणों को प्रत्यक्ष हो जाता है ।

मानस प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर के कर्तव्य आदि गुणों से उस कर्त्ता ईश्वर को भी प्रत्यक्ष हो जाता है यो गज प्रत्यक्ष जो योगियों को होता है उन योगियों का भी कथन है कि ईश्वर प्रत्यक्ष से सिद्ध है ऐसा उपनिषदकार के योगियों नें लिखा ब्रह्म प्रत्यक्ष है[1] । इस प्रकार यहां पर हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ईश्वर प्रत्यक्ष प्रभाव से सिद्ध है ।

ईश्वर की सिद्धि के लिये अमुमान प्रमाण भी किया जाता है अनुमान प्रमाण की सिद्धि हम ज्ञान मीमांसा परिच्छेद में कर आये

१—त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।

२—क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वद् घटवाद इति अनुमानस्य प्रमाणत्वाद् (तर्कदीपिका पृ० १२) ।

हैं। अतः उसको यहां लिखना प्रविष्ट प्रमाण मात्र होगा। यह सारा संसार जो पृथिवी आदि हमारे समक्ष उपस्थित है इनका निर्माण किसी ने किया होगा क्योंकि हम देखते है कि विना कारण के कार्य नहीं होता अतः पृथ्वी आदि किसी के वनाये हुए हैं कार्य होने से घटादि की तरह जिस प्रकार घटादि विना वनाये हुए नहीं वनते उसी प्रकार यह पृथ्वी आदि भी विना नियमित नहीं वन सकते। अतः पृथ्वी आदि का बनाने वाला कोई अवश्य होना चाहिये।

न्यातकुसुमाञ्जली में उदायनाचार्य ने ईश्वर की सिद्धि वहुत अच्छी युक्तियां दी है उनका भाव संक्षेप में इस प्रकार है।

१—सृष्टि एक कार्य है अतः इसका कारण होना चाहिए।

२—परमाणुओं के मिलाने से क्रिया हुई है अर्थात् आयोजन हुआ है इसलिये उस आयोजन का कोई कर्त्ता होना चाहिए।

३-सृष्टि का कोई आधार भी होना चाहिए जो उसको धारण किये हुए है।

४-सबसे पहले बुनना आदि काम सिखाने वाला भी कोई होना चाहिए अर्थात् कार्य क्षमता का देने वाला भी कार्य होना चाहिए।

५-यह जो वेदों का ज्ञान है उसका देने वाला भी कोई होना चाहिए।

६-वेदों का निर्माता कोई ना कोई अवश्य है। मनुष्य वेदों का निर्माण नहीं कर सकते।

१-कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्या विशेषाच्च साध्या विश्वविद व्ययः।५।१ न्याय कु०

२-God is dead. A created God can not be God. He can not help us. because his exoistence depends upon us.

७–मनुष्य सृष्टि आदि को अपने आप सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकते हैं। अत: भाषा प्रारम्भ में किसने दी।

८–यह सर्व प्रथम किसको सूझा वह परमात्मा ही हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है। पर ईश्वर की बुद्धि तथा प्रकृति की एक अपूर्ण छाया पड़ती है सृष्टि सदा रहती है क्योंकि इसका रचियता नित्य है सृष्टि बुद्धिमय है क्योंकि इसका कर्ता बुद्धिमान है।

वेदों में ईश्वर की अनन्तता के विषय में वहुत स्पष्ट प्रमाण आये है अत: ईश्वर की सिद्धि में शब्द प्रमाण की भी न्यूनता नहीं है जैसे कि अथर्व वेद में लिखा है कि ईश्वर भूत भविष्यत और वर्तमान इन तीनों से परे अर्थात इन तीनों का अधिष्ठाता है।

ईश्वर अनन्त मष्तिष्कों वाला अनन्त आंखों वाला अनन्त पैरों वाला वह सृष्टि को चारों ओर से घेर कर उससे भी ऊपर रहता है।

परमात्मा की इतनी महिमा है कि वह सबसे महान् है वह सृष्टि में चौथाई और तिगुना भाग तो उसका अमृत है कहने का भाव

---

1. This world reflects in an imperfect medium, the mind and nature of its creator. It is perpetual, as its creator is eternal, it is boundless as its creator is infinite, it is regular, as its creator is changless it is rational, as its creator is allwise" (P 198)

२- यांभत्वच्य भवन्त सर्वयश्चासघसतष्ठातति।
स्वर्यस्ल च केवल तस्में ज्येष्ठाण्ब्रह्ममेय नमः॥

यह है कि परमात्मा के एक चौथाई भाग में यह समस्त संसार और शेष भाग वह इस सृष्टि से अलग है। जो लोग परमात्मा को स्वीकार नहीं करते वे भूल करते हैं।

इसी मंत्र पर महर्षि दयानन्द स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि जो कुछ भूत भविष्यत और वर्तमान में हो रहा है वस सब उसकी की महिमा है बल्कि इतना ही नहीं उसकी महिमा का संपूर्ण रूप हम भी व्याख्यान भी नहीं कर सकते हैं। पृथ्वी से लेकर सभी भूत एक पैर के समान है।

प्रश्न—ईश्वर को अनन्त क्यो माना जाये। बहुत से विद्वान तो उसे सान्त भी मानते है यदि मान लिया जाय, कि ईश्वर एक स्थान पर है इसमें क्या आपत्ति होगी ? क्योंकि पुराणों में विष्णु को विष्णु लोक अर्थात् क्षीर सागर आदि मुसलमानों के धर्म ग्रन्थो में सातवें आकाश पर और इसाई चौथे आकाश पर मानते है इसप्रकार का ईश्वर मानने में आपको क्या आपत्ति है ?

उत्तर—जब हम सृष्टि को अनन्त मानते हैं तो ईश्वर को सान्त कैसे माना जा सकता है यदि हम मान लेवें की ईश्वर एक स्थान पर है तो उसके आगे क्या होगा ? शून्य ही रहेगा। शून्य भी नहीं हो सकता क्योंकि शून्य तो एक वस्तु विशेष का नाम है। एक बात विचारने की और है कि यदि ईश्वर सर्वव्यापक न हो तो वह सर्व शक्तिमान नहीं

३- सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष सहस्र पात।
सभूमि सर्वतः अस्पृत्वा त्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥यजु ३१॥

४- एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥यजू ३१।

हो सकता है फिर उस ईश्वर । मनुष्य के कर्मों को जानने के लिये नौकर आदि रखने पड़ेंगे । ईश्वर का उत्पन्न हुआ भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि फिर उसको क्यों न माना जाये जिससे वह उत्पन्न हुआ है फिर उसका पिता भी उत्पन्न हुआ होगा । इसप्रकार ईश्वर को अजन्मा ही मानना चाहिए, न ही ईश्वर के पिता के नाम को कोई जानता है अत: ईश्वर अनन्त ही सिद्धि है ।1

प्रश्न—ईश्वर को साकार क्यों ना माना जाय ?

उत्तर—जब हम उसको अनन्त सिद्ध कर आये हैं तो वह साकार कैसे हो सकता है न ही वह जन्म ले सकता है क्योंकि यदि जन्म लेगा तो कर्मों के बन्धन में आयेगा फिर तो वह जीव ही हुआ ईश्वर नहीं । वेद में उसे उत्पन्न नहीं होने वाला कहा गया है उस ईश्वर के शरीर भी नहीं कहा गया है तो हड्डी मास आदि का तो प्रश्न ही क्या है न ही वह पापादि के बंधन में जाता है ।

१–अस्य पुरुषस्य भूत भविष्यद्वर्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वैदितव्य: एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्न परिच्छेद इयन्तराजाते तिगम्यते । अत्र ब्रूते नैतावान् मात्र एव महिमेति । किं तर्हि ·अतोऽप्याधिक्तमो हिमान्स्ततस्यास्तीति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य) अस्यान्तं सार्मथ्यस्येवश्वरस्य (विश्वा) प्रकृत्यादि पृथ्वी पर्यंतानि सर्वाणि भूतान्येक पादोऽस्ति एकस्मिन् दशांशे सर्वं विश्वं वर्नते (त्रिपादस्या) अस्य दिवि............ मोक्षं सुखमस्ति । (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृ १२१)

प्रश्न– सृष्टि करने वाला कोई ईश्वर नाम की वस्तु नहीं है अपितु सब कुछ शून्य ही है। हम देखते हैं कि गणित का प्रारंभ शून्य से होता है सभी वस्तुवें शून्य में ही मिल जाती हैं।

उत्तर—बिना कर्ता के कोई कार्य नहीं हो सकता है शून्य अपने में कुछ नहीं है चेतन तत्व अनादि है वही सभी लोक लोकान्तरों में गति दे रहा है इस विषय में मैडम लैवेटसकी ने सत्य ही कहा है ईश्वर भी नहीं जीव भी नही यह कितनी बड़ी भयानक कल्पना है उन्मत्त मद नास्तिक का अपनी मनोचक्षु के सम्मुख प्रकृति शी

१–अजएकपात्। यजू० ३४।५३।

२–सपर्यगाच्छुक्र मकायश्नाव्रिरं शुद्धमपापविद्धम ...... यजू० ४०।८

३–पूव० ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं। उत्तर—नहीं। सत्यार्थ प्रकाश, ११ समु

4–No. God no Socl ? Dread full annihilatengthough. The maddening nightmare of a lunatic-ateeist; and presenting before his fevered vision a hideous ceaseless procession of sparks of cosmic matter created by no one; salf apearing self existant and self developing; this self, for it is I nothing and no body floating onward from no hence it is propelled by no cause for there is none and it rushes now hether and this in a ride of eternity blind inertand causeless. (It is unceiled) Vol I XXII

५–सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म।

हो सकता है फिर उस ईश्वर। मनुष्य के कर्मों को जानने के लिये नौकर आदि रखने पड़ेंगे। ईश्वर का उत्पन्न हुआ भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि फिर उसको क्यों न माना जाये जिससे वह उत्पन्न हुआ है फिर उसका पिता भी उत्पन्न हुआ होगा। इसप्रकार ईश्वर को अजन्मा ही मानना चाहिए, न ही ईश्वर के पिता के नाम को कोई जानता है अतः ईश्वर अनन्त ही सिद्धि है।[1]

प्रश्न—ईश्वर को साकार क्यों ना माना जाय ?

उत्तर—जब हम उसको अनन्त सिद्ध कर आये हैं तो वह साकार कैसे हो सकता है न ही वह जन्म ले सकता है क्योंकि यदि जन्म लेगा तो कर्मों के बन्धन में आयेगा फिर तो वह जीव ही हुआ ईश्वर नहीं। वेद में उसे उत्पन्न नहीं होने वाला कहा गया है उस ईश्वर के शरीर भी नहीं कहा गया है तो हड्डी मास आदि का तो प्रश्न ही क्या है न ही वह पापादि के बंधन में जाता है।

१—अस्य पुरुषस्य भूत भविष्यद्वर्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्न परिच्छेद इयन्तंराजाते तिगम्यते। अत्र ब्रूते नैतावान् मात्र एम महिमेति। किं तर्हि ·अतोऽप्याधिक्तंमो हिमान्नस्ततस्यास्तीति गम्यते। अत्राह (पादोऽस्य) अस्यान्तं सामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) प्रकृत्यादि पृथ्वी पर्यंतानि सर्वाणि भूतान्येक पादोऽस्ति एकस्मिन् दशांशे सर्वं विश्वं वर्तते (त्रिपादस्या) अस्य दिवि............ मोक्षं सुखमस्ति। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृ १२१)

प्रश्न– सृष्टि करने वाला कोई ईश्वर नाम की वस्तु नहीं है अपितु सब कुछ शून्य ही है। हम देखते हैं कि गणित का प्रारंभ शून्य से होता है सभी वस्तुवें शून्य में ही मिल जाती हैं।

उत्तर—बिना कर्त्ता के कोई कार्य नहीं हो सकता है शून्य अपने में कुछ नहीं है चेतन तत्व अनादि है वही सभी लोक लोकान्तरों में गति दे रहा है इस विषय में मैंडम लैवेटसकी ने सत्य ही कहा है ईश्वर भी नहीं जीव भी नही यह कितनी बड़ी भयानक कल्पना है उन्मत्त मद नास्तिक का अपनी मनोचक्षु के सम्मुख प्रकृति शी

१–अजएकपात्। यजू० ३४।५३।

२–सपर्यगाच्छुक्र मकायश्नाविरं शुद्धमपापविद्धम ...... यजू० ४०।८

३–पूव० ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं। उत्तर—नहीं। सत्यार्थ प्रकाश, ११ समु

4–No. God no Socl ? Dread full annihilatengthough. The maddening nightmare of a lunatic-ateeist; and presenting before his fevered vision a hideous ceaseless procession of sparks of cosmic matter created by no one; salf apearing self-existant and self developing; this self, for it is I nothing and no body floating onward from no hence it is propelled by no cause for there is none and it rushes now hether and this in a ride of eternity blind inertand causeless. (It is unceiled) Vol I XXII

५–सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म।

चिन्गारियों की अपरिमित श्रंखला के ऐसे कुरूप की कल्पना कहना जिसकी उत्पत्ति शून्य से हुई जो स्वयं भी कुछ नहीं क्योंकि न शक्ति है न पुरुष है प्रवाहित हो रहा है परन्तु कही से नहीं इसका कारण कोई नहीं क्योंकि कारण का सर्वथा अभाव है यह जा रहा है परतु कहीं को नहो। यह अनंन्त का चक्र है अन्धा निष्क्रिय और अकारण परमात्मा ही सृष्टि का निर्माण करता है और वह अनंत है।

प्रश्न—अच्छा ईश्वर को मान लिया जावे परन्तु जीव और प्रकृति ... क्या आवश्यकता है ? जो अधिक समर्थ होते उन्हें उतने कम साधनों की आवश्यकता है।

उत्तर—ईश्वर केवल निमित कारण है उपादान कारण प्रकृति को न माना जाये तो सृष्टि में चेतनता आदि गुण आने चाहियें अतः उपादान कारण मानना आवश्यक है। यदि जीव न माने जाये तो सृष्टि किसके लिये बनी इसका निर्माण ही व्यर्थ हो जायेगा शेष इस संबन्ध में अद्वैत खण्डन में लिखा गया है पुनः लिखना कलेवर मात्र बढाना ही होगा।

संख्या दर्शन में उस ईश्वर को नित्य मुक्त कहा है वह ईश्वर जीवात्मा के साथ रहता हुआ कर्म फल भोगों में प्रति उदासीन है वह प्रकृति को कार्य रूप में करता है इसलिये ईश्वर में कर्तव्य सिद्ध होता है उसे विश्व कर्ता भी कहा है वही परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता है इस प्रकार ईश्वर सिद्ध है अर्थात् ईश्वर की सिद्धि है अतः सृष्टि का प्रथम

१—नित्यमुक्तव्यं (संख्या १।१६२)
२—औदासिन्य चेति (सा० १।१६३)
३—कार्यतस्तत्सिद्धि ? ॥ सा० २।६॥ साहिविपूर्भक विश्व विदात्म यानिर्ज्ञः (श्वेता० ६।६
४—स हि सर्वावित्सर्वकर्ता। ई दृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ सां० ३।५७।

तत्व ईश्वर है यहां पर हमने संक्षेप में ईश्वर की सिद्धि की है शेष तत्रवाद के प्रमाणों में ईश्वर का वर्णन विस्तार पूर्वक आया ही है तत्व मीमांसा के संबन्ध में दार्शनिकों को प्रथम समस्या है कि ऐसा चेतन तत्व कौन है हमष्त जगत का निर्माण करता है वह तत्व ईश्वर है जिसे हम ईश्वर सिद्धि कर चुके है।

ईश्वर सिद्धि के पश्चात दूसरा चेतन तत्व क्या है? वह एक है या अनेक है वह चेतनता भूतों से आती है या ईश्वर की भाति शाश्वत नित्य है आदि प्रश्न होते हैं उनका समाधान जीव प्रकरण में किया जायेगा।

मध्यकालीन आचार्यों की मान्यता—

आचार्य शंकर का मत

जगत् की रचना और उसके कारणों को लेकर दार्शनिक जगत् में विवाद है। ब्रह्म को जगत् का कौन सा कारण स्वीकार किया जाय यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। सामान्यत: विश्व की दृष्ट वस्तुओं के निर्माण में तीन कारणों को स्पष्टत: स्वीकार किया जाता है। प्रथम कारण निमित्त कारण, द्वितीय उपादान, तृतीय साधारण कारण है। जैसे घट का निर्माण हमारे समक्ष प्रत्यक्ष कुम्भकार करता है। इस घट के निर्माण में निमित्त कारण कुम्भकार, मृत्तिका उपादान कारण और चक्रादि साधारण कारण है। प्राय: दृष्ट वस्तुओं का इन्हीं तीन कारणों से सर्वत्र निर्माण दृष्टिगोचर होता है। यदि उच्च दार्शनिक चिन्तन को समीचीन माना जाय तो स्पष्ट है कि इस विश्व की सृष्टि रचना में ब्रह्म[1] निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीवादि साधारण कारण हैं।

---

१ महर्षि दयानन्द ईश्वर और ब्रह्म को पर्याय स्वीकार करते हैं।

दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में यह सर्वविदित है कि विश्व रचना के कारणों में भारतीय मनीषियों में मतभेद रहा है। उपनिषदों के भाष्यकारों में भी यह मतभेद स्पष्ट रूप से उभर कर आया है। वेदान्त दर्शन, उपनिषद् और गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य शंकर का मत सर्वविदित है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण नहीं है। क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्म में कर्तृत्व आदि गुणों को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि ब्रह्म को सृष्टि रचना का निमित्त कारण माना जाय तो ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना होगा। उनके मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मानने पर दूसरी आपत्ति यह आती है यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तो सृष्टि रचना के लिये उपादान कारण प्रकृति को भी स्वाकार करना पड़ेगा जो उनको अमान्य है। आचार्य शंकर ब्रह्म में कोई भी कर्तृत्वादि गुण स्वीकार न करने पर भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं।

जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति स्पष्ट रूपेण होती है। हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह सर्प है, उससे भयभीत होते हैं। इसी प्रकार आचार्य शंकर और उसके अनुयायी शुक्तिका में रजत का ज्ञानादि उदाहरण देते हैं। रज्जु सर्प का निमित्त कारण भी है और उपादान भी है। अतः रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शुक्तिका और रजत के उदाहरणों में भी जान लेना चाहिये। उपर्युक्त दृष्टान्तों के अनुसार ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ऐसा सिद्ध करने के लिये वे अध्याय का आश्रय लेते हैं। उनका कथन है कि स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में अवभास (प्रतीति) वही अध्यास है। कुछ लोग एक

दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं।[1] जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जु रूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित सर्प अध्यास है। अध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास[2] जब अज्ञान समाप्त हो जाता है तो हम कहते हैं कि यह सर्प नहीं, अपितु रज्जु है। जिस अधिष्ठान मे जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसके गुण अथवा दोष से वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नही होता हैं। जैसे कि रज्जु के गुण सर्प में नहीं आते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है तो ब्रह्म के भी गुण जगत् में नहीं जायेंगे। यह मानकर आचार्य शंकर ने उपादान कारण के गुण कार्य में आते हैं, इस दोष से ब्रह्म को बचाने का प्रयास किया ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध करने के लिए उन्होंने मुण्डकोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैसे मकड़ी अपने में से जाला उत्पन्न करती है और अपने में समेट लेती है ठीक

---

१ स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास: तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यासः।
ब्रह्मसूत्र–शंकरभाष्य–सत्यानन्द ग्रन्थमाला–पृष्ठ ४।

२ जैसे कि "शुक्तिमिदंरजतम्" (शुक्ति में यह रजत है) यह रजत् शुक्ति ने स्वरूप से ही अध्यस्त हैं, क्योंकि भ्रमकाल से पहले वहां रजत नहीं है। केवल भ्रमकाल में नूतन अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है और (नेदं रजतम) यह रजत नहीं है। अत: ज्ञान से बाध होता है। वह अध्यस्त है। इस प्रकार शुक्ति का अध्यस्त स्वरूप के रजत् साथ संसर्गाध्यास है। (शंकर भाष्य पर सत्यान्दी दीपिका–पृष्ठ ५)।।

दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में यह सर्वविदित है कि विश्व रचना के कारणों में भारतीय मनीषियों में मतभेद रहा है। उपनिषदों के भाष्यकारों में भी यह मतभेद स्पष्ट रूप से उभर कर आया है। वेदान्त दर्शन, उपनिषद् और गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य शंकर का मत सर्वविदित है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण नहीं है। क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्म में कर्तृत्व आदि गुणों को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि ब्रह्म को सृष्टि रचना का निमित्त कारण माना जाय तो ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना होगा। उनके मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मानने पर दूसरी आपत्ति यह आती है यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तो सृष्टि रचना के लिये उपादान कारण प्रकृति को भी स्वाकार करना पड़ेगा जो उनको अमान्य है। आचार्य शंकर ब्रह्म में कोई भी कर्तृत्वादि गुण स्वीकार न करने पर भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं।

जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति स्पष्ट रूपेण होती है। हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह सर्प है, उससे भयभीत होते हैं। इसी प्रकार आचार्य शंकर और उसके अनुयायी शुक्तिका में रजत का ज्ञानादि उदाहरण देते हैं। रज्जु सर्प का निमित्त कारण भी है और उपादान भी है। अतः रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शुक्तिका और रजत के उदाहरणों में भी जान लेना चाहिये। उपर्युक्त दृष्टान्तों के अनुसार ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ऐसा सिद्ध करने के लिये वे अध्याय का आश्रय लेते हैं। उनका कथन है कि स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में अवभास (प्रतीति) वही अध्यास है। कुछ लोग एक

दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं।[1] जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जु रूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित सर्प अध्यास है। अध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास[2] जब अज्ञान समाप्त हो जाता है तो हम कहते हैं कि यह सर्प नहीं, अपितु रज्जु है। जिस अधिष्ठान मे जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसके गुण अथवा दोष से वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नही होता हैं। जैसे कि रज्जु के गुण सर्प में नहीं आते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है तो ब्रह्म के भी गुण जगत् में नहीं जायेंगे। यह मानकर आचार्य शंकर ने उपादान कारण के गुण कार्य में आते हैं, इस दोष से ब्रह्म को बचाने का प्रयास किया ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध करने के लिए उन्होंने मुण्डकोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैसे मकड़ी अपने में से जाला उत्पन्न करती है और अपने में समेट लेती है ठीक

---

१ स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभासः तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यासः।
ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य-सत्यानन्द ग्रन्थमाला-पृष्ठ ४।

२ जैसे कि "शुक्तिमिदंरजतम्" (शुक्ति में यह रजत है) यह रजत् शुक्ति ने स्वरूप से ही अध्यस्त हैं, क्योंकि भ्रमकाल से पहले वहां रजत नहीं है। केवल भ्रमकाल में नूतन अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है और (नेदं रजतम्) यह रजत नहीं है। अतः ज्ञान से बाध होता है। वह अध्यस्त है। इस प्रकार शुक्ति का अध्यस्त स्वरूप के रजत् साथ संसर्गाध्यास है। (शंकर भाष्य पर सत्यान्दी दीपिका-पृष्ठ ५)॥

उसी प्रकार इस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और इसी में लीन हो जायेगा ।1

ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा शंकर स्वामी ने ब्रह्म को ही जगत का कारण सिद्ध करने के साथ उपनिषदों के भाष्यों में भी ब्रह्म का उसीप्रकार का वर्णन किया है । उनकी मान्यता है कि व्यक्तिगत चैतन्य की संज्ञा आत्मा और समष्टिगत चैतन्य की संज्ञा ब्रह्म है । आत्मा और ब्रह्म में अद्वैत है ।2 ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ है—बृहत्3—अर्थात् महान् होने के कारण निरपेक्ष परम सत्य ब्रह्म ही है । आचार्य शंकर तैत्तिरोयोपनिषद् का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि ब्रह्म जिसका लक्षण है कि वह महान् है । उसे जो जानता है वह ब्रह्मवित् कहलाता है । ब्रह्मवित् उस परम निरतिशय ब्रह्म को किसी अन्य की प्राप्ति नहीं हुआ करती है । वह जो कि निश्चय ही उस परब्रह्म को जानता है । वह ब्रह्म ही हो जाता है ।4 ब्रह्म सर्वातिशय अर्थात् सबसे बड़ा उससे महान् कोई नहीं है । जिन

१—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्वते च यथापृथिव्यामोषधयः संभवति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् संभवतीहविश्वम् । मुण्डको० १/७

२—स वा अयं आत्मा ब्रह्म—बृहदारण्यः ४-४-५ ॥

३—बृहत्वाद् ब्रह्म (यहां धात्वर्थ है) अर्थात् महान् ॥

४—ब्रह्मविद्वहनेति वक्ष्यमाण लक्षणं—बृहतमत्वा ब्रह्ममत्वा ब्रह्मतद्वेति-विजानातीत—स यो वै हवं तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । शांकर भाष्य—तैत्तिरीयोपनिद्—गीता प्रेस गोरखपुर—पृष्ठ ९८ पर हिन्दी सहित—द्रष्टव्य) ॥

३– स य एणअणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति । छा० ६।८।७।।

४– येन चात्मवतसर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसता अतएव स एवात्मा जगतः प्रत्यक स्वरूपं सतत्वं याथात्म्यम् । पर शंकर छा० ६।८।७ भाष्य ।

५– अशेष विशेष प्रत्यनीकचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थतः । तदतिरिक्त नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं तस्मिन्मेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम् । वेदान्तसार–शंकरभाष्य–४+ छा० ६।८।७ पर ।

आचार्य शंकर ब्रह्म को किसी भी प्रकार से सविशेष स्वीकार नहीं करते हैं अर्थात् वे निर्विशेष और निर्गुण मानते हैं । निर्गुण शब्द से अभिप्राय है कि उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार का गुण नहीं है है अर्थात् वह ब्रह्म गुण विहीन है । जो वाक्य उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हैं । आचार्य शंकर उनका अर्थ विधेयात्मक न कर के अपितु निषेधात्मक पद्धति से करते हैं । जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणों या गुणों वाला कहा है । 1 सत्य का अर्थ आचार्य शंकर करते हैं कि ब्रह्म असत्य नहीं है अर्थात् वह विकार रहित है । 2 इसी प्रकार ज्ञान का अर्थ भी उनकी दृष्टि में ज्ञान गुण नहीं है अपितु उसमें अज्ञान नहीं और अन्नत का अभिप्राय है वह ब्रह्म सान्त नहीं है । 3 आचार्य शंकर ब्रह्म को परब्रह्म और अपर ब्रह्म दो रूपों में मानते हैं । उनका कथन है । पर ब्रह्म में स्वतः रूप आदि विशेषण वाली भी हो और इसके विपरीत भी हो 4 आगे उन्होंने कहा कि अपर ब्रह्म का प्रतिषेध तो नहीं किया जा सकता है । अर्थात् परब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों का प्रतिषेध तो नहीं हो सकता है, अन्यथा शून्यवाद सिद्ध हो जायेगा । 5 जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं कि आचार्य शंकर ब्रह्म को सभी विशेषणों से

रहित और निर्विकल्प मानते हैं। ६ उनका स्पष्ट मत है कि उपनिषदें ब्रह्म को सभी निर्विशेष ही स्वीकार करती हैं।

१– सत्यज्ञानानन्तं ब्रह्म – तैत्तिरीयोपनिषद् व ब्र. वाँ अनु १
२– अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति–तै०उ० शंकरभाष्य– २।१॥
३– द्रष्टव्य तैत्तिरीय उपनिषद् पर शंकर भाष्य ॥
४– न तावत् स्वतः एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते। नहयेकं वस्तु स्वतः एवं रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीत चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। शंकरभाष्य–ब्र०सू० ३।२।११) ॥
५– न तावद् उभयप्रतिषेव उपपद्यते शून्यवाद प्रसंगात्। –ब्र० स० शंकरभाष्य– ३।२।२२॥
६– अतश्चान्यतरलिंगपरिग्र है अपिसमस्त विशेषरहितं निर्विल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद् विपरीतं—सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन परेषु वाक्येषु ज्ञत्येवमादिष्वपास्त समस्त विशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते। ब्र० सू० शांकर भाष्य ॥ रही

ब्रह्म तो सब विशेषणों से रहित निर्विकल्प ही है । उनके मन में ब्रह्म को ऐसा ही उपनिषदों ने स्वीकार किया है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर का स्वरूप और सिद्धि—

जीवन की जटिलताओं मे व्यस्त नाना दुखों से परिक्लान्त जीवात्मा आदि युग से किसी ऐसी सत्ता की तलाश में भटक रहा है। जो उसके सभी दुखों का एकमात्र समाधान हो। विभिन्न चिन्तकों ने ऋषियों में वेदों के माध्यम से उस सत्ता का स्वरूप खोजने का प्रयास किया है एवं सफलता प्राप्त की है। रामानुज एक लम्बी परम्परा पर्याय हैं। जो वेदों से लेकर अलावार के सन्तों तक फैली हुई है । इसी आवान्तर में अनेक ऋषि, मुनि और दार्शनिकों ने यथा सार्मथ्य

उपनिषद वचनों से आचार्य शंकर केवल ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध करते है उनमें से मुख्य वचन इस प्रकार है ! जैसा कि छान्दोग्य में कहा गया है कि जो समस्त है सब आत्मा ही है।[1] छान्दोग्य की मान्यता है कि आत्मा ही सब कुछ है। इसी विषय में मुण्डकोपनिषद् का कहना है कि सबसे पहिले ब्रह्म ही अमृत है और ब्रह्म ही सब कुछ है ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं है।[2] जगत् में नाना कुछ भी नहीं है केवल ब्रह्म ही है।[3] आचार्य शंकर उपनिषदों के कुछ वचनों का महावाक्य नाम से कहते है। संभवतः महावाक्य यह नाम उन्हीं का दिया हुआ है। उनकी मान्यता हैं कि इन महावक्यों द्वारा भी ब्रह्म ही केवल निरपेक्ष[4] और परम सत्ता है। इन महावाक्यों का क्रमशः आचार्य शंकर के अनुसार अर्थ प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम यह ब्रह्म ही था, उसने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूं। अतः वह सर्व हो गया उसे देवों में से जानने वाला बृहद्रूप हो गया। उसे आत्म-रूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना कि इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूं।[5] इस वचन पर आचार्य शंकर भाष्य करते हुए कहते हैं कि यहां ब्रह्म शब्द से ऊपर ब्रह्म अभिप्रेषित है क्योंकि उसी में सर्वभाव का साध्यत्व संभव है। इससे आगे कहा गया है कि वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारण रहित) अनपर (कार्यरहित) अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है।

१– इदं सर्व यदयमात्मा – बृ० २।४।६॥
२– आत्मैवेदं सर्वम् – छा० ७।२५।२॥ (२) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात ब्रह्मैवेदं सर्वं मु० २।२।११
३– सर्वं खल्विदं ब्रह्म – छा० ३।१४।१ – नेह नाना अस्ति किंचन बृ० ४।४।१९॥
४–
५– ब्रह्म वा इमग्र आसीत्तदात्मानमेवात् –अहं ब्रह्मास्मि इति। तस्मा-

त्तत्सर्वमभवत् – बृ० १।४।१०।।

यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है। 1 आचार्य शंकर के इस वचन के भाष्य में कहते हैं कि वह निरन्तर ब्रह्म कौन है। जो प्रत्यात्मा द्रष्टा श्रोता, मन्ता, बौद्धा, अर्थात् जानने वाला और सर्वानुभू है। उसका न कोई कारण है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। अगले महावाक्य में कहा गया है कि पहले यह पुरुष आत्मा ही था। उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न न देखा। उसने आरम्भ में अहमस्मि अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं। 2 इससे अगले महावाक्य में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह यह जो अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु वही तू है। इस पर शंकर का कहना है कि जिस आत्मा से यह समस्त जगत् आत्मवत् है वही सत् संज्ञक है। कारण सत् अर्थात् परमार्थ सत् है। 3 अर्थात् वह आत्मा ही जगत् का प्रत्येक स्वरूप हैं सतत्व याथात्म्य है ; जिस प्रकार गौ आदि शब्द बैल गाय आदि अर्थ में रूढ़ हैं उसी प्रकार उपपदरहित आत्मा शब्द प्रत्यमात्मा में रूढ़ हैं अतः है श्वेतकेतु वह सत् तू है। 4

वह यह जो समस्त जगत् दृश्यरूप दिखलाई दे रहा है वह सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म है। जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता ज्ञेय आदि जो भेद हैं वे सब कल्पित और मिथ्या है। 5

१– तदेतत् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं–अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् (बृ० ५।१९) गीता प्रैस गोरखपुर से मुद्रित।

२– आत्मवेदता आसीत् पुरुष—सोअहमं आस्मीत्यग्रे व्याहगत् ततोअहं नामभवत् बृ० १।४।१।।

उस परम सत्ता का संधान किया है, जो विभिन्न रूपों में उनके विचारों के माध्यम से हमारे समक्ष आती है। किन्तु रामानुज का भावित परिपूरित हृदय उससे संभवतः सन्तुष्ट नहीं हो पाया। वह ऐसी सत्ता के अनुसंधान में व्याप्त होता है और उसे खोजता है, जो समस्त विचारों से दूर–सभी आदर्शतम गुणों का आकर एवं सभी जनों को सुलभ हो। इन सभी आदर्श भावनाओं की पूर्ति विष्णु भगवान में देखते हैं। वही ईश्वर है, वही परमात्मा है, वही परम ब्रह्म है। विष्णु किंवा परमात्मा को विशिष्टाद्वैत में कहीं वासुदेव कहा गया है और कहीं नारायण। जगत् के सभी पदार्थ उसी परमात्मा का नाम अभिधान करते हैं, क्योंकि वह सबमें परिव्याप्त हैं। लोकाचार्य ने ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हुए कहा है—

ईश्वर समाप्त क्षुद्रताओं से रहित, अनन्त, ज्ञानान्दमात्र स्वरूप ज्ञानशक्ताभा कल्याणकारी गुणों से अलंकृत समस्त जगत् के सृष्टि, पालन, प्रलय के संयोजक, आर्ष जिज्ञासु। विषयी और ज्ञानी-चारों प्रकार के जीवों के समाश्रय रूप, धर्म, अर्थ, मोक्ष, लाभ, चारों प्रकार के फलों के प्रदाता, विलक्षण शरीरवान् है ॥1

१ ईश्वरोअखिलप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्देकस्वरूपो ज्ञानशक्तत्या दिकल्याणगण विभुषितः सकलजगन्सृष्टि स्थितसंहारकर्त्ता आप्तो जिज्ञासरपापो ज्ञानी-त्यक्तयतोयिधपुरुपसमाणीया धम्मार्थकाममोक्षाख्यं चतु विधिफलप्रद्रो विलक्षण विग्रह्युवेतो(तत्वत्र०पृष्ठ ८५)॥

वेदान्त देशिक ने अवान्तर रूप से ईश्वर के विषय में कहा है-सर्वेश्वर या सर्वव्यापक होते हुए चेतन पदार्थों के शेष रूप, सारे कर्मों के समाराध्य, सर्वफलप्रदाता, सर्वाधार और सब कार्यों के उत्पादक अपने दर्धभूत ज्ञान तथा स्वयं के स्वरूप के अतिरिक्त सभी द्रव्य रूपी शरीरों में आत्म रूपेण भी समान तथा स्वतः जो सत्य संकल्प कहते

तत्सर्वमभवत् – बृ० १।४।१०।।

यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है। 1 आचार्य शंकर के इस वचन के भाष्य में कहते हैं कि वह निरन्तर ब्रह्म कौन है। जो प्रत्यात्मा द्रष्टा श्रोता, मन्ता, बौद्धा, अर्थात् जानने वाला और सर्वानुभू है। उसका न कोई कारण है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। अगले महावाक्य में कहा गया है कि पहले यह पुरुष आत्मा ही था। उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न न देखा। उसने आरम्भ में अहमस्मि अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं। 2 इससे अगले महावाक्य में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह यह जो अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु वही तू है। इस पर शंकर का कहना है कि जिस आत्मा से यह समस्त जगत् आत्मवत् है वही सत् संज्ञक है। कारण सत् अर्थात् परमार्थ सत् है। 3 अर्थात् वह आत्मा ही जगत् का प्रत्येक स्वरूप हैं सतत्व याथात्म्य है; जिस प्रकार गौ आदि शब्द बैल गाय आदि अर्थ में रूढ़ हैं उसी प्रकार उपपदरहित आत्मा शब्द प्रत्यमात्मा में रूढ़ हैं अतः हे श्वेतकेतु वह सत् तू है। 4

वह यह जो समस्त जगत् दृश्यरूप दिखलाई दे रहा है वह सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म है। जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता ज्ञेय आदि जो भेद हैं वे सब कल्पित और मिथ्या है। 5

१– तदेतत् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमवाहयं–अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्वनुशासनम् (बृ० ५।१९) गीता प्रैस गोरखपुर से मुद्रित।

२– आत्मवेदता आसीत् पुरुष—सोअहमं आस्मीत्यग्रे व्याहगत् ततोअहं नामभवत् बृ० १।४।१।।

उस परम सत्ता का संधान किया है, जो विभिन्न रूपों में उनके विचारों के माध्यम से हमारे समक्ष आती है। किन्तु रामानुज का भावित परिपूरित हृदय उससे संम्भवत: सन्तुष्ट नहीं हो पाया। वह ऐसी सत्ता के अनुसंधान में व्याप्त होता है और उसे खोजता है, जो समस्त विचारों से दूर—सभी आदर्शतम गुणों का आकर एवं सभी जनों को सुलभ हो। इन सभी आदर्श भावनाओं की पूर्ति विष्णु भगवान में देखते हैं। वही ईश्वर है, वही परमात्मा है, वही परम ब्रह्म है। विष्णु किंवा परमात्मा को विशिष्टाद्वैत में कहीं वासुदेव कहा गया है और कहीं नारायण। जगत् के सभी पदार्थ उसी परमात्मा का नाम अभियान करते हैं, क्योंकि वह सबमें परिव्याप्त हैं। लोकाचार्य ने ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हुए कहा है—

ईश्वर समाप्त शूद्रताओं से रहित, अनन्त, ज्ञानान्दमात्र स्वरूप ज्ञानशक्ताभा कल्याणकारी गुणों से अलंकृत समस्त जगत् के सृष्टि, पालन, प्रलय के संयोजक, आर्प जिज्ञासु। विषयी और ज्ञानी-चारों प्रकार के जीवों के समाश्रय रूप, धर्म, अर्थ, मोक्ष, लाभ, चारों प्रकार के फलों के प्रदाता, विलक्षण शरीरवान् है ॥

१ ईश्वरोअखिलप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्देकस्वरूपो ज्ञानशक्तत्या दिकल्याणगण विभुषितः सकलजगन्सृष्टि स्थितसंहारकर्त्ता आप्तो जिज्ञासरपापो ज्ञानी-त्यक्तयतोयिधपुरुपसर्माणीयां धम्मार्थकाममोक्षाख्यं चतुर्विधिफलप्रद्रो विलक्षण विग्रह्युवेतो(तत्वत्र०पृष्ठ ८५)॥

वेदान्त देशिक ने अवान्तर रूप से ईश्वर के विषय में कहा है- सर्वेश्वर या सर्वव्यापक होते हुए चेतन पदार्थों के शेष रूप, सारे कर्मों के समाराध्य, सर्वफलप्रदाता, सर्वाधार और सब कार्यों के उत्पादक अपने दर्धभूत ज्ञान तथा स्वयं के स्वरूप के अतिरिक्त सभी द्रव्य रूपी शरीरों में आत्म रूपेण भी समान तथा स्वत: जो सत्य संकल्प कहते

हैं, वे ईश्वर है ।1

ईश्वर सबका स्वामी और सबका शेषी अर्थात् पूरक है। जीव और जगत् उसके शरीर या प्रकार रूप हैं। उन सब में आत्मभाव से रहता हुआ उनका नियंत्रण करता है।2 आचार्य रामानुज के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सभी जड़-जगत उसके द्वारा व्याप्त हैं। जीवात्मा भी उससे व्याप्त हैं विशिष्टाद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म हैं—जो सबमें आत्मभाव से रहता हुआ, सबका नियामक है। यदि वह प्रकृति में व्याप्त होकर उसका नियामक न हो तो सृष्टि क्रम में एक अव्यवस्था दोष दिखाई देने लगे।

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म जीवात्मा को कर्मों की प्रेरणा देता है, कर्म करने की सामर्थ्य देता है और अनन्तर अपने ईश्वर रूप के द्वारा उसके कर्म फलों का वितरण या नियमन करता है। अन्तर्यामी होने से भी उसको जीव के शरीर गत बाल यौवनादि जागृति, सुसुप्ति और मूर्च्छा आदि तथा प्रकृति के विकार नहीं बांधते वह सभी प्रकार के विकारों से रहित है। सर्वत्र व्याप्त परमात्मा दुख सुख का आश्रय भी नहीं बनता क्योंकि पाप-पुण्य की परिभाषाओं

१ सर्वेश्वर त्वं व्यापकत्वं सति चेतनत्वं सर्वशेषित्वं, पूर्वकर्मस्मारा-ध्मत्वं सर्वफलप्रदत्तं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादक त्वं स्वज्ञानंस्वेतरसमस्तद्रव्य शरीरकत्मं स्वतः सत्यसकल्पत्वादिकं वैश्वरलक्षणम् । (न्यायसिद्धा० ईश्वर परिच्छेद) ॥

२ परस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मकं सर्वशरीरक त्वं सर्वनियन्तृत्व च प्रतिपद्यते श्रीभाष्य ॥ १-२-१६ ॥

में लिपटे कर्मों से वह सर्वथा अस्पृक् हैं। मुण्डकोपनिषद् भी कहता कि एक ही शाखा पर रहते हुए (जीवात्मा रूपी) पक्षी मधुर फलों का उपभोग करता है, जबकि दूसरा बिना खाये ही देखता रहता है।

वह सत्यकाम और सत्य संकल्प है। वह सबका नियमन करने से ही सर्वेश्वर है।2 वह सर्वज्ञ है, उसका धर्म भूतज्ञान त्रिकालाबाधित अपरिवर्तनशील है। वह सबको तत्तकर्मानुसारि फल प्रदान करता है, जो उसकी अपरिच्छिन्न ज्ञातता किंवा सर्वज्ञता का ही सूचक है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप सर्वसद्गुणों से सम्पन्न है। वह सभी परिणामों से रहित पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। यह परिवर्तनशील संसार उसी अपरिवर्तनशील आश्रयरूप ईश्वर में स्थित होकर रहता है। इसीलिए इस संसार को सत् कहा जाता है। उसमें और उसके आश्रयभूत जीव में किसी भी प्रकार के धर्मभूत ज्ञानातु-प्राणित कर्मों का संक्रमण नहीं होता। इसीलिये वह सत्यों का सत्य भी कहा गया है। 3

आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही उसका स्वरूप नहीं है। उसमें अन्य अनेक गुणों का भी सन्निवेश हैं। वह सभी के ज्ञान-वत्यादि कल्याण गुणों का आश्रय है। आनन्द इसका सारभूत गुण है। 4 उसमें लेशमात्र भी दुख का अंश नहीं है। तैत्तिरीय उसे 'रस' बतातहै। 6। वह सर्वज्ञ है, उसका धर्मभूत।

१– अपि वेके शखिन एकस्मिनेव देह-संयोग बोधस्यापुरुषार्थे परस्पतु तद्भावम्—अधीयते। श्रीभाष्य— ३-२-१३।

२– यतीन्द्र मत० पृष्ठ ८४।

३– (क) तस्य च ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयम्।

(ख) जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोवकितुसो वियते, परमपुरुष-स्पत्वपहतपापम्नस्ती न विद्यते। अतः तेभ्योअप्येव सत्यम् श्रीभाष्यं॥ पूर्वोक्त

४– प्राज्ञस्यानन्दः सारभूतों गुणः इति प्राज्ञ. आनन्द शब्देन व्यपदिश्यते। पूर्वोक्तेव – ३-३-२॥

५– आनन्दप्राचुर्यमल्भूपद्ुः सर्वभावभवगमयतीति तदसत् प्रमाणान्त-
रेण तद्भावोवगम्य: ।
६– रसौ वे स: –नैत्तिगीयोपनिषद् – २–७ ।। पूर्वोक्तैव–१-१-१४

ज्ञान अविच्छिन्न है, क्योंकि वह चेतन है और चेतन स्वयंप्रकाश होता है । वह ज्ञान का आश्रय है, ज्ञानमात्र नहीं । रामानुजीय दर्शन में धर्मभूतज्ञान चित्तत्व का अपृथक–सिद्ध विशेषण होता है । उसके ज्ञान के परमशुद्ध होने के कारण नित्य और विभु हैं, उसके ज्ञान में कर्मों के साहचर्य से होने वाली संकोचविकासावस्थाएं नहीं है । श्रुतियां भी उसे सत्य, ज्ञान और अन्नत बताती हैं । 1

वह देशगत, कालगत् और वस्तुगत तीनों परिच्छेदों से रहित होने के कारण अनन्त हैं । सत्यत्व, ज्ञानत्व और आनन्दत्व परमात्मा के स्वरूप निर्देशक गुण हैं । ज्ञानशक्त्यादि से भी उसके स्वरूप धर्म निरूपित किये जाते है । सर्वज्ञत्व, सर्वशक्ति आदि सृष्टि आदि कार्योंपयोगी धर्म हैं । वात्सल्य, सांशील्य, सोम्यादि उसके गुण उसे जीवात्मा के परमाश्रयत्व से रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं । करूणादि धर्म उसके रक्षक रूप को अभिव्यंजित करते है ।

सर्वोपरि परमात्मा ही इह लोक और परलोक में नानाविध सुखों का प्रदाता है । आचार्य रामानुज के अनुसार प्रकृति और जीवात्मायें परमात्मा की तात्विक एकता में अन्तभूत है । उनका परमात्मा के साथ गुण और द्रव्य का सा सम्बन्ध है जैसे शरीर के अंग भंग होने पर आत्मा को कोई विकार या हानि नहीं होती । उसी प्रकार परमात्मा को भी जीव और जगत् की अनेक विध विकृतियां प्रभावित नहीं करती । वह सृष्टि का उपादान कारण होकर भी सभी प्रकार से गुण–दोषों से अछूता है–यही परमात्मा का शुद्धत्व हैं । वह जहां

चतुर्थ अध्याय

आत्म-निरूपण

चार्वाक दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि की उपपत्ति केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हुए पृथ्वी, जल, तेज और वायु नामक चार भूतों से मानता है। इस दर्शन में आकाश को स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है। आकाश प्रत्यक्ष का विषय है नहीं, अतएव सम्पूर्ण जगत उपर्युक्त चार भूतों से ही बना है। इन्हीं चार भूतों के विशेष योग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

प्रत्यक्ष से ग्रहण न होने के कारण आत्मा का कोई प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं है जैसा कि आस्तिक दर्शनकार उल्लेख किया करते हैं क्योंकि वह न तो घटादि की तरह बाह्येन्द्रियों और न सुखादि की तरह मन से ग्राह्य होता है। अनुमान प्रमाण तो चार्वाक मानते ही नहीं इसके अतिरिक्त आत्मा सिद्धि में कोई लिंग भी नहीं है क्योंकि चैतन्य की इन चार भूतों से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है चैतन्यता रहित इन चार भूतों के विशेष प्रकार से मिश्रित होने पर तथा शक्ति के आधिक्य से चैतन्य गुण उत्पन्न हो जाता है जैसे कि मद-शून्य जो आदि संयोग जन्म सुरा में मद शक्ति की उत्पत्ति होती है समय बीतने पर व्याधि के कारण जब शक्ति का क्षय हो जाता है तो शरीर चेतनाविहीन हो जाता है। चैतन्य के रहने पर यह चार भूतों से निर्मित शरीर ही स्मृति अनुसंधान आदि व्यवहार का निर्वाह करता है।

१- किण्वादिभ्यः समेताभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति समानाधिरपायतः॥

२- देह स्थलात्यादि योगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहो य मित्युक्तिः समवेदोपचारिको ॥स०द०स०पृ० ७॥

सब मनुष्य अपने विषय में ऐसा व्यवहार करते हैं कि मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इस वचन में मैं और स्थूल तथा कृश के समानाधिकरण से भी इसी निर्णय पर पहुंचा जाता है कि देह ही "मैं" अथवा आत्मा है क्योंकि स्थूलता आदि देह के ही धर्म हैं किसी दूसरे के नहीं। यह मेरा देह है इस प्रकार के वचन भी आत्मा और देह के भेद को नहीं सिद्ध कर सकते हैं क्योंकि यह तो इसी प्रकार एक होने पर भी गौण रूप से अद्वैत प्रतिपादक है जिस प्रकार राहू का सिर। न स्वर्ग नाम की कोई वस्तु है न मोक्ष ही, न आत्मा, और न परलोक कहीं है। वर्णाश्रम धर्म की अनेक प्रकार की क्रियायें भी किसी प्रकार के फल को देने में सहायक नहीं है[1] (इसलिए इन सब के न होने से) जब तक जीवन है तब तक सुख पूर्वक रहना चाहिए सुख प्राप्ति के लिए यदि किसी से ऋण लेना पड़ जाय तो भी घृतादि के पान के लिये ले लेना चाहिए।[2] सुख प्राप्ति के लिये (यह नहीं विचारना चाहिए कि इस ऋण को आगामी जन्म में लौटाना पड़ेगा) दूसरे जन्म से डरना व्यर्थ है क्योंकि जिस शरीर को मरने पर जला दिया जायेगा वह लौट कर नहीं आ सकता।

केवल युक्तियाँ ही नहीं अपितु निगम भी इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक है क्योंकि उनमें भी इसी प्रकार के वचन मिलते हैं यह आत्मा महान् है, अनन्त है, अपार है वह विज्ञान मय ही है[3]। इन महान् भूतों से उठकर यह इन्हीं में विलीन हो जाता है विनष्ट हो जाता है मर कर इसको ज्ञान का नाम नहीं रहता इस प्रकार के

१- न स्वर्गो नापवर्गो वा एवात्मा पार लौकिकः।
न व वर्णाश्रमादीनां क्रियाच्चिय फलदायकाः ॥स०द०स०पृ०१३॥

२- याज्जीवेत्सुखं जीवेतं‍ऋणंत्रे कुत्वा घृतंपिबंत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ स०द०स०पृ० १४॥

३- विज्ञानधन वेतैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय।
विनश्यति ना प्रत्यसंनास्ति ॥ वृ०ए० २, ४, १२ ॥

४- प्रत्यक्षगम्यमेवास्ति नास्त्यदृष्टमदृष्टतः।
अदृष्टवाद्दिष्टमिर्यामि नादृष्टं दृष्ट मुच्च्यंते ॥सींस०स० २।२

प्रसंगों व तर्कों से स्पष्ट हैं कि आत्मा पृथिव्यादि चार भूतों के संयोग से उत्पन्न होने वाली शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अन्य स्थलों पर भी चार्वाक के दर्शन के उन सिद्धान्तों को दर्शाया गया है जैसे प्रमाण के विषय में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके द्वारा प्रमाणित पदार्थों की सत्ता मानते हुए सर्व दर्शन संग्रह तथा षड् दर्शन समुच्याय में लिखा है कि जिसका प्रत्यक्ष द्वारा बाध होता है उसी को केवल अस्तित्व स्वीकार किया जाता है अदृष्ट अर्थात आत्मा, परमात्मा धर्म, व स्वर्ग नरक और मोक्षादि कभी भी नहीं देखे गये।[4]

भौतिकवादियों से लेकर आध्यात्मवादियों तक में के विषय में जितने भी विचार हैं वे संथिप्त रूप में इस प्रकार हैं :—

१- यह शरीर ही आत्मा है। ऐसा चार्वाक आदि का मत है।[2]
२- शरीर आत्मा नहीं अपितु इन्द्रियां आत्मा हैं।[3]
३- अन्य विचारक मनको आत्मा मानते हैं।[4]
४- बौद्ध लोग क्षणिक विज्ञान को ही आत्सा स्वीकार करते हैं।[1]
५- अन्य लोगों के मत में आत्मा शून्य हैं यह माध्यमिक बौद्ध विद्वानों का मत है।[2]
६- कुछ विद्वान् इसको कर्त्ता न मानकर केवल भोक्ता ही मानते हैं।[3]
७- कुछ दार्शनिकों का विचार हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न एक पदार्थ है और वह कर्त्ता और भोक्ता है।[4]

१- छान्दोग्य (८।९२)
२- देहामात्रचैतन्यविशिष्ठात्मा इति प्राकृताजना······
३- इन्द्राण्येव चैतन्यात्मत्यपरे······
४- मन इत्यन्ये।

१- विज्ञानमात्र क्षणिकमित्यपरे।
२- शून्यमित्यपरे (छां० ८।६।२)
३- भक्तैव केवलं न सत्तंत्येके
४- अस्तिदेहादि व्यतिरिक्तः संसारी. कर्त्ता भोक्त्यपरे।

८- कुछ दार्शनिकों का मत है कि मैं हूँ मुझ से पृथक एक अन्य महाशक्ति है जिसको ईश्वर कहते हैं।[5]

९- प्रत्ययवादी (आध्यात्मवादी) मानते हैं कि जीव ब्रह्म है।[6]

समाधान :-

चार्वाक आदि दार्शनिकों का सिद्धान्त अन्य भारतीय आस्तिक दार्शनिकों को एकदम अमान्य है। उपनिषदें जो आत्मतत्व का निरूपण और ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का वर्णन करती हैं उनको यह सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है। चार्वाक का देहात्मवाद सिद्धान्त मुख्य रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आत्मतत्व का सिद्ध न होना है। वह उसी तत्व या पदार्थ को मान्यता देता है जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है। इसी बात का समर्थन कुछ सुसंस्कृत रूप में प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन ने यह कह कर किया था कि जो पदार्थ प्रयोगशाला में सिद्ध न किया जाय उसको नहीं मानना चाहिए। इसलिए उसने मन और आत्मा की सत्ता को मनोविज्ञान से मनोविज्ञान से निकालने का प्रयास किया था इन दोनों का खण्डन सामान्य तर्कों से सरलता से किया जा सकता है। हमारा बाल्यकाल का शरीर यौवन के शरीर से भिन्न है। जैसे मुझे दूसरे के देखे हुए पदार्थों का स्मरण नहीं हो सकता इसी प्रकार बाल्यकाल की घटनाओं का भी हमें स्मरण नहीं हो सकता इसी प्रकार क्योंकि बाल्यकाल शरीर यौवनकाल के शरीर से भिन्न है। यदि कहा जाय कि बाल्यकाल के संस्कार यौवन के शरीर में संक्रान्त हो जाते हैं इसलिए स्मृति हो जायेगी। यह कहना भी समीचीन नहीं

५- अस्तिमतद व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्

६- जीवोब्रह्मै आत्मत्वात्

विशेष-ये सभी मान्यतायें आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में प्रस्तुत उनकी अपनी मान्यता जीव ब्रह्म ही है व्यावहारिक जीव की सत्ता है।

1- Psychology is Science of behaviour (watson)

है क्योंकि कारण का कार्य में संक्रमण नहीं हो सकता हैं ।[२] जैसे माता की अनुभूत का गर्भस्थ शिशु को स्मरण नहीं होता। यदि कोई कहे कि उपादान कारण की वासना का उपादेयता संक्रमण माना जाय। यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि एक परमाणु पुंज की उत्पत्ति न होने से हाथ आदि को ही उपादान मानना पड़ता है, हस्त आदि के कट जाने पर उस कटे हुए हाथ आदि से अनुभव किये हुए विषयों का खण्ड शरीर को अनुभव नहीं हो सकेगा। खण्ड शरीर में कटे हुए हाथ के उपादान न होने के कारण दूसरा हेतु यह देते हैं कि बाल्यावस्था और यौवन अवस्था के परमाणु एक ही होते हैं। परन्तु ऐसा मानने पर भी दो प्रकार के दोष आते हैं। प्रथम दोष यह है कि हम परमाणुओं की इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि ये अतीन्द्रिय होते हैं। चैतन्य जब परमाणु में रहेगा तब तो स्मरण भी अतीन्द्रिय हो जायेंगे। इसी प्रकार की दूसरी मान्यता आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिकों की है। उन पर भी यही आपत्ति आती है कि जीवन की चेतना सम्बन्धी समस्या सेल्स के मानने से समाहित नहीं होती है क्योंकि सेल्स स्वयं चेतना या जीवन नहीं है। यह चेतना का निवास स्थान हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि सैल से ही सैल न बनकर आकृति हीन द्रव्यों से भी सैल बन जाते हैं। उसका अर्थ यह समझते हैं कि अजीवन से जीवन के उद्भव का हमने कथन किया है। तब हम सैल को चेतना मान लेते हैं। यदि सैल ही चेतना है तो कोई भी सैल अजीवित न होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। जैसे कुछ सैल जीवित हैं ऐसे ही कुछ सैल अजीवित हैं। तब तो चेतना को सैल से अतिरिक्त मानना अनिवार्य होगा।

इससे अगली मान्यता यह है कि शरीर को आत्मा न माना जाय तो इन्द्रियों को आत्मा मान लेना चाहिए। परन्तु यह भी सिद्धान्त जड़ तत्व के समान ही है। इन्द्रियां आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि मैं वस्तु को चक्षु से देखता हूँ उसी को हाथों से छूता हूँ [१] इस

२. नान्यं दृष्टं स्मरत्यनयो नेकं भूतम् प्रक्रमात्।
वासना संक्रमोनास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ (न्याय कु० १।१५)

१. दर्शनास्पर्शाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् (न्याय दर्शन पर वात्सायनभाष्य)।

८- कुछ दार्शनिकों का मत है कि मैं हूँ मुझ से पृथक एक अन्य महाशक्ति है जिसको ईश्वर कहते हैं ।[5]

९- प्रत्ययवादी (आध्यात्मवादी) मानते हैं कि जीव ब्रह्म है ।[6]

समाधान :—

चार्वाक आदि दार्शनिकों का सिद्धान्त अन्य भारतीय आस्तिक दार्शनिकों को एकदम अमान्य है। उपनिषदें जो आत्मतत्व का निरूपण और ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का वर्णन करती हैं उनको यह सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है। चार्वाक का देहात्मवाद सिद्धान्त मुख्य रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आत्मतत्व का सिद्ध न होना है। वह उसी तत्व या पदार्थ को मान्यता देता है जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है। इसी बात का समर्थन कुछ सुसंस्कृत रूप में प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाट्सन ने यह कह कर किया था कि जो पदार्थ प्रयोगशाला में सिद्ध न किया जाय उसको नहीं मानना चाहिए। इसलिए उसने मन और आत्मा की सत्ता को मनोविज्ञान से मनोविज्ञान से निकालने का प्रयास किया था इन दोनों का खण्डन सामान्य तर्कों से सरलता से किया जा सकता है। हमारा बाल्यकाल का शरीर यौवन के शरीर से भिन्न है। जैसे मुझे दूसरे के देखे हुए पदार्थों का स्मरण नहीं हो सकता इसी प्रकार बाल्यकाल की घटनाओं का भी हमें स्मरण नहीं हो सकता इसी प्रकार क्योंकि बाल्यकाल शरीर यौवनकाल के शरीर से भिन्न है। यदि कहा जाय कि बाल्यकाल के संस्कार यौवन के शरीर में संक्रान्त हो जाते हैं इसलिए स्मृति हो जायेगी। यह कहना भी समीचीन नहीं

५- अस्तिमतद व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्

६- जीवोब्रह्मै आत्मत्वात्

विशेष-ये सभी मान्यतायें आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में प्रस्तुत उनकी अपनी मान्यता जीव ब्रह्म ही है व्यावहारिक जीव की सत्ता है।

1- Psychology is Science of behaviour (watson)

है क्योंकि कारण का कार्य में संक्रमण नहीं हो सकता हैं ।[2] जैसे माता की अनुभूत का गर्भस्थ शिशु को स्मरण नहीं होता। यदि कोई कहे कि उपादान कारण की वासना का उपादेयता संक्रमण माना जाय। यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि एक परमाणु पुंज की उत्पत्ति न होने से हाथ आदि को ही उपादान मानना पड़ता है, हस्त आदि के कट जाने पर उस कटे हुए हाथ आदि से अनुभव किये हुए विषयों का खण्ड शरीर को अनुभव नहीं हो सकेगा। खण्ड शरीर में कटे हुए हाथ के उपादान न होने के कारण दूसरा हेतु यह देते हैं कि बाल्यावस्था और यौवन अवस्था के परमाणु एक ही होते हैं। परन्तु ऐसा मानने पर भी दो प्रकार के दोष आते हैं। प्रथम दोष यह है कि हम परमाणुओं की इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि ये अतीन्द्रिय होते हैं। चैतन्य जब परमाणु में रहेगा तब तो स्मरण भी अतीन्द्रिय हो जायेंगे। इसी प्रकार की दूसरी मान्यता आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिकों की है। उन पर भी यही आपत्ति आती है कि जीवन की चेतना सम्बन्धी समस्या सेल्स के मानने से समाहित नहीं होती है क्योंकि सेल्स स्वयं चेतना या जीवन नहीं है। यह चेतना का निवास स्थान हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि सैल से ही सैल न बनकर आकृति हीन द्रव्यों से भी सैल बन जाते हैं। उसका अर्थ यह समझते हैं कि आजीवन से जीवन के उद्भव का हमने कथन किया है। तब हम सैल को चेतना मान लेते हैं। यदि सैल ही चेतना है तो कोई भी सैल अजीवित न होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। जैसे कुछ सैल जीवित हैं ऐसे ही कुछ सैल अजीवित हैं। तब तो चेतना को सैल से अतिरिक्त मानना अनिवार्य होगा।

इससे अगली मान्यता यह है कि शरीर को आत्मा न माना जाय तो इन्द्रियों को आत्मा मान लेना चाहिए। परन्तु यह भी सिद्धान्त जड़ तत्व के समान ही है। इन्द्रियां आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि मैं वस्तु को चक्षु से देखता हूँ उसी को हाथों से छूता हूँ [1] इस

२. नान्यं दृष्टं स्मरत्यनयो नेकं भूतम् प्रक्रमात् ।
वासना संक्रमोनास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ (न्याय कु० १।१५)

१. दर्शनास्पर्शाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् (न्याय दर्शन पर वात्सायनभाष्य)।

से सिद्ध होता है कि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य सत्ता है जो दोनों पर नियन्त्रण रखता है, अर्थात् जिसको देखने और स्पर्श का ज्ञान हो रहा हैं। क्योंकि आंख देख सकती है, छू नहीं सकती और हाथ स्पर्श कर सकते हैं देख नहीं सकते हैं फिर यह ज्ञान किसको हो रहा है कि जिसको मैंने देखा उसी को छू रहा है। या मधुर वस्तु को देखकर जिह्वा में पानी क्यों भर आता है।[1] प्राय: इसी प्रकार की युक्तियों द्वारा आचार्य शंकर ने भी देहात्मवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस विषय पर आचार्य शंकर और न्याय दर्शन सहमत से प्रतीत होते हैं। हमें कितने भी ज्ञान प्राप्त होते हैं उनमें तीन बातें पाई जाती हैं। ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय।[2] प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है उससे एक ही होना चाहिए कई नहीं। वे बिना कर्त्ता के भी नहीं हो सकती है।[3] अत: इन इन्द्रियों के द्वारा कर्त्ता एक ज्ञान प्राप्त करता है। अत: सिद्ध होता है कि स्मृति कर्त्ता के बिना सिद्ध नहीं हो सकती हैं। विलियम जैम्स की भी मान्यता यही है कि स्मृति यह सिद्ध करती है मैं हमेशा हूँ। मैं नहीं हूँ यह सिद्ध कदापि स्मृति द्वारा नहीं हो सकता है।[4]

मैं की सत्ता को वेद जो उपनिषदों के ज्ञान का आधार है स्वीकार करता है। वह मै शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धादि से भिन्न है। वेदों में जीवात्मा का वर्णन अनेक रूपों में या पद्धतियों से हुआ है। परन्तु जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन मैं के रूप में भी हुआ है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा है कि मैं नहीं जानता क्या मैं यही हूं जो स्थूल रूप में दिखलाई देता हूं अर्थात् शरीर हूँ। मै तो सन्नद्ध होकर प्रयत्न के लिये उद्यत होकर मनन शक्ति के द्वारा गति करता

---

१. इन्द्रियान्तरविकारात् (न्याय० ३।१।१२)
२. सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयंच गृह्यते।
३. अथ प्रत्यक्षेऽर्थे वा स्मृति—न नाना कर्त्तकारि नाकर्त्रकारिण।
4. It is the Knowledge of an event os fiact—and the present of today's no reason —thinker as his own—
(Psy. W. James p. 287-281).

हैं ।[1] शरीर भौतिक होने न स्वयं यत्न कर सकता है न वह ज्ञानवान् है । न ही उसमें स्वतन्त्र ज्ञानपूर्वक गति करने की शक्ति है । अगले मन्त्र में फिर कहा है कि आत्मा अमर्त्य अर्थात् मरण धर्मा नहीं है नित्य और अमर होता हुआ मरण धर्मा शरीर के साथ एक स्थानी होकर स्वधर्मा अर्थात् अपनी इच्छा से जकड़ा हुआ है । वह किसी वस्तु को ग्रहण करता है किसी के परे हटकर छोड़ देता है ।[2]

आचार्य शंकर भी एक कसौटी बतलाते हैं कि शरीर स्थित आत्मा है या नहीं उनका कथन है कि यदि किसी जीवधारी में ये तीन गुण, करे, न करें, अथवा उल्टा करें । (कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथा कर्तुं)[3] प्राप्त हो तो जान लेना चाहिए कि इनमें आत्मा है । व्यवहार वादी तो मानते हैं कि उत्तेजक[4], के प्रत्युत्तर में प्रतिक्रिया[5] अवश्य होती हैं परन्तु आचार्य शंकर कहते हैं कि मनुष्य किसी उत्तेजक क्षण का आत्मा दूसरे क्षण के आत्मा से भिन्न होने से पूर्वकाल की स्मृति नहीं हो सकती अन्य के देखे हुए का अनुभव किये हुए पदार्थों का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता है । जब वह आत्मा रहा ही नहीं तो जो जैसा करता वैसा वही भोगता सिद्धान्त का खण्डन हो जायेगा और जिसने वह कर्म नहीं किया, वह उसको भोगने लगेगा ।[1] अत: आत्मा को प्रवाह का केवल पुंज मानने से स्मृति और मोक्ष आदि की समस्या का समाधान कदापि नहीं हो सकता है ।

आत्मा का स्वरूप :

ऋषि दयानन्द शरीर से भिन्न आत्मा को शाश्वत् नित्य के रूप में स्वीकार करते हैं । न तो भौतिक वादियों की तरह आत्म

---

१. अजामेकां लोहि शुक्ल कृष्णा—अजोह्यको—भुक्ताभौगामजोअन्य: (श्वेत० ४–५)
२. न जायते म्रियते वा विपश्चित्–नायं कुतश्चिन्न बभूवकश्चित् । नित्य: शाश्वोअयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे । (कठो० २।१८)
३. जीवापेतं वां किलेद म्रियते न जीवो म्रियते (छान्दोग्य ६।११) ॥

तत्त्र को जड़ तत्व से निर्मित मानते हैं और न ही जीवात्मा को मायोपहित चैतन्य के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। जीवात्मा के स्वरूप का उल्लेख उन्होंने उपनिषदों के मन्त्र तथा वेद के मन्त्र और अन्य दर्शनों के अनुसार ही किया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद का प्रमाण देते हुए बतलाते हैं कि तीन अज अर्थात् नित्य हैं।[2] उनका जन्म कभी भी नहीं होता है। उनमें अजा प्रकृति है यह अज जीवात्मा उस त्रिगुणात्मिका प्रकृति है समस्त दृश्य जगत् निर्मित होता, उससे निर्मित पदार्थों का उपभोग करता है। एक तीसरा अज और है जो इस प्रकृति से निर्मित पदार्थों का उपभोग नहीं, करता है, वह परमात्मा है इस प्रकार ये तीनों प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज कहे गये हैं और तीनों जगत् के कारण हैं।[1] अर्थात् जीवात्मा का कोई कारण नहीं अपितु जीवात्मा जगत् के कारणों में से एक कारण है।

वह आत्मा भौतिक तत्वों से निर्मित नहीं है अपितु अनादि है इसका तथ्य उपनिषदें स्पष्ट रूप में उद्घोषणा करती है। कठोप-निषद् स्पष्ट मान्यता प्रदान करती है कि वह आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती और न ही किसी अन्य वस्तु भी नहीं बन सकती है। यह अजन्मा और नित्य है। सदा रहने वाला और पुराना है। शरीर के नाश पर उसका नाश नहीं होता है।[2]

छान्दोग्य उपनिषद् भी यही स्वीकार करती है कि जीव का विनाश कभी नहीं होता है अपितु जीव शरीर से निकल जाता है। शरीर मरता है जीवात्मा नहीं।[3]

---

१. कृतप्रणाश-अकृतकर्मभोग—स्यादवाद मंजरी।
२. न जायते इति अजः। जीवश्च परमेश्वरश्चः। न जायते इति अजा प्रकृति।

---

१. न विजनामि यदि वेदस्मिनिण्यः सन्नद्धौ मनसा चरामि।
(१०।१६४।३६)
२. ऋग्वेद १०।१६४।३८ ।।
३. द्रष्टव्य ब्र०सू० पर शंकर भाष्य १।१।४।
४. Stimulus.
५. Responce.

बृहदारण्यक-उपनिषद् के याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद में जीवात्मा को नित्य और अविनाशी बतलाया गया है।[4] गीता में भी आत्मा को नित्य और शाश्वत माना गया है। गीता में जीवात्मा का विशद् और रोचक वर्णन किया गया है। यह आत्मा नित्य है। इस शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती हैं, जल गीला नहीं सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकती है। जैसे मनुष्य नये घर में प्रवेश करता है वैसे वही जीवात्मा भी नवीन शरीरों को प्राप्त करता है और पुराने वस्त्रों को छोड़ देता है। इस प्रकार आत्मा अनादि और नित्य है।[1] वेदों में भी उपनिषदों की तरह आत्मा के सम्बन्ध अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। अर्थववेद में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर मैं आपकी कृपा से अगले जन्म में मन सहित ११ इन्द्रियां, प्राणों को धारण करने, सामर्थ्य युक्त आत्मा, धन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त हो[2] ऋषि दयानन्द आत्मा को नित्य और उसका पुर्नजन्म स्वीकार करते हुये वेद भाष्य में कहते हैं कि हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुर्नजन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्रादि समस्त इन्द्रियों का स्थापन कीजिए प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चिता-हंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुर्नजन्म में कीजिए।[3] यजुर्वेद कहता है कि हे परमेश्वर जब-जब हम जन्म लेवें तब-तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्य प्राण कुशलता युक्त जीवात्मा उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेद और उपनिषदें जीवात्मा को नित्य एवं शाश्वत् और पुर्नजन्म होने वाली मानतो हैं।

---

४. न वा अरे अहं मोहं ब्रवीम्यविकाशी वा अरे आत्मानुच्छित्ति धर्मा (बृ० ४।५।१४)॥

---

१. गीता (११।३२)। गीता १५।५८, ५९ — — २।३२

२. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा चक्षुः पुन प्राणमिहनो धेहिभोगम्। (ऋग्वेद अ० ८।अ०१।व० २३ मं० १) इस मन्त्र पर ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में द्रष्टव्य २१८, २१९॥

निरूक्त में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि—मृत्यु को प्राप्त होकर हम पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह जीवात्मा नाना प्रकार की माताओं का स्तनपान है करता है यह जीवात्मा अपने आपको उक्त प्रकार का मानकर प्रभु भक्ति करने का अभिलाषा व्यक्त कर रहा है।[1]

उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि उपनिषद् काल में जीवात्मा को अनादि माना जाता था। उपनिषदों में यह विवेचन कि जीवात्मा अनादि हैं, इस विषय को लेकर बहुत विवाद उपलब्ध नहीं होता है इसके कुछ कारण यही प्रतीत होते हैं कि उस काल में जीवात्मा के सम्बन्ध में संभवतः भौतिक विचारधारा और अनात्मवाद का विचार बहुत न्यून होगा। क्योंकि उपनिषदें ब्रह्म का प्रतिपादन है उसका साक्षात्कार कैसे किया जाय ? आदि विषयों पर विवेचन अधिक प्रस्तुत करती है। इन बातों से अधिक समीचीन लगता है कि उपनिषदों का आत्म तत्व सम्बन्धी विचार स्पष्ट था। ऋषि दयानन्द भी उपनिषदों के प्रमाणों से यह सिद्ध करते हैं कि इसका प्रादुर्भाव न तो भौतिक तत्वों से हुआ है और न ही ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति हुई है।[2] अतः जिस प्रकार ब्रह्म का कारण नहीं है उसी प्रकार जीव का भी कोई कारण नहीं है। जिस पदार्थ का कभीं निर्माण नहीं होता। वह विनष्ट भी कभी नहीं होता। इसलिए ऋषि दयानन्द जीव को नित्य और अमर मानते हैं। वह इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करता रहता है जैसा कि हम उक्त प्रमाणों से देख आये हैं।

इसाई दार्शनिक सन्त थोमस उक्विनास ने इसाई सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्मा को अमर तो माना परन्तु नित्य नहीं मानाहै।

---

१. (क) मृतश्चाहं पुनजातः .... ।
   (ख) अवाङ् मुखपीड् यमानो.........(निरूक्त अ० १३।६)

२. ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृतरूप जीव का जोव है। (सत्यार्थ प्रकाश समु० ७ पृ० १९७ पर) ।।

थामस जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के भी जीव और प्रकृति तथा ईश्वर को पृथक्-पृथक् मानता हैं[1] परन्तु वह जीव और प्रकृति की उत्पत्ति ईश्वर से निर्मित मानता है। यदि ईश्वर चाहे तो उन्हें भी नष्ट कर सकता है।[2] अतः सन्त थामस का अभिप्रायाय यह है कि जीव ईश्वर पर आश्रित है। वह परमात्मा की कृतिमात्र है। इसी भाव को स्पिनेजा दूसरे रूप में प्रस्तुत करता है। जीवात्मा द्रव्य परमात्मा के अनेक रूप व गुणों में दो रूप हैं जिनके द्वारा प्रतिवद्ध को प्राप्त करता है, इसके मतानुसार जीवात्मा के अनादि परमात्मा का रूप होने से उसके नित्यत्व या अमरत्व का प्रश्न बड़ा विचित्र सा प्रतीत होता है क्योंकि ईश्वर ही नित्य और अनादि है। परन्तु चिन्तनीय यह है कि नैतिक जीवन का आधार आत्मा को अमर माने बिना कैसे चल सकेगा। जैसा कि काण्ट ने वैदिक जीवात्मा की अमरता पर इसलिए जोर दिया है कि नैतिकता का आधार इसके बिना संभव नहीं है। काण्ट जीवात्मा को प्रत्यक्षों की एकता के आध्यात्मिक नियम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस जन्म के दुःखों के आधार पर पुर्नजन्म में रहता है। इस अवस्था में मन एवं इन्द्रियों की क्रीड़ा अवरुद्ध हो जाती है।[1] परन्तु एक चौथी अवस्था भी उपनिषदों में मानी गई है, वह तुरीयवस्था वह जीव की मोक्ष काल की अवस्था है।

इस प्रकार उपनिषदें जीव को ब्रह्म से भिन्न नित्य अनादि और पुर्नजन्म का धारण करने वाला और कर्त्ता भोक्ता रूप में मानती है। जीवात्मा का कर्त्ता एवं भोक्ता के रूप में श्वेताश्वेतर-उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि जो नाना गुणो से युक्त, कर्म कर्त्ता,

---

1. The soul is not transmutted with the semen but is creca-ted afresh with eachman (Russel B. History of westren Philosophy P. 480, London 1947)
2. Descartes admitted there substances, God and matter, it is true that even for him God was in sense more subs-tantial than mind and matter, since he had creeated them and could if he chose annihilate them.
(Fluid P. 594)

उनसे फलों भोक्ता और जो विश्व में तीन गुण है उनके विभिन्न रूपों का आस्वादन करने वाला, (शरीरादि के माध्यम से) और प्राणों का अधिष्ठाता जीवात्मा अपने कर्मों के फलस्वरूप नाना जन्मों को धारण करने वाला है।[2]

जीवात्मा का परिमाण

मध्यमवाद :

मुख्यत: जैन मत के अनुसार जीवात्मा का परिणाम न अणु है और न ही विभु अपितु मध्यम परिणाम ही है। चार्वाक को भी इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। जैन दार्शनिकों की इस विषय में मान्यता स्पष्ट इस प्रकार है, जीवात्मा लोकमित् प्रदेश है। अर्थात् लोकाँश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश आत्मा के भी माने जाते हैं। अत: लोक के समस्त प्रदेशों के साथ आत्मा प्रदेशों के सम्बन्ध के शक्य होने के कारण आत्मशक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से विभु व्यापक है परन्तु व्यक्तिगत स्वरूप की दृष्टि से अपना अभि-व्यक्ति की दृष्टि से वह अपने पूर्वाजित कर्म द्वारा प्राप्त किये गये अपने शरीर मात्र में ही सीमित होने से विभु-अव्यापक अर्थात् शरीर मात्र परिणाम वाला माना जाता है।[1] आगे फिर प्रतिपादन करते हुए स्यादवाद मन्जरी में कथन किया है कि व्यक्ति रूप में आत्मा पनप अपने शरीर मात्र में ही सीमित रहता है। यह अनुमान द्वारा प्रमाणित होता है। क्योंकि इसके गुणों का प्रकाश उसके शरीर में ही होता है। जिस स्थान मात्र में जिसके गुणों का प्राकट्य होता है, वह उस स्थान मात्र में ही सीमित होता है। जैसे घट, घट आदि पदार्थ।[2] जैन दार्शनिक इन आत्म प्रदेशों को पत्थर के समान ठोस

१– जागरितस्थानों वहि: प्रज्ञ:......................
स्वप्त स्थानों न्तप्रज्ञ: ....
यत्र सुप्तो न कन्चन कामं कामयते.............
माण्डूक्य ३.४,५।

२– गुणाण्वयो य: फलकर्मकर्ता, कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
.........प्राणाधिप: संचरति स्तकर्मभि: (श्वेता०उ० ५।५)

नहीं मानते हैं अपितु आवश्यकतानुसार सिकुड़कर लघु और फैलकर विशाल हो जाते हैं। इसका अभिप्राय: यह हुआ कि जितना विस्तृत शरीर होता है उतना आत्मा भी होता। अर्थात् चिऊंटी और हाथी को आत्मा क्रमश: छोटे बड़े होंगे।

परन्तु उक्त सिद्धान्त की मान्यता उपनिषदों से प्रमाणित नहीं की जा सकती है क्योंकि इसमें दोष यह जाता है कि जिस प्रकार दीपक के भौतिक प्रकाश को मकान की भौतिक दीवारें रोक कर संकुचित कर देती है, उसी प्रकार शरीर रूपी भवन की दीवारे आत्मा के स्वरूप को रोक कर संकुचित कर देती है। परन्तु यहां अन्तर स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश भी भौतिक और दीवार भी भौतिक है, भौतिक का प्रतिबन्ध सम्भव है। परन्तु आत्मा अभौतिक होने से उसका प्रतिबन्ध न हीं हो सकता है। दूसरी आपत्ति यह है कि दृष्टान्त में दीप के कारण को ही भवन विस्तृत हुआ मानते हैं न कि दीपक को व्यापक माना जाता है। वहां आत्मा के प्रकाश को नहीं अपितु आत्मा को ही शरीर में व्यापक माना गया है। तीसरी आपत्ति यह दी जा सकती है कि सिकुड़ने फैलने वाली रबड़ आदि वस्तुओं में ऐसा देखा जाता है कि उनके अवयव संकुचित होने के समय परस्पर सट जाते हैं और फैलने के समय अपने मध्य में कुछ अवकाश देकर खुल जाते हैं, यदि जीव को भी इसी प्रकार माना जाय तो वह सावयव पदार्थ होगा। और वह अनित्य हो जायेगा। आचार्य शंकर भी इस मत का खण्डन करते हैं। उनके मत को स्पष्ट करते हुए सर्वदर्शन संग्रह कार ने विवेचन किया है कि मध्यम परिमाण वाला पदार्थ अवयवों से युक्त होता है। इस तरह तो आत्मा भी शरीर की तरह अनित्य मानना पड़ेगा। उसका परिमाण होगा कि किये गये कर्म का नाश और न किये गये फल की प्राप्ति होने

---

१. न चार्हत मतानुसारेणार्हंप्रत्ययप्रामाण्यातात्मनो..................
कृतहानाकृताभ्युपगमप्रसंगात् ॥

२. अर्थतद्दोषपरिजिहीर्षया अवयवसमुदाय.................. ।

उनसे फलों भोक्ता और जो विश्व में तीन गुण है उनके विभिन्न रूपों का आस्वादन करने वाला, (शरीरादि के माध्यम से) और प्राणों का अधिष्ठाता जोवात्मा अपने कर्मों के फलस्वरूप नाना जन्मों को धारण करने वाला है ।[2]

जीवात्मा का परिमाण

मध्यमवाद :

मुख्यत: जैन मत के अनुसार जीवात्मा का परिणाम न अणु है और न ही विभु अपितु मध्यम परिणाम ही है। चार्वाक को भी इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। जैन दार्शनिकों की इस विषय में मान्यता स्पष्ट इस प्रकार है, जीवात्मा लोकमित् प्रदेश है। अर्थात् लोकाँश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश आत्मा के भो माने जाते हैं। अत: लोक के समस्त प्रदेशों के साथ आत्मा प्रदेशों के सम्बन्ध के शक्य होने के कारण आत्मशक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से विभु व्यापक है परन्तु व्यक्तिगत स्वरूप की दृष्टि से अपना अभि-व्यक्ति की दृष्टि से वह अपने पूर्वार्जित कर्म द्वारा प्राप्त किये गये अपने शरीर मात्र में ही सीमित होने से विभु-अव्यापक अर्थात् शरीर मात्र परिणाम वाला माना जाता है।[1] आगे फिर प्रतिपादन करते हुए स्यादवाद मन्जरी में कथन किया है कि व्यक्ति रूप में आत्मा पनप अपने शरीर मात्र में ही सीमित रहता है। यह अनुमान द्वारा प्रमाणित होता है। क्योंकि इसके गुणों का प्रकाश उसके शरीर में ही होता है। जिस स्थान मात्र में जिसके गुणों का प्राकट्य होता है, वह उस स्थान मात्र में ही सीमित होता है। जैसे घट, घट आदि पदार्थ ।[2] जैन दार्शनिक इन आत्म प्रदेशों को पत्थर के समान ठोस

१– जागरितस्थानों बहि: प्रज्ञ:.....................
स्वप्त स्थानों न्तप्रज्ञ: ....
यत्न सुप्तो न कन्चन कामं कामयते.............
माण्डूक्य ३,४,५।

२– गुणाण्वयां य: फलकर्मकर्ता, कृतस्य तस्यैव स चोपभोंक्ता।
.........प्राणाधिप: संचरति स्वकर्मभि: (श्वेता०उ० ५।५)

नहीं मानते हैं अपितु आवश्यकतानुसार सिकुड़कर लघु और फैलकर विशाल हो जाते है। इसका अभिप्राय: यह हुआ कि जितना विस्तृत शरीर होता है उतना आत्मा भी होता। अर्थात् चिऊंटी और हाथी को आत्मा क्रमश: छोटे वड़े होंगे।

परन्तु उक्त सिद्धान्त की मान्यता उपनिषदों से प्रमाणित नहीं की जा सकती है क्योंकि इसमें दोष यह जाता है कि जिस प्रकार दीपक के भौतिक प्रकाश को मकान की भौतिक दीवारें रोक कर संकुचित कर देती है, उसी प्रकार शरीर रूपी भवन की दीवारे आत्मा के स्वरूप को रोक कर संकुचित कर देती है। परन्तु यहां अन्तर स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश भो भौतिक और दीवार भो भौतिक है, भौतिक का प्रतिबन्ध सम्भव है। परन्तु आत्मा अभौतिक होने से उसका प्रतिबन्ध न हीं हो सकता है। दूसरी आपत्ति यह है कि दृष्टान्त में दीप के कारण को ही भवन विस्तृत हुआ मानते हैं न कि दीपक को व्यापक माना जाता है। वहां आत्मा के प्रकाश को नहीं अपितु आत्मा को ही शरीर में व्यापक माना गया है। तीसरी आपत्ति यह दी जा सकती है कि सिकुड़ने फैलने वाली रबड़ आदि वस्तुओं में ऐसा देखा जाता है कि उनके अवयव संकुचित होने के समय परस्पर सट जाते हैं और फैलने के समय अपने मध्य में कुछ अवकाश देकर खुल जाते हैं, यदि जीव को भी इसी प्रकार माना जाय तो वह सावयव पदार्थ होगा। और वह अनित्य हो जायेगा। आचार्य शंकर भी इस मत का खण्डन करते हैं। उनके मत को स्पष्ट करते हुए सर्वदशन संग्रह कार ने विवेचन किया है कि मध्यम परिमाण वाला पदार्थ अवयकों से युक्त होता है। इस तरह तो आत्मा भी शरीर की तरह अनित्य मानना पड़ेगा। उसका परिमाण होगा कि किये गये कर्म का नाश और न किये गये फल की प्राप्ति होने

---

१. न चार्हत मतानुसारेणाहंप्रत्ययप्रामाण्याातात्मनो............... कृतहानाकृताभ्युपगमप्रसंगात् ॥

२. अर्थतद्दोपपरिजिहीर्षया अवयवसमुदाय.................. ।

लगेगी ।[1] यदि इस दोष से बचने के लिये कहा जाय कि अवयवों का समुदाय आत्मा है । तब निम्नलिखित विकल्प हो सकते हैं । पहला चतन्य प्रत्येक अवयव में होगा दूसरा चैतन्य अवयवों के समूह में होगा ।[2] पहला विकल्प तो बन ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी दशा में बहुत से चेतन हो जायेंगे परस्पर प्रधानता प्राप्ति के संघर्ष भी मानना पड़ेगा । और परस्पर एकमत न होने की क्रियायें भी एक दूसरे के विरोध में होने लग जायेगी । इस प्रकार शरीर भी विदीर्ण होकर निष्क्रिय या हो और परस्पर एकमत न होने से क्रियायें भी एक दूसरे के विरोध में होने लग जायेंगी । इस प्रकार शरीर भी विदीर्ण होकर निष्क्रिय सा हो जायेगा ।[1] यदि दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाये कि समूह में ही चेतनता है तो प्रश्न होगा कि अवयवों का यह संघात कैसे होता है । क्या शरीर की दृष्टि से यह संघात होता है अथवा संभवतः ही होता है । या मन माने ढंग से हो जाता है ।[2] पहले विकल्प का तात्पर्य है कि शरीर में जितने अवयव हैं उतने ही आत्मा के भी हैं । दूसरे विकल्प का तात्पर्य है कि सभी अवयव स्वभाव से प्रकृति से आपस में मिले हुए हैं । तीसरे विकल्प का अर्थ है क अवयवों का संघात विना किसी नियम के मन माने ढंग से हुआ है । इनमें प्रथम विकल्प इसलिए ठीक नहीं है यदि शरीर का अवयव कट जाता है तो आत्मा का अवयव भी कट जायेगा । अतः जीव पर अचेतना का आरोप आयेगा ।[3]

द्वितीय नियम भी समीचीन नहीं हो सकता कि एक दूसरे से सदा एक तरह से सयुक्त रहेंगे । ऐसा नियम प्रतीत नहीं होता ।[4] तीसरा विकल्प भी नहीं हो सकता है क्योंकि यदि मन माने ढंग से

---

१. अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया अवयवसमुदाय········ ।

२. नाद्यः । वहूनां चेतना········(माध्वीय सर्वदर्शन संग्रह शांकर दर्शनम्) ।

३. नाद्यः । एकस्मिन्नवयव छिन्ने············

४. न द्वितीय···············

संश्लेषण होता है इसी तरह विश्लेषण भी होगा। इसलिये निश्चित रूप से जीव अचेतन हो जायेगा।[5]

वास्तव में यदि आत्मा मध्यम परिणाम वाला माना जाय तो उसे मूर्त भी मानना होगा। क्योंकि मध्यम परिणाम वाले समस्त द्रव्य मूर्त होते हैं। मूर्त होने पर दो मूर्त द्रव्यों का एक स्थान में समावेश शक्य न होने से शरीर में उसका अनुप्रवेश न हो सकेगा। यदि मूर्त शरीर में मूर्त मन और वालुका पुंज में मूर्त जल कणों के सदृश मूर्त शरीर में मूर्त आत्मा के समावेश की उपपत्ति की जायेगी तो शरीर के अखिल भाग में शैत्य, औष्ण्य आदि की अनुभूति के लिये शरीर के समस्त अवयवों में सामंजस्य के लिये उसको शरीर सम परिणाम मानना होगा शरीर सम होने पर शरीर के समान उसे जन्म तथा शरीर का खण्ड एवं प्ररोह होने पर उसका भी खण्ड और प्ररोह मानना होगा। जब कोई शरीर कट कर अनेक खण्डों में विभक्त होगा तो उन जीवित खण्डों में उस शरीर के आत्मा अनुप्रवेश होने पर एक ही आत्मा के अनेक भेद हो जायेंगे।

सांख्य दर्शन में भी जीवात्मा के मध्यम परिणाम का खण्डन उपलब्ध होता। जैसे घटादि पदार्थ मध्यम परिणाम होने से सावयव तथा विनाशी है। ऐसे ही पुरुष भी मध्यम परिणाम वाला मानने से सावयव तथा विनाशी हो जायेगा।[1]

विभुवाद :

विभुवादियों के अनुसार आत्मा का परिमाण विभु है। अर्थात् जीवात्मा व्यापक है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि और पदार्थ संग्रह के कर्त्ता प्रशस्तपाद अनेक स्थलो पर आत्मा को न्याय सदृश व्यापक वताते हैं।[1] उनका कहना है आत्मा का परिमाण

५. न तृतीयः। संश्लेषविश्लेषणस्यापि······सर्वदर्शन संग्रह शांकर दर्शनम्।

१. मूर्त्तत्वाद् घटादिवत समान धर्मापत्तावापसिद्धान्तः। (सांख्य० १।५०)॥

१. आकाश तुल्येनात्म कथनात् परममहत्वमित्यर्थः (प्रशस्तपादभाष्ये आत्मनिरूपणम्)

प्रत्यक्षादि द्वारा सिद्ध नहीं सिद्ध हो सकता है। उनका कहना है अपितु अतीन्द्रिय परिमाण मान चाहिये। दो प्रकार के द्रव्य होते हैं नित्य और अनित्य। अनित्य द्रव्यों का परिमाण न परम-अणु और न परम महान्। उसका मध्यम परिमाण होता है। यथा पृथ्वी जलादि। नित्य द्रव्य परम अणु भी होते हैं, परम महान् भी। जैसे परमाणु और आकाश।

विभुवादी एक और हेतु उपस्थित करते हैं। अदृष्ट के क्रिया में हेतु होने से भी जीवात्मा को व्यापक कहते हैं। क्रिया के निमित्त कारण अनेक है। गुरुत्व वस्तु के गिरने में कारण है। प्रत्येक भारी पदार्थ नीचे गिरता हैं द्रवत्व से पानी में गति होती है। वेग से गोली आदि दूर तक जाती है, प्रयत्न से शारीरिक क्रियायें होती हैं गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न वेग गुण है। जिस वस्तु में ये होते हैं उसमें क्रिया उत्पन्न करते हैं, उस वस्तु से जिन पदार्थों का सम्बन्ध हो उनमें क्रिया उत्पन्न कर हिला डुला देते हैं। वाष्प के वेग में इन्जन दौड़ता है और इज्जत के साथ बंधी हुई बोगियां फट दौड़ती हैं। एक पदार्थ भी गतिमान रहते हैं। वैसे ही आत्मा प्रयत्न गुण के समान धर्म और अधर्म नामक गुण भी पदार्थ में क्रिया उत्पन्न करते हैं। भारतीय मनुष्य के धर्माधर्म विदेश के वस्त्र में तभी गति उत्पन्न कर सकते हैं[2] जब अनेक आश्रय आत्मा का विदेश के वस्त्र के साथ सम्बन्ध हो। इन्जिन का वेग उन्हीं बोगियो को चलाता है जो इन्जिन से संयुक्त है, जो उससे नहीं जुड़ी होती वे वहीं खड़ी होती हैं। धर्माधर्म में रहते हैं वे दूर से वस्तुओं में गति उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि आत्मा को विभु माना जाय और शरीर से बाहर व्यापक स्वीकार कर लिया जाय तो उक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है।

---

२. एक व्यक्ति भारत में रहता है वह विदेश की कपास के बने वस्त्र पहनता है उनसे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता है इस अनुभव के कारण, वे उसके उसके धर्माधर्म है। उसके धर्माधर्म ने विदेश के कपास के बने सुन्दर वस्त्रों में क्रिया उत्पन्न की। जीव के धर्माधर्म अनेकों योजनाओं की दूरी पर से वस्तुओं को खींचते हैं।

अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन और वायु के तिर्यक् गमन का हेतु :

जीवों के धर्माधर्म का अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन और वायु के तिर्यक् गमन का कारण कहते हैं ।[1] अतः ऊर्ध्वज्वलन और तिर्यक्गमन् का धर्माधर्म ही कारण प्रशस्तपाद मुनि स्वीकार करता है। कारण होने के लिये आत्मा का अग्नि और वायु के सम्बन्ध होना चाहिए। आत्मा का व्यापक होना ही इस समस्या का समाधान है।

अभेदवादियों का विभुत्वपक्ष :

अभेदवादी जो विभु परिमाण मानते हैं वे प्रमाण देते हैं, वह आत्मा जो प्राणों के बीच विज्ञान मय है और महान् अजन्मा है ।[2] यहां स्पष्ट रूप में आत्मा को महान् और विज्ञानमय कहा गया है।

उसके अतिरिक्त कोई द्रष्टा नहीं है और न ही कोई ज्ञानी है ।[1] उससे भिन्न कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और ज्ञान करने वाला नहीं है[3] उपनिषदों के अनेक वचनों के प्रमाणों से जीव को पृथक् चेतन सत्ता और अणु परिमाण आदि वाला मानने की कोई आवश्यक्ता नहीं है।

अतः विभुवादी युक्ति और प्रमाणों से आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध करते हैं। इन विभुवादियों दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता हैं। एक वे है जो आत्मा को अनेक मानने पर भी विभु मानते हैं और दूसरे वे है जो केवल एक ही आत्मतत्व स्वीकार करते है। उपाधि भेद से अनेक है ।[4]

---

१. तथा धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वात्तदाश्रयव्यापकत्वे न स्यत् अग्ने-रूर्ध्वज्जलनं वायोस्तियेगमनं ....अदृष्ट एवं कारणम तो व्यापक त्वाच्च परममहत्तवम् (प्रशस्तपाद भाष्य आत्मनिरूपणम्)

२. स वा महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४।४।२२)।

३. नान्यो अस्ति द्रष्टा नान्यो अस्ति विज्ञाता (वृ० ३।७।२३)

४. नान्यो अस्ति द्रष्टा, श्रोतृ, मन्तृ, विज्ञात् (छा० ६।८।७)।

जो अद्वैतवादी आत्मा को विभु मानते हैं उनका प्रत्याख्यान उपनिषदों के प्रमाणों से जीवात्मा और ब्रह्म में भेद दिखला कर आये है उक्त प्रमाणों का भी यही उत्तर है कि यहां पर भी ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। जीवात्मा का प्रकरणही नहीं है। आत्मा शब्द ब्रह्म और जीव दोनों के लिए वेद औंर उपनिषद् आदि समस्त वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है, यही अभिप्राय: है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और सब चेतन अल्पज्ञ अर्थात् थोड़ा जाने वाले है।[3]

जो अदृष्ट हेतु विभुवाद पक्ष में दिया गया है यह समीचीन नहीं है, क्योंकि जैसे वायु जिस प्रकार स्वयं समीप आता हुआ तृण आदि को ले जात है इसी प्रकार धर्माधर्म पास आते हुए विदेश की कपास को लाये तो धर्माधर्म की आवश्यकता नहीं है। कपास वहां से चलकर स्वयं समीप आ सकती है।यह ठीक है कि जीव धर्माधर्म करता है, उसका फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। इश्वर के पदार्थ से जीव सुख, दुख: का उपभोग करता है। जीवों का सम्बन्ध न होने पर भी ईश्वर की वस्तुओं को उत्पन्न करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। अत: ईश्वर की व्यवस्था से पदार्थ समीप उपभोगार्थ चले जाते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि सभी कुछ अदृष्ट के कारण हो रहा हो, इस जन्म के कर्मों के कारण भी हम बहुत सी वस्तुओं का उपभोग करते हैं।

अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन और वायु का तिर्यग्गमन हेतु भी आत्मा की विभु सिद्ध नहीं करते हैं क्योंकि ये इनके स्वाभाविक गुण हैं। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) लोहे को आकर्षित कर की स्वाभाविक शक्ति रखता है। धर्माधर्म को ही यहां कारण नहीं कहा जा सकता अपितु ये अग्नि और वायु के स्वाभाविक गुण हैं।

अणुवाद :

तीसरा पक्ष आत्मा के परिमाण को अणु बतलाता है। यही उपनिषदों का सिद्धान्त मानना चाहिए। आत्मा अपने ज्ञान प्रयत्न

---

३. द्रष्टव्य उपनिषदों पर आर्यमुनि भाष्य।

नादि लिंगों से जाना जाता है। और वे लिंग शरीर के भीतर है, ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है। अतः इनके आश्रयभूत द्रव्य आत्मा को भी शरीर में ही होना चाहिए। जिस दीपक का प्रकाश कुटिया में ही व्याप्त होना चाहिए। दीपक के सदृश। यदि आत्मा शरीर में व्याप्त माना जाय तो दीपक की तरह अनित्य हो जायेगा, नित्य होने के लिए अणु या विभु परिमाण होने चाहिए। विभुवाद को हम पूर्व देख आये है वह तो हो नहीं सकता क्योंकि सबकी विचार धारायें यदि किसी स्थान पर दो व्यक्ति उपस्थित हो तो दोनों की विचार-धारायें पृथक् उनके मस्तिष्क में बह रही होती है। एक का दूसरे के साथ कुछ भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। मैं नही जान पाता कि दूसरे के मन में क्या है ?

उपनिषदों में आत्मा को अणु अनेकों स्थानों पर कहा गया है जब कि विभु स्पष्ट रुप में एक पर भी नहीं कथन किया गया है। मुण्डक उपनिषद् में प्रति पादन करते हुये आत्मा के विषय में कहा है। इस अणु अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्म आत्मा को बुद्धि के द्वारा जानना चाहिए, पांचो प्राण वृत्तिरूप से बुद्धि सन्निविष्ट है मानव मात्र को बुद्धि प्राणों से प्रभाविक होती रहती है[1]

इस प्रकार यम नचिकेता के कठोपनिषद् में कह रहा है कि जिस आत्म तत्व का मैं प्रवचन करने लगा हूं वह शरीरादि जड़ तत्वों से रहित हमारे अन्दर अणु रूप में विराजमान है[2] इसी प्रकार उपनिषदों में दूसरे स्थलों पर उसे अंगुष्ठ मात्र कहा गया हैं।[1] जो इस शरीर में विराजमान रहता है, अंगुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित अथवा दहकती ज्योति के समान है।[2] यहां पुरुष का अंगुष्ठ मात्र

---

१. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणभृच्च धासंविवेश। (मु०उ० ३।१।९)।

२. एतच्छ्रुत्वसम्परिगृह्य मर्त्तः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। (कठ० उ० १।२।१३)।।

---

१. अंगुष्ठमात्रपुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ४। वही ४।१२)

२. अंगुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः (वही ४।१३)

मस्तिष्क मध्य में अंगष्ठ के अग्रभाग परिणाम सम स्थान में शरीर के समस्त ज्ञान तन्तुओं का केन्द्र है वही आत्मा का स्थान मानना अधिक समीचन है। इसी उपनिषद् में आगे कहा है कि वह अन्तरात्मा सदा मानवों को हृदय में सन्निविष्ट हुआ अंगुष्ठ परिमाण स्थान में निवास करता है।[1] इसी प्रकार इसी भाव को श्वेताश्वेत्तर उपनिषद् में आया है कि संकल्प और अहंकार से युक्त सूर्य के सदृश प्रकाश स्वरूप अर्थात् सूर्य जिस प्रकार एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण सौर मण्डल को प्रकाशित करता है, ऐसे ही शरीर में एक स्थान पर बैठा हुआ आत्मा समस्त शरीर की प्रकाशित एवं नियंत्रित करने वाला अंगुष्ठ परिणाम स्थान में निवास करता है।[2] जीव के परिणाम को बतलाने के लिए इस उपनिषद् में एक कसोटी बताते हुए कथन किया है–रोम का अग्रभाग लेकर उसको सहस्घा विभक्त कर दिया जाय उससे भी सूक्ष्म जीवात्मा का परिणाम जानना चाहिए यह कथन जीवात्मा की अत्यन्त अणुता का निदेश करने के अभिप्राय: से किया गया है। यह नहीं, कि रोम के अग्रभाग का ठीक दस सहस्रवां भाग जीवात्मा का परिमाण है।[1] यहाँ उपनिषदकार जो हमें अणु का कथन कर रहे है वह अणु प्रकृति का अणु नहीं है अपितु उससे भो सूक्ष्म चेतन जोवात्मा एक देशी और परिच्छिन्न परिमाण वाला है। प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट रूपेण कथन किया है कि यह आत्मा हृदय में है।[2] यदि विभु मानने का सिद्धान्त होता तो आत्मा को हृदय में कभी नहीं कहा जाता। इसी प्रकार छान्दोग्य में आया है कि यह आत्मा हृदय में है। वृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी सिद्धान्त की मान्यता उपलब्ध है, कौन सो आत्मा यह जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानवान हृदय के अन्दर

---

१. अंगुष्ठमात्र पुरुषो अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। (वही व० ६।१७) ॥
२. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्य...............

१. वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यच (श्वेता०उ० ३।१३।८,९)
२. हृदिह्येप आत्मा (प्रश्नो० ३।६)।
३. स वा एप आत्मा हृदि (छान्दोग्य० ८।३।३।२)।

ज्योति रूप है ।[4] अथर्ववेद में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि मिलती है। अर्थात् आत्मा का स्थान हृदय है ।[1]

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह शरीर में एक स्थान पर रहने वाला आत्मा कैसे समस्त शरीर में अपना प्रकाश फैलता है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन आया है, उस हृदय का अग्र अर्थात् चारों ओर का भाग चमक रहा है ।[3] जिस प्रकार हृदय के मध्य विराजमान आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश हृदय के बाहर भी फैला हुआ है। ठीक इसी प्रकार समस्त शरीर और उससे भी बाहर फैल जाना संभव प्रतीत होता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि गुण गुणी से बाहर कैसे रहेगा। इसका उत्तर दिया जा सकता है, जैसे कि कस्तूरी की गन्ध बाहर फैल जाती है ।[1] यहां यह चिन्तनीय है कि कस्तूरी का अणु उड़कर वायु मण्डल में फैलता होता है, परन्तु कस्तूरी का अणु न्यून होने के कारण ऐसी शंका निर्मूल प्रतीत होती है। इसी बात को उपनिषद्-कार ऋषि बतला रहे हैं कि आत्मा के ज्ञान का उससे पृथक् भी फैले रहने का उपदेश दे रहे हैं अर्थात् शरीर में आत्मा एक स्थान पर रहकर अपनी शक्ति से चेतनता और ज्ञान समस्त शरीर में रखने का सामर्थ्य रखता है। बृहदारण्यक में कहा है वह आत्मा इन प्राणों अर्थात् इन्द्रियों के विज्ञान को (विज्ञाय तेऽनेनहीत विज्ञानम्) ज्ञानकी साधनभूत इन्द्रियों की शक्ति को अपने विज्ञान से संकट कर जो कि हृदय में हृदयाकाश है उसमें सोता है ।[2]

१. कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त ज्योतिपुरुषः।
२. बृहस्पतिमं आत्मा नृमणानाम हृद्यः (अथर्व० १६।३।१५)
(बृह० उ० ४।२।७) ॥
३. तस्यहैतस्त हृदयस्याग्र प्रद्योतते (बृ० ४।४।२)।

१- व्यतिरेका गन्धवत् (वै० २।३।२६)।
२- यत्रैष एतत् सुपुप्तोऽभूत य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणा नां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषो अन्तर हृदय आकाश तस्मिन् शेते।

उपनिषदों में जीवात्मा का अणुरूप में परिमाण माना गया है। यह उपर्युक्त प्रमाणों से पूर्णतः सिद्ध हुआ मानना चाहिये वहां विभुवाद की गन्ध प्रतीत हो वहां दो प्रकार की बात हो सकती है एक तो जीवात्मा का वर्णन न होकर ब्रह्म का वर्णन हो सकता है। दूसरे जीवात्मा की महिमा का वर्णन अतिशयोक्ति द्वारा किया गया हो, अन्यथा जैसा कि प्रायः हम सभी उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा देख आये हैं कि उपनिषदों में जीवात्मा को स्पष्ट अणु रुप में कहा है या उसको हृदय में विराजमान बतलाया है। हृदय में कथन करने से विभुवाद स्वतः खण्डन हो जाता है। उपनिषदों का यह अणुवाद केवल उपनिषदों तक ही सीमित नहीं हैं अपितु वेद मे भी इसका प्रतिपादन करते हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। ऋग्वेद के १।१०१।७, १।२३।१४, १।६७।२, १।६७।३ और यजुर्वेद में ४०।३, ४०।३१, ४०।१७, १२।३६ तथा सामवेद उ० प्र० १ मन्त्र १७ आदि स्थलों पर स्पष्ट रूप में जीवात्मा को अणु माना गया है।[1]

सांख्य दर्शन के बहुत से विद्वान् आत्मा को विभु स्वीकार करते हैं परन्तु सूक्ष्मता से देखा जाय तो वहां पर आत्मा को अनुरूप में प्रतिपादित किया है। पंच शिखाचार्य ने यह स्पष्ट स्वीकृति दी है कि आत्मा अणु परिमाण वाला है।[2] पं० उदयवीर शास्त्री जिन्होंने सांख्य दर्शन पर तीन प्रामाणिक पुस्तकें लिखीं हैं, वे सांख्य दर्शन में आत्मा को अणु परिमाण कथन करते हैं।[3] न्याय दर्शन के कुछ भाष्यकारों ने भी आत्मा को विभु माना है परन्तु न्याय दर्शन के कुछ स्थल चिन्तनीय है। वात्सायन मुनि ने ही व्याख्यान किया है कि यह नित्य आत्मा पूर्व शरीर को छोड़ता है, मरता है, और मर कर

१- इन मन्त्रों का अर्थ ऋषि दयानन्द या पं० जयदेव विद्यालंकार कृत भाष्यों में द्रष्टव्य हैं। (वृ० २।१।१७)।

२- तमणुमात्रमात्मान ननुविद्यास्मीत्मवं तावत् संप्रजानीते (पंचशीख सू०५)।

३- कपिल और पंचशिखादि सांख्य के मलभूत आचार्यों का यह विचार प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मा को विभु नहीं माना प्रप्युत परिच्छिन्न अथवा अणुमात्र माना है। (सांख्य सिद्धान्त-प्रथम अध्याय-पं० उदयवीर शास्त्री।

पूर्व शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण करता है।[1] इसी प्रकार आगे कहा गया है कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रिय का अर्थ से सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष होता है[2] इसके अतिरिक्त ३।१।२२ पर भी उनका भाष्य इसी उक्त भाव का उपलब्ध होता है। एक नवीन दृष्टि से यह इन दर्शनों पर अलग से अनुसंधान का विषय है परन्तु यहां पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आत्मा मर कर दूसरे स्थान पर जाकर जन्म ग्रहण करने जाता है। यह बिना अणु परिमाण के संभव नहीं है। आत्मा का आना, जाना विभु मानने पर संभव नहीं होता है। अपितु वहां पर केवल शरीर की जाने की बात तो कही जा सकती है परन्तु आत्मा अन्यत्र जन्म लेता है, यह प्रतिपादन होने से आत्मा का अणु परिमाण मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। आत्मा मन से संयुक्त होता है यह भी अणु परिमाण का स्पष्ट द्योतक है। उक्त दृष्टि से यदि विवेचन किया जाय तो न्याय दर्शन में अनेकों सूत्र इसके प्रतिपादन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[3]

ऋषि दयानन्द जीवात्मा को परिच्छिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। उनका परिच्छिन्न का अर्थ है कि अणु कहने से प्रकृति का अणु सन्देह में न माना जाय, इसलिए उन्होंने परिच्छिन्न अर्थात् अति सूक्ष्म एकदेशी जो प्रकृति के अणु से स्वभाव रूप में सूक्ष्म है।

१- नित्योऽयमात्मा प्रेति पूर्व शरीरंजाहि म्रियते इति प्रेत्य च पूर्व शरीरं हित्वाशरीरान्त मुपा दत्य इति
(वासायन भास्य ४।६।१०)

२- आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणा इन्द्रियमर्थेनति।

३- न्यायदर्शन में सूत्र ३।१।२५, ३।२,६१ (वही १।१।४) ४।१।१०, ३।१।२२ (इन सूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य द्रष्टव्य।)

पंचम अध्याय

सृष्टि रचना

इस सृष्टि के पदार्थों को देखकर एक चिन्तक के मन में भाव उत्पन्न होता है कि यह सृष्टि की रचना कैसे हुई। यह संसार कहां से आया, यह प्रश्न अभी ही उत्पन्न नहीं हुआ अपितु इस प्रकार की जिज्ञासा वेदों में प्राप्त होती है। ऋग्वेद जो आदि ग्रन्थ माना जाता है उसमें भी इस प्रकार के प्रश्न उपलब्ध होते हैं। जैसा कि नासदीय सूक्त में पूछा गया है कौन जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि उत्पन्न हुई ?[1] यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में भी, अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त में सृष्टि की विवेचना उपलब्ध है। इन सभी सूक्तों सृष्टि के प्रथम निमित्त कारण का महत्व अत्यधिक दर्शाया है। वास्तव में यदि घट निर्माण हेतु कुम्भकार न हो तो मृत्तिका होने पर भी घर का निर्माण नहीं हो सकता है।

डा० राधाकृष्ण का मत है कि उपनिषदों की यथार्थवादी विचारधारा से आगे चल कर सांख्य शास्त्र में भी वल मिला है।[1] अत: इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

सृष्टि का निर्माण होने से पूर्व प्रलयावस्था में प्रकृति किस अवस्था में थी, उसका क्या रूप था। सृष्टि निर्माण किसने किया इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गम्भीरता से दिया गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इस दार्शनिक समस्या का समाधान बड़ी ही

---

१. कोअद्धावेद कइह प्रवोचत्कुत्त आ जाता कुत इयं विसृष्टि:।
(ऋ० १०।१२९।६)।

1. "The realistic tendencies of the Upnishadas receiveem-phassis in the samkhya conception of the Universe" (Indian Philosophy Vol. 2 P. 240. Dr. Radha Krishnan.)

तात्विक दृष्टि से किया गया है। पश्चिमीय विद्वान् मोक्षमूलर जो वेदों को ऋषियों द्वारा विरचित स्वीकार करते हैं, इस नासदीय सूक्त के विषय में उनका भी कहना है कि इस सूक्त को परमात्मा ने ऋषियों पर अवतरित किया है। इस सूक्त के कुछ मन्त्रों का विवेचन करना यहां पर उचित जान पड़ता है।[4]

१। उस समय अर्थात् प्रलयकाल में न असत् था और न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था। उस समय कहां क्या आच्छादित था ? किसके आश्रय से था और क्या बहुत अधिक गम्भीर जल था ?[2]

२. तब उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी प्रकार का जीवन था, रात्रि और दिवस भी नहीं था। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से स्वधा-प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्राणयन कर रहा था उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था।[1]

३. उस समय कुछ अन्धकार था तथा अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रकृति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था (ब्रह्म के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त सी होने लगी। यहां महर्षि दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है।[4]

---

१. नासदासीन्नो, सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमारीवा कुहकस्यशर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गम्भीरम् ॥
(ऋ० १०।१२९।१)

---

१. न मृत्पूरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तसमद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
(ऋ० १०।१२०।२)

२. तम आसीत्तमसा गूढतमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाम्वपिहितं यदासीत्तपसस्तनमहिना जायतेकम् ॥
(ऋ० १०।१२९।३)

४. यदाकार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदा सत् सृष्टे प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात् तस्मिन् काले सत्

१. इस प्रलयावस्था के समय मन का रेतः जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ मनीषी लोगों ने मान लिया कि इस असत् में सत् छिपा हुआ था ।[1]

२. इन तीनों का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्यकारी था और भी आश्चर्यजनक, वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली जीव महान् थे, इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और पूरे प्रयत्न का बल था ।[2]

३. वस्तुतः कौन जानता है और कौन कह सकता है, कहां से निर्माण हुआ और कहां से विविध प्रकार की सृष्टि हुई है । देव (अर्थात् विद्वान् या सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में ही बने है । अब कौन यह जान सकता है कहां से यह सृष्टि निर्मित हुई है ।[3]

४. जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई है वहीं इसका धारण करता हैं । यदि न करें तो (सृष्टि विनष्ट हो जाय)

प्रकृत्याकमव्यक्तं, सत् सत्सञ्ज्ञकं यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्ना वर्तत:······किन्तु पर ब्रह्मण:······परम कारण संज्ञक-मेव तदानीं समवर्तत ।
(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टि विद्या विषय पृ० १३१ आठवीं वार सम्वत् २००८)

---

१. कामस्तग्रे, समर्वत्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्य काव्यो मनीषा ॥
(ऋ० १०।१२६।४)

२. तिश्चीनो विततो रश्मिरेपामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीइत् ।
रेतोधाआसन्महिमान आसन्त् स्वधा अवस्तात् । (ऋ०१०।११६।५)

३. को अद्धावेद क छह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इय विसृष्टिः ।
अर्वागदेव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद तत आ वभूव ॥
(ऋ० १०।१२६।६) ।

यहाँ पर वा निश्चय के अर्थ में है। जो परम व्योम है इसका अध्यक्ष है के मित्र उसको जाने, यदि उसको न जानेगा तो महती हानि होगी।[1]

वेद की तरह उपनिषदों में भी यह जिज्ञासा उपलब्ध होती है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी ऋषि ने किस प्रकार हम जीवन धारण करते हैं। हम कहां से उत्पन्न होते हैं किस प्रकार से जीवित कहे जाते हैं। प्रलय काल में हमारी स्थिति कहां और कैसी रहती है। दु:ख और सुख के उपभोग में हमारा कौन अधिष्ठाता है या नियन्ता रहता है।[2]

तैत्तिरीय उपनिषद मे सृष्टि रचना का वर्णन इस रूप में उपलब्ध होता है उस ब्रह्म (निमित्त कारण) से (की प्रेरणा से) जो अपनी स्वाभाविक ईक्षण शक्ति से अकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल। जल से पृथवी, और पृथवी से औषधियां रुप नाना जगत् निर्मित हो जाता है।[3] इस प्राप्त प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन चल रहा है। यहां ब्रह्म को निमित्त कारण रूप में प्रतिपादित करते हुए उसकी महिमा का प्रतिपादन हुआ हैं। उसने सृष्टि की रचना की। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सृष्टि उसके अन्दर थी, जो जादूगर की तरह उसने बाहर निकाल दिया।[4] यहां स्पष्ट रुप में पंचमी विभिक्ति का प्रयोग हुआ हैं। जैसे पर्वत से नदी निकलती हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि पर्वत में जल है। यहां पर भी आत्मन: पद जगत् का उपादन कारण रूप में प्रयुक्त नही हुआ अपितु निर्मि-

---

१. मन्त्रों अर्थ ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के अनुसार है।

२. किं कारणंब्रह्मकुतदस्मजाता (श्वेता० १।१)।

३. तस्मादा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु। वायोरग्नि:। अग्नेराप: अद्भ्य: पृथवी, पृथिव्या औषधय:...। (तृ०व०व०१अनुवाक)।

४. इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥
(ऋ० १०।१२९।७)

नित्तकारण के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। वह ब्रह्म सर्वव्यापक होने से समस्त जगत् का सर्वाधार है। ऐसा ही वेद भी स्वीकार करता है।[1] इस उक्त उपनिषद के मन्त्र पर पं० आर्यमुनि का विचार है कि परमात्मा से आकाश रूप द्रव्य उत्पन्न हुआ, यहां भूतों की सूक्ष्मावस्था से तात्पर्य या अवकाशप्रद वस्तु का नहीं किन्तु सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्यापक द्रव्य का है।[2] इसीपर ऋषि दयानन्द का मत इस प्रकार है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से अकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश से प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें।

हमारा यह विचार है कि जिसे आकाश कहते हैं, उसकी उत्पत्ति आपत्ति नहीं अपितु औपाधिक आकाश की उत्पत्ति माननी चाहिए। तब यहां आकाश का अभिप्राय: या शक्ति से परमेश्वर क्षोभ उत्पन्न करता है उस क्षोभ का नाम सूक्ष्म रूप की दृष्टि से आकाश हो सकता है।

मुण्डकोपनिषद में भी सृष्टि रचना का प्रतिपादन उपादान कारण की दृष्टि से न करके निमित्त कारण की दृष्टि से किया गया है। अपने प्रयत्न रूप तप से ब्रह्म को जानने का अभिप्राय: यह है कि ब्रह्म इस सृष्टि को रचता हैं तब अपने प्रयत्न से सबको ज्ञात होता है। उस तप के परिणाम स्वरूप ब्रह्म अन्न तक समस्त जड़ पदार्थो का निर्माण कर देता है। अन्न के प्राण आदि सभी गति करते हैं।[3] आगे के वचन में नानाविध रूप में उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, प्राण, मन, इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, आप: आदि की उत्पत्ति बतलाते हुए पृथ्वी विश्व को धारण करने वाली बतलाते

१- स दाधार पृथिवी (यजु०)

२- उपनिपद आर्यभाष्य पृ०५३७। नोट-तैत्तिरीय में सर्वदेवा:

३- इमानिचपंचमहाभूतानि पृथिवी......(तै०उ०खं०५ अनुवाक)।।

हुए अन्त में उत्पन्न हुई है।[1] यहां जायते का अर्थ है प्रादुर्भाव होना (जनि प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव से तात्पर्य सांख्य का सत्कार्य संकेत रूप में प्राप्त है। इस उपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में ५,६,७ मन्त्रों में नाना प्रकार की वस्तुओं के निर्माण का संकेत करते हुये उसी परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुवेद सामवेद, दीक्षा, यज्ञ, संवत्सर आदि की उत्पत्ति का वर्णन है। क्या यजुर्वेद के मन्त्रों के ज्ञान को मायावादी यह मानेगें कि वह ब्रह्म ही इस रूप में परिणत हो गया है।

कठोपनिषद् में भी कार्य से कारण की ओर संकेत करते हुए कहा है कि इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है मन से सूक्ष्म बुद्धि है, बुद्धि से ऊपर महतत्व है और महतत्व से सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति सूक्ष्म है। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्म की सूक्ष्मता का वर्णन चल रहा है इससे अगले मन्त्र में कहा है कि उस अव्यवक्त प्रकृत से भी सूक्ष्म वह परमेश्वर है। यहां पर महाभूतों से पूर्व के जड़ तत्वों का वर्णन स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। अन्तिम जो सूक्ष्म तत्व हैं वह अव्यक्त प्रकृति परन्तु इस उपादान रूप प्रकृति से भी सूक्ष्म चेतन तत्व परमात्मा है। उसको जानकर ही हम अमृत को प्राप्त करते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में भी सृष्टि की रचना का उल्लेख है। पांचों महाभूतों को, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच, कर्मेन्द्रियां और मन इन सबको देव नाम से कहा है। ऋषि दयानन्द भी चेतन और जड़ दो रूपों में देव शब्द प्रयोग करते हैं। क्योंकि अग्नि आदि देव भी हम सबको देते हैं। इसी उपनिषद् में आगे सभी भूतों के सूक्ष्म भूत और तन्मात्राओं का क्रमशः प्रलयकाल में कैसे प्रलय होती है इसका वर्णन करते हुये बताया है कि जैसे पक्षीगण में सभी स्थूल और जड़ जगत् अपने-अपने क्रमशः कारण को प्राप्त होता हुआ मूल प्रकृति में और मूल प्रकृति परमेश्वर में अवस्थित रहती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा इनके कारण तन्मात्रायें अर्थात् शब्द, स्पर्श,

१. मुण्डक० उपनिषद् १ मु० १ ख०मं०८।
२. वहीं २ मु० १ ख०म० ३॥

रूप, रस और गन्ध आदि जो महाभूतों के कारण हैं। इनमें पृथ्वी आदि का लय अपने पांच विषयों में अर्थात् उन्हीं स्पर्शादि सूक्ष्म तन्मात्राओं में लय हो जाता है।[1] इस लय को दिखाते हुए जो द्रष्ट श्रोता पुरुष चेतन आत्मा है, उसको भी परमात्मा में अवस्थित कहा है।[2] यह इन्द्रिय और उसके विषयों का वर्णन दर्शनो के अतिरिक्त शांखायन आरण्यक में भी इन्द्रियाँ और इनके विषयों का उल्लेख इसी उक्त क्रमशः से प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार इस उपनिषद् में भी प्रसंग से सृष्टि रचना का विषय उपलब्ध है।

छान्दोग्य इपनिषद् में सर्गाम्भ का वर्णन है। उपनिषद् के (६,२,३,) में बहुस्याम इस प्रकार संकल्प पूर्व सर्गाम्भ का वर्णन जहां किया है वहां (उपनिषद् ६,३,३) में "तासां विवृतं त्रिवृत मेकैकां करवाणि" यह कहा है। आचार्य द्रमिल इस त्रिवृत का विवेच न करते हुए इसको सांख्य में प्रतिपादित सत्व, रज और तम का वाच क माना है। अर्थात् जो रसी तीन लड़ियों से बनी हो, उसके समान यह सृष्टि रचना भी इन तीन लड़ी अर्थात् सत्व रज, तम से मिलकर हुई है। वहां उपनिषद् में ये तीन अर्थात् त्रिवृत्व है। तेज-आप और और अन्य ये यथाक्रम रजस्, सत्व-तमस् के प्रतीक हैं क्योंकि आगे उपनिषद् में अग्नि का रोहित रूप तेज अर्थात रजस् का रूप है। पर न्तु रजस् इस स्थिति में अपने अपने विशुद्ध रूप को छोड़ देता है। उस समय जिसको हम तेज कहते हैं वहां रजस्-सत्व और तमस् तीनों रूप विद्यमान हैं। यही बात सत्य है। इससे स्पष्ट उपनिषद् और क्या कह सकती है कि ये विकार रूप जगत् के ये सत्व, रजस् और तमस् यही तीन रूप सत्य हैं। इस त्रिवृत पद के आधार पर आचार्य

---

१. पृथिवी च पृथिवीमात्र, चापश्चापोमात्रातेजश्च तेजोमात्र-आकाश-मात्र······(प्रश्नो० चतु० प्र० ८ म०)।

२. घ्राणरग्वस्या—तस्यगन्धाः, चक्षुरेवास्या—तस्य रूपं—श्रोत्रमेवा-स्यातस्य शब्द—(शा०भा० ५।५)॥

---

१. यदग्नेरोहितं रूतं तेजसस्तदरूपं यच्छुक्लंतदपं यत्कृष्ण तदन्नस्या-पागादग्नेरागित्वं वाचारम्भणं विकारोनामधेयं त्रीणिरूपाणि इत्येव सत्यम्। (छान्दोग्य ६।४७।४)।

शंकर ने पांच स्थूल भूतों को परस्पर सम्मिश्रण की कल्पना की है जो प्रसंग के अनुसार उचित प्रतीत नहीं होती क्यों कि आगे उपनिषद् कार स्वयं इन तीनों को सत्य मानता है शेष जड़ पदार्थों का लय इन्हीं में होने से वे वाचारम्भण मात्र हैं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में जो त्रिवृत शब्द आया है वहां आचार्य शंकर ने इसका अर्थ सत्व, रजस तमस् ही ग्रहण करते हैं। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि छान्दोग्य उनिषद् में जो त्रिनृत्त शब्द है उसका अर्थ सत्व, रजस् और तमस् लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि ये तीनों मिलकर अर्थात संघातरुप में संसार का निर्माण करते है। छान्दोग्य में उक्त प्रसंगु स्पष्ट सकेत करता है कि इसी प्रकार आदित्य का जो लोहित रूप हैं यद्यपि वह तेज और रजस का है परन्तु इस अवस्था में वह अपने विशुद्ध रूप छोड़ देता है और हम उस समय जिस आदित्य को देखते हैं उसमें तीनों रूप हैं अर्थात रजस सत्व और तमस तीनों विद्य मान हैं। यही सत्य है, इस प्रकार आगे चन्द्र और विद्युत् के उदाह-रणों में कहा गया है। इन तीनों को कहा है कि इनके तीन २ भाग हो जाते है और इसी प्रकार ये सृष्टि रचना कर डालते हैं। मैत्र्यु उपनिषद् में भी इसको इस प्रकार है कि स्पष्ट रूप से जगत् सर्ग को त्रिगुण मूलक बताया है। इन मूलतत्वों से जो रचना होती है उसको विशेषान्त कह कर प्रस्तुत किया है।[2] सांख्य योगदर्शन में विशेष शब्द भूतो के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहां शब्द रचना का क्रम पूर्णरूपेण सांख्य दर्शन के अनुसार प्रतीत होता है। इस रचना के मूल उपादान तत्व सत्व रजस त्रिगुण है। इसी के अनुसार त्र्यात्मक त्वात्तु भय-त्वात् (३११।२) इस ब्रह्म सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने छान्दोग्य के उक्त प्रसंग को लक्ष्य कर त्रिगुण से जगत् को उत्पति का विवरण प्रस्तुत किया है। शंकर के अनुसार यदि इन तीन देवताओं को भूत माना जाता है, इन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शंकर स्वयं जबकि उपनिषद् इनको सत्य कह रही है। अत: इसका सामंजस्य सांख्य के त्रिगुण को मानकर किया जा सकता है।

---

२. महदाद्याविशेपान्ता-त्रिरूपत्वंतथाअवदत्। (मै०उ० ६।१०)।
नोट-आचार्य द्रमिल की यह व्याख्या श्रीभाष्य में प्राप्त है।

यह निश्चित-सा लगता है आचार्य द्रमिल आचार्य शंकर का पूर्ववर्ती हैं। आचार्य ने उपनिषदों के भाष्य में एकाधिक बार भक्ति से कह कर स्मरण किया है।

उपनिषदों में उक्त सृष्टि रचना का वर्णन स्पष्ट करता है कि दर्शनकाल में जब सांख्य का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय उपनिषदों में जो सृष्टि रचना के संकेत प्रसंगानुसार आये थे, उनका अनुसंधान करके अर्थात् उसको व्यवस्थित रूप एवं वैज्ञानिक रूप दिया प्रतीत होता है। उक्त विवेचन से मेरा मत है कि उपनिषदों की सृष्टि रचना का प्रभाव सांख्य दर्शन पर है न कि सांख्य का उपनिषदों पर है।[1] क्योंकि हमारी मान्यतानुसार वेदों के पश्चात् का युग ब्राह्मण और उपनिषदों का युग है। उससे उत्तवर्ती युगदर्शनों का माना जाना चाहिए। सांख्य की दृष्टि रचना, जो उपनिषदों की सृष्टि का व्यवस्थित रूप कहना अधिक उपयुक्त होगा संक्षिप्त में इस प्रकार है। सत्वरजस ओर तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। उस प्रकृति स महत् (बुद्धितत्व महत् से अहंकार, अहंकार से पांच तमात्रायें हैं और ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई और पांच स पांच भूत उत्वन्न हुए।[1] इन्हीं को इस चार भागों में इस प्रकार विभाजित किया है। प्रकृति अविकृति है। महत् अहंकार पाँच तन्मात्रायें प्रकृति और विकृति दोनों हैं ११ इन्द्रियां और पाँच स्थूल ये १६ विकृति हैं और पुरुष, न प्रकृति और न विकृति है। इस प्रकार ये सृष्टि- रचना के जड़ जगत् के २५ तत्व माने हैं।[2]

संसार की सत्ता :

संसार की सत्ता यथार्थ रूपि में है। ये समस्त जड़ पदार्थ केवल भ्रममात्र या स्वप्न नहीं है अपितु यथार्थ रूप में उपलब्ध

---

१. सत्वरंजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेमर्हान् महतोऽहंकारो- अहंकारात् पंच तन्मात्राण्युभयमीन्द्रियं च पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि (सा) सू०अ०१। सू० ६१)।

---

१. श्वेताश्वेतर उपनिषद् में सांख्य दर्शन के पीछे की है।

२. मूल प्रकृतिरविकृतिः महद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः, षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति न विकृति पुरुषः। (सांख्य कारिका ४)।

विकार अथवा परिणाम है। जो कुछ हम संसार में अवलोकन कर रहे हैं। वह अनादि काल से अनन्तकाल तक सदा ऐसा ही बना रहता है, यह बात नहीं है। कोई एक अवस्था अवश्य अवश्य आती है, जब दृश्य मान रूप में इसका प्रारम्भ हुआ था। उसके ठीक पहले ऐसी अवस्था न थी। वर्तमान स्थिति के अनुसार मैं ऐसा अवसर आयेगा जब इसकी यह अवस्था न रहेगी। परन्तु इनका मूल उपादान सदैव अवस्थित रहता है। इन दोनों अवस्थाओं में प्रथम अवस्था को सर्ग और द्वितीय अवस्था को प्रलय कहा है। सर्ग के आदिकाल में संसार की वस्तुओं का विकास प्रारम्भ होता है, सृष्टि की युवा-अवस्था आती है, फिर प्रलय हो जाती है अर्थात् परमाणु विभक्त हो जाते है। संयुक्त होने पर सृष्टि और वियुक्त होने पर प्रलय यह क्रम अनादि काल से चल रहा है। इसका प्रारम्भ प्रायः सभी दार्शनिकों ने नहीं माना है। प्रारम्भ मानने पर दर्शन की अनेक समस्यायें उभर आती हैं। जिनका उत्तर मिलना असंभव सा लगता है। अतः इसका समाधान अनादि काल से ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संसार की सत्ता सदैव बनी रहती है, उन वस्तुओं का रूपान्तर हो जाता है परन्तु सृष्टि तत्व का अभाव नहीं होता है। जैसे आज विज्ञान का सिद्धान्त है कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है। जैसे लकड़ी जो हमने जलाई है। वह पूर्णतः नष्ट नहीं होती अपितु जिन तत्वों से मिलकर बनी थी, उसमें मिल गई। राख को हम खाद बनाकर डाल देते हैं। वह रूपान्तर होकर फिर आ जाती है। अतः इस परिवर्तन में वस्तुओं की सत्ता बनी ही रहती है। कभी कारण के रूप कार्य के रूप में।

आधुनिक युग में यथार्थवाद को विज्ञान से पर्याप्त बल मिला है। भौतिक शास्त्र के अनुसंधान ने सिद्ध कर दिया है समस्त ब्रह्माण्ड का निर्माण इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन तथा प्रोटोन से हुआ है। विज्ञानों की खोजों से भी संसार की यथार्थ सत्ता सिद्ध हुई है। उपनिषदों में भी हमें उसका प्रतिपादन मिलता है। ऋषि दयानन्द दृश्य जगत् को तत्व रूप में एकदम मान्यता देते हैं। वेद भी इसकी स्पष्ट घोषणा करता है कि परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य, चन्द्र, विद्युत् पृथ्वी

आदि बनाते थे वैसे[1], ही यथार्थ सत्ता सदैव वतमान कार्य एवं कारण रूप में विद्यमान रहती है। उपनिषदें और दयानन्द प्रकृति को एवं संसार की सत्ता को सत्य मानकर वैज्ञानिकों के आविष्कार का माग उद्घाटित कर देते हैं। जिनके आविष्कारों को यथावत् मानने में हिचकिचाते नहीं हैं। भौतिकवाद और आध्यात्मिकवाद का यथार्थ-वाद समन्वय करने की क्षमता रखते हैं। अरविन्द भी इस समन्वय को चाहते थे। उपनिषदों के मुख्य रूप में ब्रह्म विज्ञान का व्याख्यान है तो भी संसार की सत्ता का वर्णन स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है।

मायावाद :

मायावाद का सृजन आचार्य शंकर ने उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन को आधार रूप में अंगीकार कर किया है। छान्दोग्य के "नृतेन हि प्रत्यूढा" में अनृत शब्द का अर्थ आचार्य शंकर ने अविद्यापरक ही किया है। वहीं पर आनन्द गिरि ने उक्त शब्द का अर्थ किया है, अनादि अनिर्वाच्य मिथ्या ज्ञान।[1] वाचारम्भण श्रुति का अर्थ करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि विकार जात सम्पूर्ण कार्य जगत् वस्तुत: कारण से अभिन्न है। जिस प्रकार रक्तोपाधान युक्त स्फटिक मणि में पद्म राग मणि का भ्रम होता है। वस्तुत: वह पद्म राग मणि नहीं है। उसी प्रकार कार्य जगत् ब्रह्म से कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है।[2] भिन्नता केवल प्रतीत होती है। एकमेवाद्वितीयम् श्रुति की व्याख्या में आनन्दगिरि ने ब्रह्म में स्वजातीय विजातीय भेदो का निषेध किया है।[1] जिसका अथ है कि भेद मिथ्या है। छान्दोग्य में ही कहा गया है कि जहां पर अन्य को देखता है अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है वह अल्प है। आचार्य शंकर ने वहीं पर अल्प को स्वप्न-

---

१. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवींचान्तरिक्ष-मथोस्व:। (ऋ०म० १०, सू० १६०, मं० ३)।
इस पर ऋषि दयानन्द कृत भाष्य द्रष्टव्य–स०प्र०समु०८पृ०२४७॥

१. छान्दोग्य उ०शांकर भाष्य आनन्दगिरि टीका० ८।३।१ अनाद्याश्रम
२. वही–२।४।१ पृ० ३१६ पूना १८६० (पूना १८६० पृ० ४२०)॥

१. वही ट ६।२।१ पृष्ठ २६७, २६८।

वत् मिथ्या कहा है।[2] इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद में ब्रह्मवेदं विश्वम् इसके भाष्य में आचार्य शंकर ने नामरूप को अवभास कथन किया है।[3] श्वेताश्वेतर उपनिषद् में "मायां तु प्रकृति विद्यात्" में माया शब्द को भाष्यकार ने कल्पित अर्थ में लिखा है।[4] बृहदारण्यक में नेह नानास्ति किन्चन के भाष्य में शंकर ने ब्रह्म नानात्व का निषेध किया है। वस्तुत: अविद्यारोपण व्यतिरेक परमार्थ द्वैत है ही नहीं।[5]

आचार्य गौडपाद एवं आचार्य शंकर :

माण्डूक्य कारिका में आचार्य गौडपाद ने मायावाद का निरूपण पर्याप्त रूप में किया है।[6] माण्डूक्य कारिका में इन्होंने माध्यमिक कारिकाकार नागार्जुन के समान जगत् प्रपन्च को मिथ्या कहा है। आचार्य गौडपाद सांख्य और न्याय-वैशेषिक की तरह जगत्-उत्पत्ति को मान्यता नहीं देते हैं। इसके अनुसार सत्कार्यवाद और असत्कार्य दोनों के अनुसार जगत् की रचना सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि कार्य पूर्व ही सत् हो तो उत्पत्ति की क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह तो है। ही न्याय इस सत्कार्यवाद का खण्डन करता है। इस तरह दोनों का प्रत्याख्यान इन्होंने किया है।[1] और मिथ्या प्रपन्च की सिद्धि की है। इनके अनुसार परमार्थत: जगत् प्रपन्च मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि कारण ब्रह्म से पृथक् रूप से यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि पृथक् रूप से उत्पत्ति असम्भव है। अतः समस्त पदार्थों को अनुत्पन्न ही कहा जा सकता है। आचार्य ने

---

२. छान्दोग्य शांकर भाष्य २।२४।१ पृष्ठ घ ९०, ४०० ।

३. मु० उ० भाष्य २।२।११ पृष्ठ ३३, ३४ आनन्दाश्रम पूना १८९६

४. श्वेताश्वेतर उ० ४।१० पृष्ठ ५७ आनन्दाश्रम पूना शकानन्द १८११

५. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ४।४।१९ पृष्ठ ६८२ आनन्दाश्रम पूना १९२७ ।

६. जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् (मा०का० ३।११ पृष्ठ १९२)

१. भूतं न जायते किन्चिद्भूतं नैव जायते ।
विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिंख्यापयन्ति ते ॥ गौ०का० ४।४)

माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण में भाव वस्तुओं को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुयें अन्तस्थ होती है, उनमें बाह्यता नहीं होती फिर भी वे स्वप्न की वस्तुयें बाह्य वस्तुओं के समान दृष्टिगोचर होती हैं। उसी प्रकार जागृत्-अवस्था की वस्तुओं जानना चाहिए। स्वप्न की वस्तुयें तथ्यहीन हैं अत: स्वप्नकालिक वस्तुओ के सदृश्य जागृत् अवस्था की वस्तुयें भी तथ्य हीन हैं अर्थात् वे वितथ हैं।[2] आचार्य शंकर ने गौडपाद की उक्त २।१ कारिका भाष्य वितथ के भाव को वैतथ्य असत्य है अर्थात् जिस में तथ्यता नहीं है। जो अतथ्य हैं वही वैतथ्य सत् है। स्वप्नकालिक वस्तुयें जब तक स्वप्न दर्शन होता रहता है तब दिखाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है। स्वप्न से उठे हुए व्यक्ति के लिये स्वप्नकालिक वस्तुयें उसी समय अर्थात् जागते ही मिथ्या दिखाई देती है, अर्थात् जागृत् ज्ञान से स्वप्न का ज्ञान बाधित होता है, अत: बाधित होने के कारण स्वप्नकालिक वस्तुयें मिथ्या हैं। आचार्य गौडपाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिये श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। श्रुति में कहा है कि स्वप्न में रथ और उसके वाहन, अश्व एवं रथमार्ग नहीं होते, फिर भी वे वस्तुयें स्वप्न में दिखाई देती हैं। परन्तु वे सब मन: कल्पित हैं सत्य नहीं है।[1] आचार्य शंकर ने गौडपाद वैतथ्य प्रकरण से चतुर्थ कारिका भाष्य में स्वप्न की वस्तुओं के सदृश्य जागृत् वस्तुयें भी मिथ्या हैं सिद्ध किया हे। आगे गौडपाद आचार्य मिथ्यात्व सिद्ध करने हेतु कहते हैं कि वस्तुयें पूर्वकाल में नहीं थी भविष्यत् में नहीं रहेंगी इसी प्रकार यदि कालिक परिछिन्न वस्तुयें यदि वर्तमान मे दिखाई भी दें तो उनको वितथ ही कहना पड़ेगा। वे तथ्यहीन हैं। वे तथ्यहीन होते हुए ही दिखाई देती हैं।[2] परवर्ती आचार्य मधुसूदन

---

२. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिण: (मा०का० २।१ पृ० ६५ गौड़पाद आनन्दाश्रम पूना १९२१।

१. वितथस्य भावोवैतथ्यम्-असत्वमित्यर्थ: (मा०का० २।१ पृ० ६५)

२. अभावश्च रथादीनां श्रुयते न्यायपूर्वकं। वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहु प्रकाशितम्। (२।३ पृष्ठ ६८)

सरस्वती ने परिच्छिन्नत्व को मिथ्यात्वानुमान में हेतु माना है और परिच्छिन्नत्वेन वस्तुओं को मिथ्या कहा है।[3]

आचार्य गौडपाद विश्वदर्शन अज्ञान या माया के कारण मानते हैं। वस्तुत: अनादि माया के कारण जीव सोया हुआ है, अपने स्वरूप को भूला हुआ है। माया में सुप्त होने के कारण उसे दर्शन हो रहा है। गौडपाद की भाषा में अनादि माया सुप्त जीव सब ज्ञान प्राप्त करता है। तभी शाश्वत अद्वैत तत्व को जान सकता है। जो कि अनिद्रस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है।[1] उनका कथन है कि परमार्थ तत्व ज्ञान से घटादि वस्तुओं का वैसा ही बाध होता है जैसा कि रज्जु में सर्प का रज्जु ज्ञान से, मरुजल का मरु ज्ञान से, शुक्ति रजत का शुक्ति ज्ञान बाध होता है। इसी कारण आचार्य गौडपाद प्रपन्च की सत्ता नहीं मानते हैं। वास्तव में प्रपन्च उनके अनुसार मायाभय है। एकमात्र अद्वैत ही परमार्थ है।[2] जिस प्रकार अन्धकार में रज्जु विषयक ज्ञानाभाव के कारण सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार जगत् विकल्प है और रज्जुज्ञान से सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है।[3] उपर्युक्त विवरण आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगन्मिथ्यात्व या मायावाद को समझने के लिये पर्याप्त है। अद्वैतवाद का इतिहास में आचार्य गौडवाद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मायावाद का प्रधान विषय अद्वैत की सिद्धि है। एतदर्थ जगन्मिथ्यात्व की स्थापना गौडपादाचार्य ने की है। इस प्रकार अद्वैत में स्वीकृति मिथ्यात्व का स्पष्ट प्रतिपादन आचार्थ गौडपाद की कारिका में प्राप्त है। परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रतिभासिक व्यवहारिकादि सत्ता का

३. आदावन्ते च यन्नस्ति वर्तमानोपि तत्तथा। वितथै: सदृशा:।
(मा०का० २।६ पृ० ७०)
४. मिथ्यात्व लक्षण-अध्यास ४ द्रष्टव्य।

१. अनादि मायया सुप्तो यथा जीव: प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ मा०का० १।१६ पृष्ठ ५०।
२. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतंपरमार्थत: (मा०का० १।१७ पृ० ५२)
३. माण्डूक्य कारिका २।१७ तथा २।१८ पृ० ८१, ८२।

माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण में भाव वस्तुओं को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुयें अन्तस्थ होती है, उनमें बाह्यता नहीं होती फिर भी वे स्वप्न की वस्तुयें बाह्य वस्तुओं के समान दृष्टिगोचर होती हैं। उसी प्रकार जागृत्-अवस्था की वस्तुओं जानना चाहिए। स्वप्न की वस्तुयें तथ्यहीन हैं अत: स्वप्नकालिक वस्तुओ के सदृश्य जागृत् अवस्था की वस्तुयें भी तथ्य हीन हैं अर्थात् वे वितथ हैं।[2] आचार्य शंकर ने गौडपाद की उक्त २।१ कारिका भाष्य वितथ के भाव को वैतथ्य असत्य है अर्थात् जिस में तथ्यता नहीं है। जो अतथ्य हैं वही वैतथ्य सत् है। स्वप्नकालिक वस्तुयें जब तक स्वप्न दर्शन होता रहता है तब दिखाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है। स्वप्न से उठे हुए व्यक्ति के लिये स्वप्नकालिक वस्तुयें उसी समय अर्थात् जागते ही मिथ्या दिखाई देती है, अर्थात् जागृत् ज्ञान से स्वप्न का ज्ञान बाधित होता है, अत: बाधित होने के कारण स्वप्नकालिक वस्तुयें मिथ्या हैं। आचार्य गौडपाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिये श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। श्रुति में कहा है कि स्वप्न में रथ और उसके वाहन, अश्व एवं रथमार्ग नहीं होते, फिर भी वे वस्तुयें स्वप्न में दिखाई देती हैं। परन्तु वे सब मन: कल्पित हैं सत्य नहीं है।[1] आचार्य शंकर ने गौडपाद वैतथ्य प्रकरण से चतुर्थ कारिका भाष्य में स्वप्न की वस्तुओं के सदृश्य जागृत् वस्तुयें भी मिथ्या हैं सिद्ध किया है। आगे गौडपाद आचार्य मिथ्यात्व सिद्ध करने हेतु कहते हैं कि वस्तुयें पूर्वकाल में नहीं थी भविष्यत् में नहीं रहेंगी इसी प्रकार यदि कालिक परिछिन्न वस्तुयें यदि वर्तमान में दिखाई भी दें तो उनको वितथ ही कहना पड़ेगा। वे तथ्यहीन हैं। वे तथ्यहीन होते हुए ही दिखाई देनी हैं।[2] परवर्ती आचार्य मधुसूदन

---

२. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीपिण: (मा०का० २।१ पृ० ६५ गौड़पाद आनन्दाश्रम पूना १६२१।

१. वितथस्य भावोवैतथ्यम्-असत्वमित्यर्थ: (मा०का० २।१ पृ० ६५)

२. अभावश्च रथादीनां श्रुयते न्यायपूर्वकं। वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहु प्रकाशितम्। (२।३ पृष्ठ ६८)

सरस्वती ने परिच्छिन्नत्व को मिथ्यात्वानुमान में हेतु माना है और परिच्छिन्नत्वेन वस्तुओं को मिथ्या कहा है ।[3]

आचार्य गौडपाद विश्वदर्शन अज्ञान या माया के कारण मानते हैं । वस्तुतः अनादि माया के कारण जीव सोया हुआ है, अपने स्वरूप को भूला हुआ है । माया में सुप्त होने के कारण उसे दर्शन हो रहा है । गौडपाद की भाषा में अनादि माया सुप्त जीव सब ज्ञान प्राप्त करता है । तभी शाश्वत अद्वैत तत्व को जान सकता है । जो कि अनिद्रस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है ।[1] उनका कथन है कि परमार्थ तत्व ज्ञान से घटादि वस्तुओं का वैसा ही बाध होता है जैसा कि रज्जु में सर्प का रज्जु ज्ञान से, मरुजल का मरु ज्ञान से, शुक्ति रजत का शुक्ति ज्ञान बाध होता है । इसी कारण आचार्य गौडपाद प्रपन्च की सत्ता नहीं मानते हैं । वास्तव में प्रपन्च उनके अनुसार मायाभय है । एकमात्र अद्वैत ही परमार्थ है ।[2] जिस प्रकार अन्धकार में रज्जु विषयक ज्ञानाभाव के कारण सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार जगत् विकल्प है और रज्जुज्ञान से सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है ।[3] उपर्युक्त विवरण आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगन्मिथ्यात्व या मायावाद को समझने के लिये पर्याप्त है । अद्वैतवाद का इतिहास में आचार्य गौडवाद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । मायावाद का प्रधान विषय अद्वैत की सिद्धि है । एतदर्थ जगन्मिथ्यात्व की स्थापना गौडपादाचार्य ने की है । इस प्रकार अद्वैत में स्वीकृति मिथ्यात्व का स्पष्ट प्रतिपादन आचार्थ गौडपाद की कारिका में प्राप्त है । परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रतिभासिक व्यवहारिकादि सत्ता का

---

३. आदावन्ते च यन्नस्ति वर्तमानोपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः ।
(मा०का० २।६ पृ० ७०)
४. मिथ्यात्व लक्षण-अध्यास ४ द्रष्टव्य ।

१. अनादि मायया सुप्तो यथा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ मा०का० १।१६ पृष्ठ ५० ।
२. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतंपरमार्थतः (मा०का० १।१७ पृ० ५२)
३. माण्डूक्य कारिका २।१७ तथा २।१८ पृ० ८१, ८२ ।

विवेचन माध्यमिक कारिका में उपलब्ध नहीं है जो आचार्य शंकर तथा अन्य उत्तरवर्ती अद्वैत आचार्यों को स्वीकार करना पड़ा है। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ये दार्शनिक विद्वान् अपने इस प्रत्ययवाद को दो प्रकार से सिद्ध करने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं, एक तो उपनिषदों के कुछ मन्त्रों की व्याख्या अद्वैतवादी विचार-धारा द्वारा करना चाहते हैं। दूसरे युक्तियों से।

महर्षि दयानन्द के अनुसार प्रकृति की सत्यता :—

महर्षि दयानन्द के अनुसार यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अपनी वास्तविक सत्ता रखता हैं। वह किसी अन्येतर पदार्थ का विवृत न होकर अपनी कारणभूता प्रकृति का सत्कार्य है। उसकी सत्ता परा-श्रय की अपेक्षा नहीं रखती। प्रकृति के सत् होने के कारण तज्जनित जगत् भी सत् है। परिवर्तन शीलता उसका धर्म है। इन अर्थों में वह अनित्य है। परिवर्तन का आधारभूत द्रव्य नित्य है। उसके अवयवों में पारस्परिक संयोग-वियोग के कारण नावीन्य आता रहता है, किन्तु आधारभूत द्रव्य में अपने में नित्य ही रहता है। महर्षि दयानन्द श्रुति के निम्न मंत्र के आधार पर अपनी प्रकृति की सत्यता को प्रमाणित करते हैं कि जो ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालानादि गुणों से सदृश्य व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त मित्रतायुक्त सनातन अनादि है, और वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण, कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं। इन जीव और ब्रह्म में से एक जीव है, वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप—पुण्य रूप फलों को अच्छे प्रकार से भोगता हैं। और दूसरा कर्मो के फलों को न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनो अनादि हैं।[2]

---

१. ऋग्वेद—१-१६४-२० ।। द्वा सुपर्णा········ ।

२. स०प्र०—अष्टा समुल्लास-पृष्ठ १३७ ।।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् भी कहती है कि लोहित, कृष्ण और शुक्ल (सत्वरजतमोगुणो) वर्णों की प्रकृति न उत्पन्न होने वाली है।[3]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।[1]

दयानन्द का मत है कि प्रकृति सत् है, और उसका विकार संसार भी सत् है। परिवर्तनशीलता उसका धर्म अवश्य है, किन्तु वह पारमार्थिक नित्य है। दयानन्द कहते हैं कि जो यथावत् उपलब्ध होता है। उसका वर्तमान में अनित्यत्व और परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता।[1] परिदृश्यमान अनित्यता वस्तुगत अनित्यता नहीं है प्रत्युत वह स्वरूपगत परिवर्तन मात्र है। इसी प्रकार यह जगत् अवास्तविक या भ्रमजनित मिथ्या नहीं है, प्रत्युत सत् है।

प्रश्न उठता है कि यदि यह सब जगत् नित्य है तो प्रलयावस्था में अपनी सत्तन क्यों नही रखता। उसके उत्तर में दयानन्द कहते हैं कि जगत् की सत्ता सब रहती है किन्तु अपनी सूक्ष्मता के कारण वह अप्रसिद्ध होकर अन्धकार में आवृत्त रहता है।[2] और उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था, न होगा। किन्तु वर्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त जानने के योग्य होता है और यथावत् उपलब्ध है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार सांख्य दर्शन की भांति प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वह अपने सूक्ष या कारण रूप में सत्वरजतमसोमयो है। सृष्टि पूर्व वे गुण साम्यवस्था में रहते हैं। अनन्तर परमात्मा प्रेरित विक्षोभो से उन गुणों में वैषर्म्य आता है। इस वैषम्य के आने से प्रकृति अपने प्रपंच के पंख फैलाने लगती है।

---

३. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां-श्वेता ४-५ ।।

१. स०प्र०-अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १४२ ।।

२. तम असीत्तमसा गूढमग्रे—ऋग्वेद्—१०-१२९-३।।

न्याय और वैशेषिक की उह मान्यता सत्कार्यपाद के अनुसार न होकर असत् कार्यवाद अनुसार है। सत्कार्यवाद के विरुद्ध कुछ भाष्यकार युक्तियां देते हैं यदि बीज में अंकुर पहिले से ही विद्यमाम है, तो उसकी उत्पत्ति कहना अनुचित ही होगा। क्योंकि उत्पत्ति से पूव जो वस्तु नहीं होती उन्हीं की उत्पत्ति देखी जा सकती है। परन्तु सांख्य इसका उत्तर यही देता है कि अव्यक्त से व्यक्त होने का नाम ही कार्य की उत्पत्ति है। हम भाष्यकारों के विवाद का विश्लेषण नहीं करना चाहते यह सत्यकार्यवाद और असत् कार्यवाद का शताब्दियों पूर्व का विवाद विभिन्न भाष्यकारों एवं टीकाकरों द्वारा प्रौढ़ तर्कों से प्रतिपादन हुआ है। ऋषि दयानन्द इन दोनों में समन्वय दिखाने का प्रयास करते हैं। उनका मत है कि मौलिक विचार धारा जो दोनों दर्शनों में उपलब्ध हैं, उसका कोई विशेष अन्तर नहीं होता अपितु व्याख्या के प्रकार में अधिक अन्तर प्रतीत होता है। न्याय-शास्त्र में एक सूत्र देखिये [1] (बीज का) नाश हुये विना (अंकुर की) उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति है। परन्तु दयानन्द सूत्र को पूर्वपक्ष को मानते हैं। इस सूत्र को यदि उत्तर पक्ष का माना जाय तो इसमें असत्कार्यवाद का प्रतिपादन है। परन्तु इनकी धारणा इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज में था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता।[2] इनके मत में यह सूत्र असत् कार्यवाद का पोषण नहीं करता जैसा कि कुछ मानते हैं। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि ऋषि ने अपने पक्ष का पोषण करने के लिये ऐसा अर्थ किया होगा परन्तु इसका उत्तर यह है कि श्री गंगानाथ झा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्या-भूषण, स्वामी तुलसीराम का भी यही मत है। यही नहीं अपितु न्याय दर्शन अभाव से भाव की उत्पत्ति का असंगत मानता हुआ इसका प्रत्याख्यान करता है। अगले सूत्र में कहा गया है कि यह

---

१. अभावत् भावोत्पत्तिर्नानपमृद्य प्रादुर्भावात् न्याय० ४।१०।१०॥

नोट-सत्यप्रकाश में ऋषि दयानन्द षड् दर्शनों में सृष्टि के छः अगो की व्याख्या करते हैं। स०प्र० पृष्ट २२२-२२३॥

२. स०प्र० पृष्ठ २१६॥

उचित नहीं कि अपितु व्याघात दोष है ।[3] इस सूत्र पर सतीशचन्द्र विद्याभूषण इसी भाव का प्रदर्शन करते हैं ।[4]

इस समीक्षा से यह प्रतीत होता है कि न्याय अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं मानता । इस समय के विद्वान् ही नहीं अपितु मुनि वात्स्यायन स्पष्ट रूप में अवयवों में अवयवी की उपस्थिति मानते हैं ।[1] वैशेषिक दर्शन पर भी यह आरोप लगाया जाता है परन्तु वैशेषिक तो स्पष्ट रूप में कारण को अभाव से कार्य का भी अभाव मानता है ।[2] वह तो कारण के गुणों को कार्य में स्वीकार करता है ।[3] वैशेषिक परमाणुवादी है तो सांख्य गुणवादी है । डा० राधाकृष्णन् को भी यही मत प्रतीत होता है कि दोनों वादों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । न्याय दर्शन के विषय में स्पष्ट कहते हैं न्याय यह तो मानता है कि पूर्व (द्रव्य पदार्थ) के पूर्ण विनाश से नवीन पदार्थ की उत्पत्ति असंभव है, परन्तु इससे खुलकर कहने को तैयार नहीं होता । इससे यही प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र के अनुसार द्रव्य अपनी पूर्वावस्था का परित्याग मात्र करता है ।[4] न्यायमंजरी का प्रणेता भी यही स्वीकार करता है कि हम नैयायिक यह नहीं मानते कि कोई वस्तु जिसका अभाव है । उत्पन्न हो जायेगी । हमारा कहना था कि जो उत्पन्न हुआ है उसका अभाव था ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्कार्यवाद और असत् कार्यवाद में कोई मौलिक विरोध नहीं है अपितु प्रक्रिया में अन्तर

---

३. व्याघात प्रयोग–न्याय० ४।१।१५।।

4. The veasoning put forward is unsound, as it invoives self contradition vatsyayan Bhashya ttanslated by Ganga Nath Jha.

१. न्याय० १।२।३७ पर वात्स्यायन भाष्य द्रष्टव्य ।

२. कारणाभावात् कार्याभावः -वैशेषिक सू० १।२।१।।

३. कारणगुणपूर्वकः कार्य गुणोदृष्टः –वही–२।१।२४।।

4. The Naiyayika concedes that–wich make the formation of new impossible. If follows that Naiyayika is not inclined to accept it openly–Indian philosophy. P. 48.

5. A History of Indian Philosophy–S.N. Dass Gupta–V.I.P. 320

है। ऋषि दयानन्द परमाणुवाद और सांख्यों के प्रकृतिवाद का समन्वय करने का प्रयास करते हैं, उनका मत है कि अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुण की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम् सूक्ष्म पृथक् पृथक् तत्वावयव विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म-सूक्ष्म बनते बनाते विचित्र सृष्टि कहलाती है।

महर्षि दयानन्द भी सांख्य की भाँति सृष्टि के क्रमिक उपादानों को चार विभागों में बांटते हैं :-

(१) अविकारिणी प्रकृति । (२) प्रकृति-विकृति–महत्तत्व और अंहकार और तन्मात्रायें प्रकृति भी हैं और विकृति भी। महतत्व त्रिगुणमयी प्रवृत्ति संभव होने विकृति हैं, किन्तु अहंकारोद्मासिका होने के कारण प्रकृति और शोडसक् (एकादश इन्द्रियों एवं पंचतन्मात्राओं) का उत्पादन होने के कारण विकृति भी है इसी प्रकार पंचतन्मात्रायें अहंकार प्रसूत होने के कारण प्रकृति भी है, इसी प्रकार पंचतन्मात्रायें अहंकार प्रसूत होने के कारण विकृति, किन्तु पंच स्थूलभूतों की उत्पादिका होने के कारण प्रकृति है। (३) विकृति-अहंकारोद्भूत एकादश इन्द्रियां केवल विकृति हैं। क्योंकि वे अन्य किसी पदार्थ के उत्पादिका होने के कारण प्रकृति की कोटि में नहीं आती है। (४) न प्रकृति न विकृति - जोव व ईश्वर न किसी की प्रकृति है और न किसी के विकार हैं, वे सर्वथा शुद्ध-सात्विक और निर्विकार हैं।

आचार्य रामानुज एवं महर्षि दयानन्द के द्वारा स्वीकृत-कार्यकारणवाद-

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही दार्शनिक कार्य से कारण को भिन्न मानने वाले असत्कार्यवाद को अस्वीकार करते हुए सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। सत्कार्यवाद की दो अवस्थायें हैं :—

१- विवर्तवाद-तत्व से अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते हैं।[1]

---

१. अतत्वतअन्यथा प्रथा विवृर्त इत्युदाहृत ॥

२- परिणाम का विकारवाद-तत्व की तात्विक परिणति को परिणाम कहते हैं ।[2]

अद्वैतवाद विवर्तवाद को स्वीकार करता है, उनके मत में समस्त जगत् अविद्योपहित ब्रह्म का विवर्त है । अतः वह मिथ्या है । एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य है ।

परिणामवाद में जगत् की सत्यता को स्वीकार किया गया है । कार्य अपने कारण में सत्य एवं यथार्थ ही होता है । रामानुज और दयानन्द दोनों ही परिणामवाद को स्वीकार करते हैं । दोनों ही दार्शनिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के उद्वाहक हैं ।

दोनों दार्शनिक तीन प्रकार के कारण स्वीकार करते हैं– (१) उपादान कारण, (२) निमित कारण (३) सहकारी कारण ।[1]

उपादान कारण उस कारण को कहते हैं जो कार्य रूप में परिणत होता है ।[2] अर्थात् जिसके विना कुछ न वने, वही अवस्थान्तर-रूप हो के बने और विगड़े भी ।[3] यथा–मिट्टी । निमित्तकारण उसे कहते हैं जो उपादान को कार्य रूप में परिणत करता है ।[4] सहकारी कारण या साधारण कारण उसे कहा जाता है जो (कार्य) बनाने में साधन और साधारण निमित हो ।[5] यथा दण्ड चक्र एवं तुरी वेमादि ।

---

२. सतत्वतअन्यथाविकार एत्युदीरितः ॥

१. (क) यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१ ॥
   (ख) सत्यार्थ प्रकाश–अष्टम समुल्लास-पृष्ट १३८ ॥

२. कार्यरूपेण विकारयोग्यं वस्तु उपादानम्–यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१॥

३. स०प्र०—अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८ ॥

४. (क) कार्यतयापरिणामयितु निमित्तम्—पृष्ठ ८१ ॥
   (ख) स०प्र० अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८ ॥

५. (क) कार्योत्युत्युपकरणं वस्तु सहकारी । यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१ ।
   (ख) स०प्र० अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८ ॥

है। ऋषि दयानन्द परमाणुवाद और सांख्यों के प्रकृतिवाद का समन्वय करने का प्रयास करते हैं, उनका मत है कि अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुण की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम् सूक्ष्म पृथक् पृथक् तत्वावयव विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म-सूक्ष्म बनते बनाते विचित्र सृष्टि कहलाती है।

महर्षि दयानन्द भी सांख्य की भाँति सृष्टि के क्रमिक उपादानों को चार विभागों में बांटते हैं :-

(१) अविकारिणी प्रकृति । (२) प्रकृति-विकृति–महत्तत्व और अंहकार और तन्मात्रायें प्रकृति भी हैं और विकृति भी। महत्तत्व त्रिगुणमयी प्रवृत्ति संभव होने विकृति हैं, किन्तु अहंकारोद्मासिका होने के कारण प्रकृति और शोडसक् (एकादश इन्द्रियों एवं पंचतन्मात्राओं) का उत्पादन होने के कारण विकृति भी है इसी प्रकार पंचतन्मात्रायें अहंकार प्रसूत होने के कारण प्रकृति भी है, इसी प्रकार पंचतन्मात्रायें अहंकार प्रसूत होने के कारण विकृति, किन्तु पंच स्थूलभूतों की उत्पादिका होने के कारण प्रकृति है। (३) विकृति-अहंकारोद्भूत एकादश इन्द्रियां केवल विकृति हैं। क्योंकि वे अन्य किसी पदार्थ के उत्पादिका होने के कारण प्रकृति की कोटि में नहीं आती है। (४) न प्रकृति न विकृति - जोव व ईश्वर न किसी की प्रकृति है और न किसी के विकार हैं, वे सर्वथा शुद्ध-सात्विक और निर्विकार हैं।

आचार्य रामानुज एवं महर्षि दयानन्द के द्वारा स्वीकृत-कार्यकारणवाद-

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही दार्शनिक कार्य से कारण को भिन्न मानने वाले असत्कार्यवाद को अस्वीकार करते हुए सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। सत्कार्यवाद की दो अवस्थायें हैं :—

१- विवर्तवाद-तत्व से अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते हैं।[1]

---

१. अतत्वतअन्यथा प्रथा विवृर्त इत्युदाहृत ॥

२- परिणाम का विकारवाद-तत्व की तात्विक परिणति को परिणाम कहते हैं।[2]

अद्वैतवाद विवर्तवाद को स्वीकार करता है, उनके मत में समस्त जगत् अविद्योपहित ब्रह्म का विवर्त है। अतः वह मिथ्या है। एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य है।

परिणामवाद में जगत् की सत्यता को स्वीकार किया गया है। कार्य अपने कारण में सत्य एवं यथार्थ ही होता है। रामानुज और दयानन्द दोनों ही परिणामवाद को स्वीकार करते हैं। दोनों ही दार्शनिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के उद्वाहक हैं।

दोनों दार्शनिक तीन प्रकार के कारण स्वीकार करते हैं–(१) उपादान कारण, (२) निर्मित कारण (३) सहकारी कारण।[1]

उपादान कारण उस कारण को कहते हैं जो कार्य रूप में परिणत होता है।[2] अर्थात् जिसके बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर-रूप हो के बने और बिगड़े भी।[3] यथा–मिट्टी। निमित्तकारण उसे कहते हैं जो उपादान को कार्य रूप में परिणत करता है।[4] सहकारी कारण या साधारण कारण उसे कहा जाता है जो (कार्य) बनाने में साधन और साधारण निर्मित हो।[5] यथा दण्ड चक्र एवं तुरी वेमादि।

---

२. सतत्वतअन्यथाविकार एत्युदीरितः॥

१. (क) यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१॥
   (ख) सत्यार्थ प्रकाश–अष्टम समुल्लास-पृष्ट १३८॥

२. कार्यरूपेण विकारयोग्यं वस्तु उपादानम्–यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१॥

३. स०प्र०—अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८॥

४. (क) कार्यतयापरिणामयितु निमित्तम्—पृष्ठ ८१॥
   (ख) स०प्र० अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८॥

५. (क) कार्योत्पत्युपकरणं वस्तु सहकारी। यतीन्द्रमत-पृष्ठ ८१।
   (ख) स०प्र० अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १३८॥

आचार्य रामानुज कारण में कार्य की पूर्ण सत्ता स्वीकार करते हैं। रामानुज के अनुसार औपनिषदिक वाक्य-एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानम्[6], की चरितार्थता संभव हो सकती है। जबकि हम कार्य और कारण के तादात्म्य को स्वीकार करें। यदि कारण और कार्य दोनों में पार्थक्य माना जायेगा तो हा कारक के ज्ञान के द्वारा कार्य का ज्ञान और कार्य दोनों में सफल हो जायेंगे। कोई भी मिट्टीपात्र जिसके बनने में मृत्तिका का धर्म या गुण परिवर्तित नहीं हुआ है, में मात्र उसके अवयवों में एक नयी अवस्था या रूप आया है। वस्तुतः उसमें मृत्तिकत्व सर्वथा विद्यमान है। क्योंकि मृत्तिका से निर्मित होने वाला कोई घट या शरावा आदि अन्य कोई नवीन पदार्थ न होकर मात्र मृत्तिका की ही नूतन अवस्था और आकृति है।[1] उनमें वही धर्म विद्यमान है, जो मृत्तिका में है। इसलिये मृत्तिका के जान लेने पर मृत्तिका-सम्भूत सभी रूपाकृति जानी जा सकती है। इसीलिए कहा गया है कि कारण के जानने पर तत्सम्भूत सभी कार्यों को जाना जा सकता हैं।

दयानन्द के अनुसार यह संभव ही नहीं कि विना कारण के कार्य हो जायें, और जब कार्य के लिये कारण की अपेक्षा है तो कारण में कार्य की पूर्व निहितता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यदि हम कहें कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है क्योंकि यदि हम बीज को तोड़कर देखें तो उसके अंकुर का उसमें सर्वथा अभाव होता है। किन्तु बाद में अंकुरण हो जाता है—इस शंका के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द का विचार है-जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था. जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता।[2] दयानन्द के कहने का अभिप्राय यह है कि कारण में कार्य का सूक्ष्म रूप में पहले से ही होता है। उसकी परिणति के लिये मात्र यथोचित साधनों (निमित्त एवं सहकारी साधनों) की आवश्यकता होती है। जैसे

६. छान्दोग्योपनिषद् ।।

१. यथामृद-उत्पन्न घटादिकं मृदात्मकम्—वेदार्थ संग्रह-पृष्ठ ५९ ।।

२. स०प्र०—अष्टम समुल्लास—पृष्ठ १४२ ।।

कारण रूप मिट्टी में घटोत्पादन-क्षमता पूर्व रूप से ही विद्यमान है, किन्तु कार्य रूप घट की परिणति तब तक संभव नहीं है जब तक की निमित्त कारण रूप कुम्भकार प्रयास न करें। जो कार्य की उत्पत्ति और विनाश कहा जाता है, वस्तुतः पारमार्थिक रूप से वह परिणति और निलय ही है। दयानन्द भी रामानुज की भाँति यह स्वीकार करते हैं कि जैसे कारण के गुण होते हैं वैसे ही कार्य में होते हैं।[1]

किन्तु आचार्य रामानुज सांख्यवत् कार्य को अभिव्यक्त नहीं मानते। प्रत्युत वे कार्य कारण भूत द्रव्य का अवस्था परिणाम कहते हैं।[2] इस सिद्धान्तानुसार उपादान कारण के विभिन्न अवयव एक दूसरे में मिल जाते हैं; उनका स्वरूप एक नया हो जाता है। अतः वे एक नये संस्थान की उत्पत्ति करते हैं, जिसे परिणाम कहते हैं। यदि कारण एवं परिणाम (कार्य) की एकता को स्वीकार न किया जाये तो प्रत्येक वस्तु को किसी भी अन्य वस्तु का उपादान कारण माना जा सकता है। जैसा कि अभी कहा रामानुज भी मानते हैं कि कार्य का अपना एक विशिष्ठ उपादान होता है। मात्र उस उपादान में ही उस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता हुआ करती है।[3] जैसे घटोत्पादक सामर्थ्य मात्र तदुपादानभूत तन्तुओं में ही है, मृत्तिका पट उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि वह उसका उपादान कारण नहीं है।

इस प्रकार देखा गया कि रामानुज के मत कार्य का वास्तविक तात्पर्य कारणभूत पदार्थ की विशेषताओं और अवस्थाओं में परिवर्तन है अर्थात् कार्य-कारण द्रव्य की अवस्था के ही नाम हैं। मृत्तिका, स्वर्ण आदि का आकार-विशेष को धारण करना ही कारणरूप बुद्धि का कार्य रूप प्रतीति है। अतः कार्य और कारण भिन्न-भिन्न शब्दों से हो जाते हैं। जैसा कि एक ही देवकत्व की

१. स०प्र०—तृतीय समुल्लास-पृष्ठ ४७॥

२. (क) अवस्थान्तरापत्तिरेवहि कार्यता। गीता-रामानुज भाष्य-१३-२
(ख) एकमैव कारणभूतं द्रव्यप्रवस्थान्तरयोगेन कार्यमित्यध्यते—वे०सं० पृष्ठ ५६॥

३. यत्कार्योत्कादानं शक्तं यत् कारणम्-श्री भाष्य-२-१-१५॥

विभिन्न अवस्थाओं के लिए शैशव, यौवन, पार्थक्यादि भिन्न-भिन्न बुद्धि और भिन्न-भिन्न शब्दों का, प्रयोग किया जाता है ।[4]

रामानुज के अनुसार आकार विशेष को प्राप्त होना उत्पत्ति और आकार विशेष का विनष्ट होकर कारण रूप हो जाना विनाश कहलाता है ।[1] अभिप्राय है कि दोनों को विशेष अवस्थाओं के नाम हैं ।

यहां यह ध्यातव्य है कि दयानन्द भी रामानुज की भांति अवस्था परिणाम" को ही कार्य मानते हैं । जैसा कि उनके उपादान कारण के लक्षण से स्पष्ट रूप से द्योतित हो रहा है-"वही अवस्था-अन्तर रूप होके बने" ।

आचार्य रामानुज सृष्टि प्रक्रिया में परमात्मा को ही उपादान और निमित्त कारण मानते हैं ।[2] उनके मतानुसार प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था में परमात्मा को ही आश्रय बनाकर रहती है । अतः यह परमात्मा का स्वगतभेदभूत प्रकार या शरीर या विशेषण हैं । उनके अनुसार विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । गुणी गुण नहीं होता और गुण गुणी । अर्थात् गुणवान पदार्थ से भिन्न होता है । इस प्रकार प्रकारी में भेद है, ये तादात्म्य सम्बन्ध की अपेक्षा गुण-गुणी या विशेषण-विशेष में सामान्याधि-करण मानते हुए परस्पर अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं । इसलिये प्रकृति ईश्वर से भिन्न भी है और विशेषण रूप में अभिन्न भी । इनको पारस्परिक अभिन्नता की परमात्मा को उपादान कारण प्रमाणित करती है और भिन्नता से परमात्मा अपने संकल्प के द्वारा

---

४. तस्यैवमृद्हिरन्यादेः द्रव्यस्य संस्थानान्तरभावकत्वमात्रेण बुद्धिः शब्दान्तरादय उपपद्यते, अर्थस्येव देवदत्तस्यावस्थाभेदेः जातः यथा स्थविर इति-श्रीभाष्य-२-१-१५।।

१. द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः । स्वावस्थस्य तूत्पत्तिः-पूर्वोक्तैव- ।।

२. पूर्वोक्तैव-१-४-२१ ।।

निमित्त कारण वनकर सृष्टि करता है। उसके ज्ञान-शक्ति आदि गुण तुरी-वैभक्ति जगत् सृष्टि में सहकारी कारण वनते हैं। उस प्रकार परमात्मा ही उपादान और निमित कारण है। इस विशेषण-विशेष्य या प्रकार-प्रकारीभूत सम्बन्ध की वाथार्थिक भिन्नाभिन्नता के कारण परमात्मा में कोई विकृति नहीं आती।[3]

दयानन्द प्रकृति को अपने मूल रूप में पूर्ण और सर्वथा सत्य अनादि तत्व मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति स्वतन्त्र, उपादान कारण है-मृत्तिकावत्। और सब सृष्टि को कारण से वनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने रखाने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा है।[1] प्रकृति क्योंकि जड़ है, अत: वह अपने आप और विगड़ सकती है किन्तु दूसरे के वनाने से वनती हैं और विगड़ने से और विगड़ती है।[2] ज्ञान, दर्शन, वल, हाथ और नाना प्रकार के साधन आदि और दिशा, काल और आकाश साधारण कारण हैं।[3]

जैसा कि अभी कहा गया कि कि प्रकृति जड़ है उसमें सक्रियत्वका सर्वथा अभाव होता है। अत: उसे किसी अन्य कर्त्ता की अपेक्षा होती है. जो चेतन हो, क्योंकि विना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रिया जन्य पदार्थ नहीं वन सकता। अतः अनन्त ज्ञान एवं अतुल्य सामर्थ्य के कारण एकमात्र ईश्वर ही उसका कर्त्ता वन सकता है।

परमात्मा को उपादान कारण मानने के प्रस्ताव को दयानन्द अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि-"यदि पुरुष को शक्ति का योग हो तो पुरुष में संगापत्ति हो जाये अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से

---

३. अत: प्रकृति प्रकारसंस्थिति परमात्मनि प्रकारभूतप्रकृत्यशे विकार: प्रकायांशे स्वीकार: (वेदार्थ संग्रह)।।

१. स०प्र० अष्टम समुल्लास-पृष्ठ १३८।।
२. पूर्वोक्तैव-पृष्ठ १३८-३९।।
३. पूर्वोक्तैव-पृष्ठ १३८-३९।।

मिलकर कार्यरूप में संगत हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय।[4] इसके अतिरिक्त सांख्यसूत्र के आधार पर परमात्मा के उपादान कारणभूत की अनुपपत्ति का कथन करते हुए कहते हैं कि "सत्तामात्रत्त्वैत्सर्वेश्वयम्" जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा ईश्वर समग्रैऐश्वर्ययुक्त है. वैसा संसार में भी सर्वेश्वर्य होना चाहिए, जो कि नहीं है।[5]

षष्ठ अध्याय

ख्यातिवाद

भ्रम की स्थिति में दार्शनिकों के मध्य मतभेद हैं। जैसे परम सत्ता के विषय में दार्शनिकों में मतभेद है। सत्ता सम्बन्धी अपनी-अपनी मान्यता के साथ भ्रमस्थल में सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक है। प्राचीन आचार्यों ने पांच ख्यातियो का उल्लेख किया है।

१. असत् ख्याति—शून्यवादी बौद्धों का मत है।
२. आत्मख्याति—विज्ञानवादी बौद्धों का मत।
३. अख्याति—मीमांसक प्रभाकर मत।
४. अनिवर्चनीय ख्याति—अद्वैत वेदान्त।
५. अन्यथा ख्याति—न्याय का मत।

इष्ट सिद्धिकार विमुक्तात्मुनि ने इष्ट सिद्धि में संक्षेप ख्याति तीन प्रकार की मानी है (१) सत् ख्याति (२) असत् ख्याति एवं (३) सदसदनिर्वचनीय ख्याति।

भास सर्वज्ञ ने न्यायभूषण में अष्ट ख्यातियों का उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार यह ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से यथार्थवाद की समस्या भ्रमस्थल की व्याख्या से ख्यातियों में से किस के अनुसार माना जाय, यह प्रश्न उठता है। इन ख्यातियों में अधिक प्रसिद्ध ६ ख्याति मानी जाती है। संक्षिप्त रूप में—१. आत्मख्याति-बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त वाह्यपदार्थ नहीं हैं। जो कुछ भी हमें दृष्टिगोचर होता है वह चित्तिमात्र है। वाह्य रूप में असत् है। विज्ञानवादी इसलिये आत्माख्यातिवादी हैं। आत्मा शब्द का अर्थ यहां विज्ञान अर्थ है सौत्रान्तिक और वैभाषिक भी आत्म-ख्यातिवादी हैं। वैभाषिक मत वाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष है। सौत्रान्तिक

पक्ष में अनुमेय । अतः ये दोनों भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोग्य वस्तु ज्ञानकार मानते हैं ।[1]

विज्ञानवादी बौद्धों आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्द बोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत से बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं ?[2] माधवाचार्य ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी दृष्टिकोण को बतलाया है, शुक्ति रजत विज्ञान रूप है । विभ्रमित रजत बुद्धिरूप है । क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है । जैसा कि बुद्धि ।[3] वास्तव में विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप में हमारे ज्ञान में दिखाई देती है, वह वस्तु उसी रूप में यह ज्ञान का साधारण नियम है । जहां पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है अर्थात् किसी प्रबल बाधक प्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बोध हो जाता है तब वह भ्रमसिद्ध होता है ।[4] अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी बाधित विषय ज्ञान भ्रम है । यह रजत है इस ज्ञान के पश्चात् यह रजत नहीं है, इस बाधक प्रत्यय से पूर्वोक्तज्ञान यह रजत हैं भ्रम सिद्ध होता है ।[5]

बौद्ध विज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद को यथार्थवादी दार्शनिक ने तो स्वीकार नहीं किया है, प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियों ने

---

१. (क) अख्याति माध्यमिक (ख) असत् ख्याति माध्यमिक एकदेसी । (ग) प्रसिद्धार्थ ख्याति–चार्वाक (घ) अलोकिकार्थ ख्याति–भट्टोम्बेक (ङ) स्मृतिविप्रमोषख्याति प्रभाकर (च) आत्मख्याति–सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार (छ) सदसत्वाद्यनिर्वचीय-ख्याति–अद्वैत वेदान्त (ज) विपरीत ख्याति-न्याय ॥

१. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल-पृष्ठ २६ ।

२. के चितुज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासोविभ्रमइत्याहुः–न्यातमकरन्द-पृष्ठ ६६ ॥

३. विवरणप्रमेय संग्रह-पृष्ठ १२३–विद्यारण्यमुनि अच्युत ग्रंथमाला १६६६ ॥

४. न्याय मकरन्द पृष्ठ ६६ ॥

५. वही ॥

भी इसका खण्डन किया है। इस रूप में अद्वैत वेदान्ती यथार्थवादी दार्शनिकों के साथ हैं क्योंकि प्रत्ययवादी विश्व प्रपंच को अलीक नहीं मानते हैं। इस प्रकार वे अनेक तर्कों द्वारा आत्मख्यातिवाद का खण्डन करते हैं। भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से इनसे प्रश्न किया है कि "इदं रजतं" इस भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है। इसमें प्रश्न यह उठता है किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म सिद्ध करते हैं, प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा "इदं रजतम्" इस ज्ञान में सामने अवस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है। न कि आन्तर विज्ञान का।[1] प्रत्यक्ष द्वारा यदि रजत को ज्ञान का आकार जाना जाता, तो यह रजत अनुभव न होकर मैं रजत ऐसा अनुभव होता, क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार मैं भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं।[2] इसलिए रजत जब ज्ञान में अवभासित होता है, तब इदन्ता करके अन्तर बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता है। इनके अनुसार भ्रम और प्रभा के अन्तर ही नहीं हो सकेगा।

असत् ख्याति :-

शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपंच को एवं विज्ञान को भी असत् कहते हैं। माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[3] भ्रमस्थल में भी भ्रमाधिष्ठान शुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत् भी असत् है। शुक्ति रजत् भ्रम अत्यन्त असत् रजत् की प्रतीति होती है। न्याय मकरन्द कार ने कहा है—शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असत् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।[1] न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदान्त के दर्शन ग्रंथों में माध्यमिक को शून्य या असद्वादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन

---

१. सहीकारास्पदं रजतमावेदयति, नत्वान्तरम्-भामती-पृष्ठ २६-२७॥
२. अहमिति हि तदास्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात् ॥
३. सर्वदर्शन संग्रह-बौद्ध दर्शन-पृष्ठ ६३-चौखम्बा-१९६४-भामती और कल्पतरू ॥
१. अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते न्यायमकरन्द पृ० १०२।

पक्ष में अनुमेय । अतः ये दोनों भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोग्य वस्तु ज्ञानकार मानते हैं ।[1]

विज्ञानवादी बौद्धों आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्द बोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत से बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं ?[2] माधवाचार्य ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी दृष्टिकोण को बतलाया है, शुक्ति रजत विज्ञान रूप है। विभ्रमित रजत बुद्धिरूप है। क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है। जैसा कि बुद्धि ।[3] वास्तव में विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप में हमारे ज्ञान में दिखाई देती है, वह वस्तु उसी रूप में यह ज्ञान का साधारण नियम है। जहां पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है अर्थात् किसी प्रबल बाधक प्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बोध हो जाता है तब वह भ्रमसिद्ध होता है ।[4] अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी बाधित विषय ज्ञान भ्रम है। यह रजत है इस ज्ञान के पश्चात् यह रजत नहीं है, इस बाधक प्रत्यय से पूर्वोक्तज्ञान यह रजत हैं भ्रम सिद्ध होता है ।[5]

बौद्ध विज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद को यथार्थवादी दार्शनिक ने तो स्वीकार नहीं किया है, प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियों ने

---

१. (क) अख्याति माध्यमिक (ख) असत् ख्याति माध्यमिक एकदेसी। (ग) प्रसिद्धार्थ ख्याति–चार्वाक (घ) अलौकिकार्थ ख्याति–भट्टोम्वेक (ङ) स्मृतिविप्रमोषख्याति प्रभाकर (च) आत्मख्याति-सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार (छ) सदसत्वाद्यनिर्वचीय-ख्याति-अद्वैत वेदान्त (ज) विपरीत ख्याति-न्याय ॥

१. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल-पृष्ठ २६ ।

२. के चितुज्ञानाकारस्यैव वहिरवभासोविभ्रमइत्याहुः–न्यातमकरन्द-पृष्ठ ९९ ॥

३. विवरणप्रमेय संग्रह-पृष्ठ १२३–विद्यारण्यमुनि अच्युत ग्रंथमाला १९६९ ॥

४. न्याय मकरन्द पृष्ठ ९९ ॥

५. वही ॥

भी इसका खण्डन किया है। इस रूप में अद्वैत वेदान्ती यथार्थवादी दार्शनिकों के साथ हैं क्योंकि प्रत्ययवादी विश्व प्रपंच को अलीक नहीं मानते हैं। इस प्रकार वे अनेक तर्कों द्वारा आत्मख्यातिवाद का खण्डन करते हैं। भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से इनसे प्रश्न किया है कि "इदं रजतं" इस भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है। इसमें प्रश्न यह उठता है किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म सिद्ध करते हैं, प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा "इदं रजतम्" इस ज्ञान में सामने अवस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है। न कि आन्तर विज्ञान का।[1] प्रत्यक्ष द्वारा यदि रजत को ज्ञान का आकार जाना जाता, तो यह रजत अनुभव न होकर मैं रजत ऐसा अनुभव होता, क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार मै भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं।[2] इसलिए रजत जब ज्ञान में अवभासित होता है, तब इदत्ता करके अन्तर बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता है। इनके अनुसार भ्रम और प्रभा के अन्तर ही नहीं हो सकेगा।

असत् ख्याति :-

शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपंच को एवं विज्ञान को भी असत् कहते हैं। माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[3] भ्रमस्थल में भी भ्रमाधिष्ठान शुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत् भी असत् है। शुक्ति रजत् भ्रम अत्यन्त असत् रजत् की प्रतीति होती है। न्याय मकरन्द कार ने कहा है—शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असत् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।[1] न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, वेदान्त के दर्शन ग्रंथों में माध्यमिक को शून्य या असद्वादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन

१. सहोकारास्पदं रजतमावेदयति, नत्वान्तरम्-भामती-पृष्ठ २६-२७॥
२. अहमिति हि तदास्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात् ॥
३. सर्वदर्शन संग्रह-बौद्ध दर्शन-पृष्ठ ६३-चौखम्वा-१९६४-भामती और कल्पतरू ॥

१. अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते न्यायमकरन्द पृ० १०२।

शून्य को माध्यमिक कारिका में कहीं-कहीं अलोक श्शृ के समान निःस्वभाव कहा है।[3]

इसका खण्डन भी न्याय वैशेषिक और अद्वैतवेदान्तियों ने स्पष्ट किया है। जयन्त भट्ट ने असत् ख्याति के लिये दो विकल्प करके प्रश्न किया है कि असत् ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर में स्थित, यहां पर भ्रमस्थल में असत् की ख्याति एकान्त असत् की ख्याति असंभव है क्योंकि आकाश कुसुम की ख्याति नहीं देखी गई। देशान्तर में स्थित रजत् की ख्याति मानने पर विपरीत ख्याति ही होगी न कि असत् ख्याति।[3] अद्वैत वेदान्ती भी इसका प्रत्याख्यान करते हैं, असत् का अर्थ सत्ता शून्य है। इसको प्रतीति नहीं हो सकती यदि असत् की प्रतीति होती है तो वह सदात्मना प्रतीत होता है या असदात्मना असत् आत्मना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि नितान्त अभाव वाले असत् का ज्ञान संभव नहीं हो सकता, और सदात्मना ज्ञान होने पर सत्ख्याति होगी।[4] इसके अनुसार भी एक को भ्रम और अन्यों को प्रमा कहने की कसौटी ही नहीं रहेगी। अतः यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता।

अख्यातिवाद :-

मीमांसक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। कालिक नाथ ने प्रकरण पंजिका में प्रभाकर मत के ज्ञान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है सभी ज्ञान यथार्थ हैं।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार "इदं रजतम्" इसके पश्चात् जो "नेदं रजतम्" इस प्रकार इदं और रजत् का निषेध नहीं होता है। अपितु रजत् के साथ इदं के असम्बन्ध के ज्ञान

---

२. आकाशं शश्शृगं च वन्ध्याया: पुत्र एव च।
 असन्तश्याभिव्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पना–भा०सं०पी०एल० वैद्य।।

३. न्याय मंजरी–प्रमाण प्रकरण–पृष्ठ १६४ ।।

४. इष्टसिद्धि पृ० ११६ ।।

१. यथार्थ सर्वमेतेह विज्ञानम्–प्रकरणपंजिका- ४।१ - शालिकनाथ चौखम्बा १६०३ ।।

न होने के कारण यह रजत् है इस प्रकार शब्दादि प्रयोग रूम व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[2] इनका कहना है कि भ्रमवादी जो शुक्ति का में रजत् का आरोप मानते हैं, वह समीचीन नहीं है क्योंकि उक्त शुक्ति का रजत् भ्रमस्थल में रजत् का आलम्बन शुक्ति का नहीं हो सकती। ऐसा होने पर स्वानुभव विरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत् का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं, उनसे ये लोग पूछते हैं कि "आलम्बन से भ्रमवादियों का क्या अभिप्रायः है क्या जिसकी सत्ता है वह वस्तु ज्ञान का आलम्बन है ? ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष होगा। संसार में सत् वस्तु जहां भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी अर्थात् शुक्ति का रजत् का आलम्दन घट भी होगा। घट भी सत् है। कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का आलम्बन होगी। यदि भ्रमवादी इदं को कारणत्वेन रजत् ज्ञान का विषय मानते हैं तो भी समीचीन नहीं है, ज्ञान का कारण इन्द्रियां भी होती हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रियां भी कारण हैं अतः इन्द्रियां भी रजत् ज्ञान का विषय क्यों न हों ? यदि कहा जाय कि ज्ञान भासमानत्व ही ज्ञान का आलम्बनत्व है। तब तो शुक्ति रजत् ज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती। "इदं रजतम् में शुक्ति रजतम्" की प्रतीति तो होती नहीं अर्थात् शुक्ति भासती नहीं है, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[3] उक्त भ्रमस्थल में 'रजत' इस प्रकार का अनुभव होता है। शुक्ति ऐसा नहीं होता, अतः अनुभव का विरोध होगा, चक्षुरादि इन्द्रियां यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होती है न कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने में। दुष्टेन्द्रियां भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि दोष से दूषित होने पर भी केवड़े का बीज वट के अंकुर को उत्पन्न करने समर्थ नहीं हो सकता इसी कारण यह मानना पड़ेगा कि कारणगत दोष कारण में कार्य जनशक्ति को ही व्याहत

---

२. नचैष रजतस्य निषेधः, न चेदन्तायाः, किन्तु विवेकाग्रहप्रसंजितस्य रजतमिति रजतव्यवहारस्य-भामती-पृष्ठ २६ ॥

३. न हिरजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तं, अनुभव विरोधात् न खलु सत्तामात्रेणालम्बनम् अति प्रसंगात्······इत्यादि ॥ भामती-पृष्ठ २७ ॥

करते हैं, कारण में नये कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति को उत्पन्न नहीं करते ।[1]

इसलिये मीमांसाओं के अनुसार 'इदं रजतम्" यहां इदं का प्रत्यक्ष भी सत्य ज्ञान है और रजतम् की स्मृति भी सत्य ज्ञान है। दोनों एक जातीय ज्ञान न होकर, दो प्रकार के ज्ञान हैं। इन दो प्रकार के ज्ञानों का जातिगत, अकारणगत एवं विषयगत पार्थक्य है। भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। भ्रान्त व्यक्ति के लिये दोनों ज्ञानों की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं होती, अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में प्रतीति होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है। इदं रजतम् एवं प्रकार से इदं रजत् में अभेद उपलब्धि करके भ्रान्त व्यक्ति उसे उठाने के लिये दौड़ता है। इस ज्ञान को वह रजत् थे, रजत् के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सत्य समझ बैठता है। अख्याति-वादी सभी ज्ञान यथार्थ है। इसके समर्थन में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करते हैं, यह रजत् है, इत्याकारक व्यवहार का कारणी ज्ञान होता हैं, वही यथार्थ होता है जैसे उभयवादी समस्त घटादि का ज्ञान (उदाहरण) उक्त भ्रमस्थल ज्ञान में भी ज्ञानत्व (उपनय) अतः यह रजत् इत्याकार व्यवहार का कारणीभूत यथार्थ है (निगमन)।

अनिवर्चनीय ख्याति :-

अद्वैत वेदान्ती भ्रम की व्याख्या अनिवर्चनीय ख्याति करते हैं। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है कि अन्तःकरण वृत्ति कुल्यात्मना वहिर्देश को जाकर अन्तःकरण और विषय दोनों को संबंधित करती है।[1] उक्त प्रकार से वृत्ति के वहिर्गमन एवं विषयाकार परिणति से

---

१. भामती—पृष्ट २७ ॥

२. रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं किन्तु दे एतै विज्ञाने—प्रकरण पत्रिका-पृष्ठ ४३ ॥

३. तथार्था. सर्वे विप्रतिपन्ना: सन्देहविभ्रमा: प्रत्ययत्वात्-सर्वदर्शन संग्रह-पृष्ठ ८२३ ॥

१. वेदान्तपरिभाषा-पृष्ठ २३-धर्मराज ध्वरीन्द्र सर्वदर्शन चौखम्बा सं० सी० वनारस - सं० २०११ ।

ही विषय का अनावरण भंग होता है। तभी विषय ज्ञात होता है। किन्तु जब रज्जु में सर्प भ्रमस्थल में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बहिर्गमन करके रज्जु देश में पहुंचकर तिमिरादि दोष के कारण रज्जुगत अज्ञानावरण भंग करने में समर्थ नहीं हो पाती।[2]

चित्तसुखाचार्य ने कहा है कि सत्य असत्व रूप से जिसका विचार संभव नहीं, दोनों कोटियों को मिलाकर भी विचार जिसका संभव नहीं वह अनिर्वाच्य है।[3] सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही होते हैं।[4] संक्षिप्त रूप में यह देखा कि अनिर्वाच्य क्या है। इसके जान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि अनिवर्चनीय ख्याति क्या है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिवर्चनीय ख्याति का अर्थ दो प्रकार से है। प्रथम अनिवर्चनीय की ख्याति अर्थात् अनिवर्चनीय वस्तु का ज्ञान। अद्वैत मतानुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुयें अनिवर्चनीय हैं, जगत् की अनिवर्चनीय व्याख्या के लिये भ्रमस्थलीय रजत् की अनिवर्चनीयता की सिद्धि करनी है। क्योंकि दृष्टान्त रूप में प्रतिभासिक वस्तु को ही लिया जा सकता है। इस मत के अनुसार भ्रमस्थलीय शुक्ति रजत् असत् नहीं है क्योंकि उसकी प्रतीति 'इदं रजतम्'' इस प्रकार होती हैं। असत् का अर्थ अद्वैत वेदान्त के अनुसार अलीक है। जो कि आकाश कुसुमादि है। आकाश कुसुमादि की प्रतीति इदं रूप से कदापि कभी भी नहीं हो सकती है। ''वन्ध्यासुतोऽस्ति'' वन्ध्या का पुत्र, और वन्ध्या का पुत्र जाता है। ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक होना चाहिए तभी तात्विक होंगे। इसी प्रकार भ्रमस्थलीय रजत् सत् भी नहीं हैं क्योंकि सत्व त्रिकालाबाध्यत्व हैं। भ्रमस्थलीय रजत् की उत्पत्ति शुक्ति विषयक अज्ञान से हुई है और शुक्ति विषयक ज्ञान से उसका उत्तरवर्ती क्षण में ''नेदं रजत्'' यह रजत नहीं है, करके बाध हो जाता है। अद्वैत के अनुसार जिसका

---

२. सिद्धान्तलेशसंग्रह–पृष्ठ २१५ ।।

३. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः। तत्वप्रदीपिका-७९ ।।

४. सत्वेवासत्वेन च विचार सहत्वे सति सदसत्वे च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम् वही ।।

वाध होता वह सत् नहीं है। अतः सत् नहीं है, असत् नहीं है तब तो भ्रमस्थलीय रजत् अनिर्वचनीय है।[1] अनिर्वचनीय ख्याति की समीक्षा आगे की जायेगी।

अन्यथा ख्याति :-

भ्रम को न्याय दर्शन में विपर्यय कहा है। विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—विपरीतार्थ निश्चय या जहां पर नहीं वहाँ उसको समझना ही विपर्यय है।[2] नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथा ख्याति द्वारा की है। उनके स्थान भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है। आचार्य शंकर ने नैयायिको के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुए अध्यास भाष्य में कहा है जहाँ पर शुक्ति आधार में जिस रजत् का अध्यास होता है उसी शुक्ति के विपरीत धर्म कल्पना करना ही अध्यास है।[3] न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजत् ज्ञान होता है, वह केवल शुक्ति ज्ञान नहीं है और न केवल रजत् ज्ञान ही है। यहां पर इन दोनों से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य "इदं रजतम्" में से "इदमंश" और "विशेषण रजतम् है। इसी को न्याय मत में भ्रमज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार का भ्रम ज्ञान प्रथम चाक् चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है दोनों के रहने के कारण उक्त चाकचिक्य युक्त वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का ग्रहण नहीं हो पाता। इसके वाद रजत् और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्य ज्ञान रजत स्मृति को उत्पन्न कर देता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत् के पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्य सम्वन्ध दोष के साथ गृहीत रजत् है। उस सत्य रजत् के समान इष्ट साधनना ज्ञान होने लगता है। अर्थात् उस

१. भामती एवं वेदान्त कल्पतरूपरिगल-पृष्ठ २३-२४-इष्टसिद्धि-पृष्ठ ३९ ॥
२. मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः - न्याय भूषण - पृष्ठ २५ ॥
३. यत्र यदध्यासस्त स्यैव विपरीत धर्मत्व कल्पनामाचक्षते वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम का लक्षण न्याय के अनुसार है-अध्यास भाष्य ॥

रजत् के पाने पर "मुझे लाभ होगा" ऐसा ज्ञान होता है। इसके पश्चात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है।[1] इस ज्ञान में पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत दोनों ही सत्य वस्तुयें है। एकमात्र तादात्म्य संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर में आरोपित है।[2] अब प्रश्न यह होता है कि भ्रमस्थल में रजत को प्रत्यक्ष कर रहा हूं। इस प्रकार अनुभव होता हैं एन्द्रियक प्रत्यक्ष के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होता हैं। जैसे घट को देखता हूं मैं घट के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है। तभी घट प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि शुक्ति रजत प्रत्यक्ष होता है तो उसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो है नहीं क्योंकि रजत सामने नहीं है। फिर रजत का प्रत्यक्ष कैसे होता है। इसके समाधान में नैयायिकों ने ज्ञान लक्षण नामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। क्योंकि ये लोग प्रत्यक्ष के लिये सन्निकर्ष आवश्यक मानते हैं। भ्रमस्थल में भ्रम उसी को होता है जिसने पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी वस्तु संस्कार के रूप में आत्मा में आती है। जब तत्सदृश कोई वस्तु सामने आती है और उसका विशेष धर्म सहित ज्ञान नहीं हो पाता। किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है। उस समय में आत्मा में स्थित संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्वदृष्ट वर्तमान में स्मर्यमाण वस्तु वस्तु का स्मृति रूप एक प्रकार से सम्बन्ध, मन के साथ होता है। उसके बाद उस सम्बन्ध युक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इसको न्याय की भाषा में स्वसंयुक्त मनोजन्य-स्मृति विषय तत्त्व स्वरूप सम्बन्ध कहा जाता है। ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से "इदं रजतम्" में भी सुरभिचन्दनम् के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन से संयुक्त चक्षु

---

१. न्याय मकरन्द पृष्ठ ८१-८२॥

२. न्याय मतानुसार किसी भी सविकल्पक ज्ञान में ये तीन भाग होते हैं-विशेष्य, विशेषण (प्रकार), संसर्ग (सम्बन्ध) जैसे घटवत् भूतलम् इसमें भूतल विशेष्य घट विशेषण या प्रकार और दोनों में जो संयोग सम्बन्ध है वह संसर्ग है।

इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष होता है। यह विपर्यय इसलिए है कि क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ-ज्ञान को कहा गया है। यथार्थज्ञान का अर्थ है यथार्थ रजत में इदं रजतम् का ज्ञान,[1] क्योंकि उसमें रजत विशेष्य में रजत्व वाला रजत का ज्ञान होता है किन्तु भ्रमस्थल में शुक्ति रजत्व वाला ज्ञान होता है, इसलिए यह भ्रम है तदभाववति तत्वकारक ज्ञान को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है। प्रमा ज्ञान के लिए शुक्तित्व वाला ज्ञान होना चाहिए, अतः जहां रजतभाव है, वहां शुक्ति में रजत्व प्रकार का ज्ञान विपर्यय है। उक्त प्रकार ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष में जब भ्रमस्थल में इदं रजतम् इस प्रकार रजत का प्रत्यक्ष होता है। तब पूर्वानुभूत रजत में इष्ट साधनता का स्मरण होता है अर्थात् रजत वो कार्य की वस्तु है, स्मरण हो जाता है। साथ में इदं में अभिन्य रूप से इष्ट रजत का भी इष्टसाधनत्व अनुमित होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि नैयायिक दार्शनिक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि शुक्ति में रजत का भ्रम, रजत का सर्वत्र अभिभाव सिद्ध नहीं करता अपितु वह अन्यत्र विद्यमान होने से एवं अनेकों बार देखने का ज्ञान हमारे मन में है, जब हम रजत सादृश्य शुक्ति को दूर से देखने से स्मृति ज्ञान में जो रजत ज्ञान है वह ज्ञान लक्षणा के द्वारा "इदं रजतम्" का भ्रमित ज्ञान हो जाता है।

सदसख्याति सांख्य :-

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्यों ने भ्रम की व्याख्या में सद-सत्ख्याति का समर्थन किया है।[1] इन साँख्य आचार्यों के अनुसार "इदं रजतम्" इस प्रकार भ्रम ज्ञान के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्षुद्दोष के कारण शुक्तित्वरूप विशेष धर्म की प्रतीति न होने के कारण इदं रूप से शुक्ति का जो ज्ञान होता है, वह प्रमा ज्ञान है। क्योंकि वह ज्ञान सत्य वस्तु का ज्ञान है। अतः ज्ञान भासत्व है। रजत ज्ञान सत्य नहीं है, क्योंकि इदं में ज्ञान अनुपस्थित है। जो वहां अनुपस्थित होता है, उसका वहां पर ज्ञान

१. तर्कसंग्रह-पृष्ठ १५-१६-अन्यं भट्ट, मुरादाबाद-सं० १६०७॥

सत्य नहीं हो शकता । रजत ज्ञान असत्य का ज्ञान होने के कारण असत् है। भ्रमस्थल में सर्वत्र यही दशा है । यदि कहा जाय कि सदसत् एकाधिकरण में दोनों कैसे रह सकते हैं। इसके उत्तर में विज्ञान भिक्षु का कहना है कि वैसे स्फटिक लौहित्य में बिमबात्मना लौहित्य सत्य होता है और स्फटिक प्रतिबिम्बात्मना असत् होता है वैसे यहां पर सम्भव है। जिस प्रकार रजत दुकान में स्थित सत् और शूक्तय ध्वस्तरूप से असत् है[2] उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् भी स्वरूपतः सत् और चेतन्याध्वस्तरूप से असत् है।[3]

रामानुजाचार्य से अनुसार सत्ख्यातिवाद :-

रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं । उनके अनुसार समस्त जगत् सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं होता, ज्ञान सदैव सत्य का होता है।[1] और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है। यह उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही प्रतिफलन है। रामानुज सत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनका कहना है कि त्रिवृत्करण और पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध है कि समस्त पदार्थों में मिश्रिण है।[2] यथा—मानों हम पृथ्वी की ही लें; उसमें जल, वायु, अग्नि और आकाश महाभूत के अंश भी विद्यमान हैं।[3] इसी प्रकार आकाश के विषय में कहा जा सकता है—जो हमारे दैनिक प्रत्तक्ष का विषय भी है—कि आकाश जो आवरण, रूप शून्य है, वह हमें नोला दिखाई देता है। यह उस पंचीकरण प्रक्रिया का परिणाम भी है। जिसमें सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत पंचमहाभूतों में इतरेतर रूप से एक विशेष आनुपातिक समुमपस्थित स्वीकार की गई है।[4] इनमें आनुपातिक—रूपेण तत्त-महाभूत का आधिक्य ही तत्तत्नाम् का हेतु

१. पंचपादिका भूमिका—१०१-१०२-मद्रास, १९५८ ॥
२. सदसत्ख्यातिपाधावाधात्-सांख्य प्रवचन भाष्य-५।५५-चि० वि०-भारत जोवनकाशी-सं० १९४६ ॥
३. शंकरोत्तर वेदान्त मे मिथ्यात्व निरूपण-डा० अभेदानन्द ॥

इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष होता है। यह विपर्यय इसलिए है कि क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ-ज्ञान को कहा गया है। यथार्थज्ञान का अर्थ है यथार्थ रजत में इदं रजतम् का ज्ञान,[1] क्योंकि उसमें रजत विशेष्य में रजत्व वाला रजत का ज्ञान होता है किन्तु भ्रमस्थल में शुक्ति रजत्व वाला ज्ञान होता है, इसलिए यह भ्रम है तदभाववति तत्वकारक ज्ञान को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है। प्रमा ज्ञान के लिए शुक्तित्व वाला ज्ञान होना चाहिए, अतः जहां रजतभाव है, वहां शुक्ति में रजत्व प्रकार का ज्ञान विपर्यय है। उक्त प्रकार ज्ञान लक्षणा सन्निकर्ष में जब भ्रमस्थल में इदं रजतम् इस प्रकार रजत का प्रत्यक्ष होता है। तब पूर्वानुभूत रजत में इ्ष्ट साधनता का स्मरण होता है अर्थात् रजत वो कार्य की वस्तु है, स्मरण हो जाता है। साथ में इदं में अभिन्य रूप से इष्ट रजत का भी इष्टसाधनत्व अनुमित होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि नैयायिक दार्शनिक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि शुक्ति में रजत का भ्रम, रजत का सर्वत्र अभिभाव सिद्ध नहीं करता अपितु वह अन्यत्र विद्यमान होने से एवं अनेकों बार देखने का ज्ञान हमारे मन में है, जब हम रजत सादृश्य शुक्ति को दूर से देखने से स्मृति ज्ञान में जो रजत ज्ञान है वह ज्ञान लक्षणा के द्वारा "इदं रजतम्" का भ्रमित ज्ञान हो जाता है।

सदसख्याति सांख्य :-

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्यों ने भ्रम की व्याख्या में सद-सत्ख्याति का समर्थन किया है।[1] इन सांख्य आचार्यों के अनुसार "इदं रजतम्" इस प्रकार भ्रम ज्ञान के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्षुद्दोष के कारण शुक्तित्वरूप विशेष धर्म की प्रतीति न होने के कारण इदं रूप से शुक्ति का जो ज्ञान होता है, वह प्रमा ज्ञान है। क्योंकि वह ज्ञान सत्य वस्तु का ज्ञान है। अतः ज्ञान भासत्व है। रजत ज्ञान सत्य नहीं है, क्योंकि इदं में ज्ञान अनुपस्थित है। जो वहां अनुपस्थित होता है, उसका वहां पर ज्ञान

---

१. तर्कसंग्रह-पृष्ठ १५-१६-अन्यं भट्ट, मुरादावाद-सं० १६०७ ॥

सत्य नहीं हो शकता । रजत ज्ञान असत्य का ज्ञान होने के कारण असत् है। भ्रमस्थल में सर्वत्र यही दशा है । यदि कहा जाय कि सदसत् एकाधिकरण में दोनों कैसे रह सकते हैं। इसके उत्तर में विज्ञान भिक्षु का कहना है कि वैसे स्फटिक लौहित्य में विमवात्मना लौहित्य सत्य होता है और स्फटिक प्रतिविम्वात्मना असत् होता है वैसे यहां पर सम्भव है। जिस प्रकार रजत् दुकान में स्थित सत् और शुक्तय ध्वस्तरूप से असत् है[2] उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् भी स्वरूपतः सत् और चेतन्याध्वस्तरूप से असत् है ।[3]

रामानुजाचार्य से अनुसार सत्ख्यादिवाद :-

रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं । उनके अनुसार समस्त जगत् सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं होता, ज्ञान सदैव सत्य का होता है ।[1] और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है। यह उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही प्रतिफलन है। रामानुज सत्ख्यातिवाद के प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनका कहना है कि त्रिवृत्करण और पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध है कि समस्त पदार्थों में मिश्रिण है ।[2] यथा—मानों हम पृथ्वी की ही लें; उसमें जल, वायु, अग्नि और आकाश महाभूत के अंश भी विद्यमान हैं ।[3] इसी प्रकार आकाश के विषय में कहा जा सकता है—जो हमारे दैनिक प्रत्तक्ष का विषय भी है—कि आकाश जो आवरण, रूप शून्य है, वह हमें नीला दिखाई देता है। यह उस पंचीकरण प्रक्रिया का परिणाम भी है। जिसमें सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत पंचमहाभूतों में इतरेतर रूप से एक विशेष आनुपातिक समुमपस्थित स्वीकार की गई है ।[4] इनमें आनुपातिक—रूपेण तत्त-महाभूत का आधिक्य ही तत्तत्नाम् का हेतु

१. पंचपादिका भूमिका—१०१-१०२-मद्रास, १९५८ ॥
२. सदसत्ख्यातिपाधावाधात्–सांख्य प्रवचन भाष्य-५।५५-वि० वि०-भारत जीवनकाशी-सं० १९४६ ॥
३. शंकरोत्तर वेद्रान्त में मिथ्यात्व निरूपण-डा० अभेदानन्द ॥

है। पृथ्वो कहे जाने वाले महाभूत में पृथिव्यंश का प्राचुर्य है, अतः उसे पृथिवी कहा जाता है। इसो प्रकार जल, वायु आदि ।

इसी प्रकार यदि हम शुक्ति और रजत के उदाहरणों को लें तो रामानुज के अनुसार यह विदित होता है कि पंचीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप शुक्ति में रजत का अंश भी विद्यमान है।[5] किन्तु, क्योंकि शुक्ति में रजतांश की अपेक्षा तदंश का ही प्राचुर्य है। अतः लोक व्यवहार में उसे शुक्ति ही कहा और देखा जाता है।[1] किन्तु शुक्ति में रजत की अदृशयता का कारण शुक्ति में रजतांश की समुपस्थिति है। रामानुज कहते हैं कि सदृश पदार्थ के किसी न किसी भाग में रहता है।[2] इसी कारण यदि शुक्ति में रजत की प्रतीति या धारणा होती है, तो वह भ्रम न होकर सत्य है, क्योंकि शुक्ति में रजत भी विद्यमान है।

शुक्लाश यदि किसी पीलिया के रोगी को अपने नेत्रगत दोष के कारण "पीत दिखाई देता है, तो वह "पीत शेषं" रूपज्ञान भी आचार्य रामानुज के अनुसार भ्रम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी सत् का ही ज्ञान है। इसका कारण देते हुए वैज्ञानिक— से रामानुज कहते हैं कि पीलिया के रोगी की आंखों का पीतत्व नयन–रश्मियों के द्वारा आकर दृष्टि-निपालन के साथ ही शेष के शुक्लत्व को आच्छादित कर लेता है।[3] तत्परिणामस्वरूप ही "पीतत्व" की प्रतीति होती है। अतः वह पीतत्व सत् या वास्तविक

---

१. यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदाँ मतम्-श्रीभाष्य-१-१-१ विद्याभवन-पृष्ठ २६ ॥
२. (क) त्रिवृत्करणन्नेव हि प्रत्यक्षेणोपभपभूते–पूर्वोक्तैव-पृष्ठ ३० ॥
   (ख) गुणविधिनिमय पंचीकरण-तत्वत्रय-अचित्प्रकरण ॥
३. विप्रभविवेक-पृष्ठ ४६ ॥
४. गुणविधिनिमय पंचीकरण (आकाशे नैल्यप्रतीतिरपि तेनैव-तत्वत्रय-अचित्प्रकरण-१२ ॥
५. शुक्त्यादी रजतादेश्य भावः शुक्तैव वोधितः-श्रीभाष्य-अविद्याभंग पृष्ठ २१ ॥

ही है, भ्रम नहीं। यदि कोई कहे कि वह पीलिया रोगी की आंखों से निष्क्रान्त शुक्लत्व पर आरोपित पीतत्व तात्कालिक अन्य द्रष्टा को क्यों परिलक्षित नहीं होता तो रामानुज एक कुशल तार्किक की भांति उत्तर देते हैं कि वह आरोपित पीतिमा इतनी सूक्ष्म या मायावी होती है कि अन्य व्यक्ति उसे देखने में सक्षम नहीं हो पाता।[4] किन्तु पीलिया रोगी के द्वारा अपने नेत्रों के निष्क्रान्त को सूक्ष्म रश्मियां अति सामीप्यवश्ताग्रक्ता करली जाती है।

जहां तक मरीचिका में जल की प्रतीति होने का विषय है, रामानुज उसे भी सत् की प्रतीति मानते हैं, क्योंकि मरीचिका के रेत में पृथ्वी के अंश के बाहुल्य के साथ अन्यभूतों की भांति अल्पांश के प्रति आधिक्य बुद्धि है। बालू में जल सत् है। अतः तत्प्रतीति भी सत् ही है।

आचार्य रामानुज निर्विशेष की प्रतीति स्वीकार नहीं करते। इसी कारण उनके वस में निर्विकल्पक ज्ञान में भी सविशेष की ही प्रतीति मानी गई है। और अधिक क्या, रामानुज स्वप्निलपदार्थों की सत्ता को भी सत् स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वे पदार्थ स्वप्नद्रष्टा जीवात्मा के तत्कर्मानुरूप परमात्मा-प्रदत्त फल रूप ही हैं।[1]

इसी प्रकार रामानुज का मत है कि ज्ञान सर्वथा यथार्थ किंवा सत् वस्तु का ही होता है।[2]

---

१. शुक्लायादौ रजतादेश्य भावः शुक्तैव बोधितः—श्रीभाष्य-अविद्याभंग-पृष्ठ ३१ ॥

२. शुक्तयादिनिर्देशभेदां भूयस्त्वहेतुकः-पूर्वोक्तैव ॥

३. तदेव सदृशं तस्य यत् तद्द्रव्ये क देशभाक्—पूर्वोक्तैव ॥

४. नतनवर्तिपित द्रव्यसंभिन्नाः नायनरश्मयः शंखादिभिः सयुज्यन्त—पूर्वोक्तैव ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि शुक्त में रजत है तो तदर्थ प्रवृत्त होने पर व्यक्ति यह रजत नहीं है—ऐसी अवस्था में वह पूर्वज्ञान का बोध हो जाता है। तो तब भ्रम ही कहा जायेगा। इस पर रामानुज का मत है कि यह प्रवृत्ति बाध उस रजत रूप सत्यज्ञान को बाधित नहीं करती, प्रत्युत इसे ज्ञान के फल की बाधा कहा या माना जायेगा।[3] ज्ञान और ज्ञान के फल में सर्वथा भिन्नता मानी गयी है।[4]

महर्षि दयानन्द के अनुसार ख्यातिवाद का स्वरूप :-

महर्षि दयानन्द भ्रम की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जो भी ज्ञान हम इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं वह सर्वथा सत्य नहीं होता। इन्द्रियों और संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।[1] और यह अविद्या ही दुष्ट ज्ञान (मिथ्या ज्ञान या भ्रम) कहलाती है।[2] दयानन्द कहते हैं कि यद्यपि आत्मा सत्यासत्य का का जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर असत्य में झुक जाता है।[3] दूसरे जीव भी स्वरूपतः अल्पज्ञ है।

इस प्रकार दयानन्द का मन्तव्य न्यायवत् प्रतीत होता है कि विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम विषय-मूलक न होकर विषयी-मूलक भी है। अर्थात् भ्रम या विपरीत ज्ञान की सत्ता तो है किन्तु वह सत्ता ज्ञाता या ज्ञानगत है, पदार्थगत नहीं। इस आधार पर दयानन्द अन्यथाख्यातिवादी प्रतीत होते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि दयानन्द के मत में भ्रमस्थल में पदार्थ अन्यथा या विपरीत रूप से भासित होता है। "इदं रजतम्" में जो विशेष रूप इदमंश और

---

१. स्वप्ने चप्राणिनाँ पुण्यपापानुगुणं भगवतैव ततपुरुषमात्रानुभाव्य-स्तत्तत्कालवासावस्तभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते—पूर्वोक्तैव–पृष्ठ ३४ ॥
२. सर्वविज्ञानजातं यथार्थम्-पूर्वोक्तैव ॥
३. ज्ञानफल प्रवृत्तै वाव्यत्वम्-श्रीभाष्य ॥
४. ज्ञानस्य विषयाह्यन्यः फलैमन्यदुदाहृतम्—काव्यप्रकाश-द्वि.उ. २६ ॥

विशेषण रूप रजत है, इनसे विशिष्ट ज्ञान प्रकाशित होता है। जब चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है, शुक्तित्व और रजतत्व दोनों में रहने वाले चाक्चिक्य की अभेद-प्रतीति के कारण प्रस्तुत चाक्चिक्य वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का सात्विक ग्रहण नहीं हो पाता, अपितु रजत और सम्मुपस्थित (शुक्तिरूप) पदार्थ में सादृश्यज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न कर देता है। अनन्तर स्मृति का विषय उस रजत के कारण गृहीत होता है, यही भ्रम है। इस भ्रम के कारण ही शुक्ति में तदभिन्नरूपेण रजत ज्ञान गृहीत होता है। तस्माद् रजत का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ—इस प्रकार की प्रतीति होती है किन्तु प्रश्न उठता है कि जब प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय सन्निकर्ष आवश्यक है, तो असन्निकृष्टभूत रजत का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है क्योंकि रजत अथवा रज्जु में होती हुई स्वयं प्रतीति के सर्प के साथ भ्रमकाल में चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष तो हो नहीं रहा, फिर किस प्रकार उसे प्रत्यक्ष, कहा जा सकता है। इसका उत्तर देते हुए दयानन्द कहते हैं कि वे देशान्तर में हैं और उनके संस्कार आत्मा में हैं।[1] इसलिए इसको ऐसा कहा जाता है। भ्रमस्थल में भ्रम उसी पदार्थ का होता है, जिस पदार्थ को पड़े देखा गया है. पूर्वदृष्ट वस्तु के संस्कार आत्मा में होते हैं, जब तत्सदृश कोई पदार्थ सम्मुख दृष्टिगोचर होता है और उसका विशेष धर्म ज्ञान नहीं हो पाता, मात्र सामान्य ज्ञान होता है, तो उस समय आत्मा में संस्थित संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट पदार्थ की स्मृति होने लगती है, और उस पूर्वदृष्ट और तत्कालिक पदार्थ की स्मृति का मन के साथ सम्बन्ध रहता है। जब उस सम्बन्धोपत मन के साथ और इन्द्रिय गृहीत सम्मुखस्थित पदार्थ का सामान्य ज्ञान मिलता है। तो चाक्-

---

१. इन्द्रियादोपासंस्कार दोषाव्याविद्या-वै०स०६-२-१० ॥
२. तद्दुष्टंज्ञानम्-पूर्वोक्तैव-६-२-११ ॥ स०प्र०पृ० ४८ पर उद्धृत ॥
३. स०प्र० भमिका ॥

चिक्य सादृश्य से और उस संस्कार का रूप रजत ज्ञान का प्राधान्य हो जाता है। तस्मात् उसी की प्रतीति होती है । इसे भ्रम इसलिए कहा जाता है कि इस प्रकार के ज्ञानमेयथार्थ ज्ञान का लक्ष्य घटित नहीं होता, उस दशा में यह मिथ्या या भ्रमज्ञान कहलाता है।

महर्षि दयानन्द वैशेषिक—सूत्रानुमोदित दृष्टज्ञान और योगानुमोदित विद्या की सत्ता स्वीकार करने के कारण ही हमारे द्वारा अन्यथा ख्याति के समर्थक रूप में प्रतिपादित किये गये हैं।

---

१. स०प्र०—एकादश समुल्लास—पृष्ठ १९१ ॥

२. महायानसूत्रालंकार-पृष्ठ ६३ । संपा०एम०लेवी०, पेरिस-१९० ॥

सप्तम–अध्याय

विज्ञानवाद और शून्यवाद

विज्ञानवाद के आचार्य असंग के अनुसार विषय और विषयी दोनों ही चित्त हों या विज्ञान हों। बौद्ध विज्ञानवाद की मान्यता है कि एकमात्र आन्तरिक ज्ञान ही सत्य है। बाह्य वस्तुयें असत्य मानी जाती हैं। आचार्य वसुबन्धु ने भी बाह्य वस्तुओं को असत् स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि चित्त मात्र ही ध्रुव है। जो वस्तुयें बाहर दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सब अध्रुव हैं। उनकी सत्ता चित्त के कारण ही जान पड़ती है। यदि चित्त या विज्ञान न हो तो उनकी सत्ता ही प्रतीति नहीं होगी।

इनके अनुसार ही अनुसरण किया है। [1]इनके अनुसार काम-धातु, रूपधातु तथा अरूप धातु सब विज्ञप्तिमात्र हैं। वस्तुतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, जो कुछ भी है, विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् हैं। इसलिए वसुबन्धु ने विंशिका की प्रथम कारिका में ही कहा है। "असदर्थावभासनात्" अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यों ही होते हैं, इसी प्रकार न होते हुए भी अर्थ प्रतीत होते हैं।[2] वसु-बन्धु ने यहां पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिये "अवभास" शब्द का प्रयोग किया है, जो कि शंकर ने अध्यास के लक्षण में कहा है, "अवभासाध्यास, अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है।"[3] जहां पर जो नहीं है, वहीं पर उसको प्रतीति होना ही अवभास है। "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" ही अवभास है। यही बात वसुबन्धु उक्त प्रथम कारिका में "असदर्थावभासनात्" शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। असत् का अर्थ है—न होना, जहाँ पर अर्थ या

विषय न हो वहीं पर विषय की प्रतीति ही अवभास है, जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम है, क्योंकि सीपी में चांदी का आभास है। अतः सीपी में चांदी असत् है। असत् होने पर भी वही चांदी की प्रतीति होना ही" अवभास है। यहां पर वसुबन्धु ने तिमिर रोगी के केश-गुच्छादि के दर्शन को भ्रम का उदाहरण दिया है, जो कि अद्वैत के अनुसार प्रातिभासिक है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार अलीक की तो संभव नहीं है।[4] यदि प्रतीति हो रही तब तो उसे प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत् कहना होगा। तिमिर रोगी एक विशेष दृष्ट हुआ, उसको विशेष रूप से जो दोष के कारण अभाव में केश-गुच्छादि की प्रतीति होती है, वह प्रातिभासिक प्रतीति ही है। यद्यपि वसु-बन्धु ने प्रातिभासिक सत्ता का नाम नहीं लिया है, तथापि केश-गुच्छादि के उदाहकरण प्रातिभासिक प्रतीति की ओर संकेत करता है। *इस प्रकार स्पष्ट है कि वसुबन्धु अद्वैत के ही समान व्याव-*हारिक वस्तुओं को स्वतन्त्र सत्ता नहीं देने को तैयार हैं। अद्वैत में रज्जु-सर्पादि भ्रम के उदाहरणों द्वारा जगत् की अध्यस्तता एवं मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार वसुबन्धु ने भी केश-गुच्छादि के प्रातीतिक ज्ञान के उदाहरण द्वारा विज्ञप्ति मात्रता के अतिरिक्त वाह्य वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किया है। हमने मिथ्यात्व लक्षणों में देखा है कि अद्वैत वेदान्ती "प्रतिपन्नो-पाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व" को मिथ्यात्व कहते हैं—जैसे रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में रज्जु-सर्प का परमार्थतः त्रैकालिक निषेध सम्भव है। यद्यपि रज्जु-विषयक अज्ञानकालीन प्रातीतिक सर्प भ्रम-काल में होता है, फिर भी उस काल में भी पारमार्थिक दृष्टिकोण के सर्प नहीं होता अतः भ्रमकाल के सर्प का तीनों कालों में निषेध होता है, इसी कारण भ्रमकालीन सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार

---

१ विंशिका-पृष्ठ १ ॥

२. विज्ञप्तिमात्रमेवदमसदर्थावभासनात् । यद्वत् तैमिरिकस्यासत्-केशौण्ड्राकादिदर्शनम् । वही-कारिका-१-पृष्ठ-१८ ॥

३. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य भामती-पृष्ठ १८ ॥

४. अद्वैतसिद्धि-पृष्ठ ३२२ तथा ३३३ ॥

सम्पूर्ण प्रपंच भी मिथ्या है, फिर भी अधिष्ठान ज्ञान से पूर्व प्रपंच की प्रातीतिक सत्ता अद्वैत के अनुसार स्वीकार्य है। इसी प्रकार वसुबन्धु के अनुसार बाह्य वस्तुयें तीनों कालों में नहीं हैं। जो कुछ भी है, विज्ञप्तिमात्रता ही है। वसुबन्धु आत्म और धर्मों को आलयविज्ञान के परिणाम कहते हैं,[1] किन्तु वसुबन्धु के अनुसार परिणाम का अर्थ सांख्य के परिणाम से भिन्न है।[2] वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त परिणाम शब्द का अर्थ करते हुए स्थिरमति ने कहा है "कोऽयं परिणामो नाम ? अन्यथात्वम्—अन्यथाभाव को ही परिणाम कहा है।[3] सांख्य के परिणाम में नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी गई है, क्योंकि सांख्य के अनुसार कारण में पूर्व से हो सत् कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि नवीन कार्य की। विज्ञानवादी वसुबन्धु के अनुसार अनादि विकल्प-वासनाओं के कारण आत्मादि एवं रूपादि का आरोप होता है।

वसुबन्धु का उपचार और अद्वैत का अध्यास का आरोप समानार्थक शब्द है। जिस प्रकार अद्वैत में वस्तुतः ब्रह्म में प्रपंच के तीनों कालों में न रहने पर भी अज्ञान के कारण उसको आरोपित माना जाता है, उसी प्रकार आचार्य स्थिरमति विज्ञान में बाह्य वस्तुओं के अभाव होने पर भी उन्हें विज्ञान में आरोपित मानते हैं। उपचार का अर्थ आरोप है। स्थिरमति का कहना है "जो पदार्थ जहां पर नहीं, उसके वहाँ पर होने का जो आरोप होता है, उसे उपचार कहते हैं। यथा शुक्तिका में रजत का उपचार अथवा वाहीक में वल का उपचार। इसी अर्थ में विज्ञानस्वरूप में बाह्य पदार्थों का आरोप या उपचार होता है। अतः बाह्य वस्तुयें परिकल्पित हैं। परमार्थतः वे वस्तुयें नहीं है।[1] वसुबन्धु के अनुसार

---

१. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्त्तते। विज्ञान परिणामे असौ।–त्रिंशिका का० १-पृष्ठ २८-चौखम्वा-१९६७॥

२. इण्डियन आइडिलिज्म-पृष्ठ २८-दासगुप्ता-१९६२॥

३. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-पृष्ठ २८–स्थिरमति भाष्य। चौखम्वा-१९६७॥

सम्पूर्ण परिणाम या उपचारों का कारण या अधिष्ठान आलय विज्ञान है । आलयविज्ञान ही संसार का जीव है ।[2] इसी आलय विज्ञान को आलय करके मनोविज्ञान एवं विषय विज्ञप्ति की उत्पत्ति होती है । इन सभी आरोपित सत् वस्तुओं का विशुद्ध आलम्बन या अधिष्ठान विशुद्ध विज्ञप्ति है, जिसे विज्ञप्तिमात्रता कहा है । यह नित्य है, शाश्वत है । इस प्रकार हम वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता की तुलना अद्वैत के ब्रह्म से कर सकते हैं । आचार्य वसुवन्धु के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्ति समुद्र के समान है और बाह्य वस्तुयें तरंगों के समान उस पर परिकल्पित हैं । विशुद्ध विज्ञप्ति ग्राह्य-ग्राह्यता से परे है । पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता भी सापेक्षमित्य है ।[3] परन्तु भट्टाचार्य जी का कथन समीचीन नहीं जान पड़ता । वसुवन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता को ध्रुव कहा है ।[4] भट्टाचार्य जी ने ध्रुव शब्द का जो सापेक्षनित्य अर्थ किया है, वह आचार्य स्थिरमति के भाष्य के आधार पर समीचीन नहीं बैठता, क्योंकि स्थिरमति ने त्रिशिकाभाष्य में ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य किया है ।[1] चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि वसुबन्धु ने यहां पर ध्रुव शब्द प्रयोग निरपेक्ष सत्य के अर्थ में किया है ।[2] वसुवन्धु जब यह कहते हैं कि दृश्यप्रपंच स्वप्नवत् या तिमिर--रोगी के केशगुच्छादि के समान हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य वस्तुयें हैं ही नहीं । इसका तात्पर्य इतना ही है जिस विकल्प बुद्धि की कोटियों द्वारा कल्पित जगत् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता । विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्मय का सिद्धान्त सविकल्पक बुद्धि द्वारा ही कल्पित कर्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर अधिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्पक विज्ञप्तिमात्रता

---

१. यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यते । तथा वाहीके गां: । विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-स्थिरमति भाष्य-का० १-पृष्ठ २६ ।।

२. सर्वजीवं हि विज्ञानम्-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि कारिका-१८ पृष्ठ८१ ।

३. The Agam Shashtra of Gaudaped-Introducion, P. XCLII.V· Bhhattacharya-Calcutta Univ. 1943.

३. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः-का० ३०-अचिन्त्यः कुशलेध्रुवः ।।

का यह मत व्यावहारिक जगत् को परतन्त्र सत्ता प्रदान करता है। जब तक निर्विकल्प अर्थज्ञान की अनुभूति नहीं होती तब तक परिकल्पित जगत् का अस्तित्व है, तब तक यह मिथ्या नहीं भासता। व्यावहारिक जगत् की व्याख्या करने के लिए ही वसुबन्धु ने त्रिविध सत्तावाद को स्वीकार किया है। अद्वैत में स्वीकृत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता के समान ही आचार्य वसुबन्धु भी त्रिविध सत्ता स्वीकार करते है। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये त्रिविध सत्तायें हैं। इन त्रिविध सत्ताओं द्वारा जगत् को व्याख्या सम्यक् रूपेण हो जाती है। इन त्रिविध सत्ताओं को वस्तुस्वभाव भी कहा गया है। परिकल्पित स्वभाव वाली वस्तुयें आरोपित हैं, क्योंकि उन वस्तुओं का अपना स्वभाव नहीं हैं, जैसे शुक्ति में रजत् की कल्पना परिकल्पित है। वस्तुतः शुक्ति में रजत है ही नहीं, अतः उसमें रजत का ज्ञान आरोपित वस्तुविषयक ज्ञान ही है। आरोपित वस्तु विषयक ज्ञान को ही वसुवन्धु परिकल्पित मानते हैं।[3] परिकल्पित वस्तु स्वाधिष्ठान में न होने के कारण ही स्थिरमति ने अपने भाष्य में कहा है "न स विद्यते इति"[4] अर्थात् कल्पित वस्तु की अपनी सत्ता का अभाव हुआ करता है। यहां तक कि कल्पित वस्तु में हेतुप्रत्यय से प्राप्त स्वभाव भी नहीं। हेतुप्रत्यय स्वभाव व्यावहारिक वस्तुओं का ही होता है। प्रातिभासिक वस्तुओं का स्वभाव कल्पित ही है। द्विचन्द्रज्ञान के समान परिकल्पित ज्ञान तथ्यरहित है। एवमेव परिकल्पित वस्तु भी तथ्यहीन है।

---

१. ध्रुवौ नित्यत्वात् अक्षयतया—अयं च नित्य इति। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाष्य-१०१ ॥

२. Vasubandhu uses the word "Dhruva" here in the sense of the aboslutsly permanent-A critical survey of Indian Philosophy-P. 122. C.D.Sharma-London, 1960.

३. येन-केन विकल्पेन यद्यद वस्तु विकल्प्यते, परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते-का० २०—त्रिंशिका ॥

४. त्रिंशिकाभाष्य-पृष्ठ ८० का २० ॥

परतन्त्र सत्य या परतन्त्रज्ञान सापेक्ष है, क्योंकि यह कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। परतन्त्र स्वभाव वाला पदार्थ परिकल्पिक की अपेक्षा सत्य अवश्य है, किन्तु यह भी परसापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र सत्ता से रहित है। सापेक्ष का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न संसार की वस्तुयें परतन्त्र हैं, क्योंकि वे वस्तुयें किसी हेतु प्रत्यय में उत्पन्न है। जो वस्तु कारण सापेक्ष है, वह परतन्त्र है, अतः परतन्त्र को भी शुद्ध सत्ता प्राप्त नहीं है, यह भी एक प्रकार सत् स्वभाव से रहित ही है। अद्वैत वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता से इसकी तुलना की जा सकती है। क्योंकि अद्वैत के अनुसार व्यावहारिक जगत् अपनी सत्ता के लिए ब्रह्मसापेक्ष है। कारण के बिना कार्य अस्तित्व में नहीं आ सकता, अतः ब्रह्मसत्ता के बिना जगत् कार्य में नहीं रह सकता। घटोऽस्ति इत्यादि बाह्य वस्तुयें अस्तिसापेक्ष हैं। वह अस्ति ही कारणरूप ब्रह्म है, अतः अद्वैत के अनुसार जगत-प्रपंच सापेक्षसत् है। विज्ञानवादी के अनुसार भी सभी वस्तुयें प्रतीत्युसमुत्पन्न हैं, अतः परतन्त्र स्वभाव है।[1]

परिनिष्पन्न वस्तुस्वभाव है अर्थात् परिनिष्पन्न ही तत्व है। परिनिष्पन्न परतन्त्र भी अधिष्ठान है। बिना परिनिष्पन्न के परतन्त्र की सत्ता हो ही नहीं सकती, क्योंकि परिनिष्पन्न को लेकर ही परतन्त्र का व्यवहार संभव है। यह ग्राह्य-ग्राहकादि भावों से परे है। यह परतन्त्र से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। हम इसे यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि परिनिष्पन्न हो अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप भासने लगना है। साथ में परिनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप में भासने लगता है। साथ में परिनिष्पन्न परतन्त्र की पहुंच से सर्वथा वाहर है, अतः परतन्त्र से अभिन्न भी कहना समीचीन नहीं। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में एकमात्र विशुद्ध परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान-रूप है फिर भी प्रपंच से परे है, उसी प्रकार परिनिष्पन्न शुद्ध और शाश्वत है। वह देश-काल से परे हैं। देश-काल उसी परिनिष्पन्न

---

१. परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः–त्रिंशिका० २१ ॥

से आरोपित है। परिनिष्पन्न समस्त प्रपंच का आधार होते हुए भी प्रपंच से वह रहितावस्था है,[1] अतएव यह इन्द्रियानुभवातीत है। यह निरपेक्ष सत् है। बाह्य विषय का अस्तित्व इसी के अस्तित्व से प्राप्त है। इसी सदधिष्ठान में घटाधिष्ठान में घटादि विकल्प कल्पित हैं, क्योंकि कारणव्यतिरेक कार्य की सिद्धि नहीं है, अतः कारण ही कार्यरूप से भासित होता है।

इस प्रकार हमने दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवादानुसार बाह्य वस्तुयें विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति में आरोपित हैं। अद्वैतवेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने पंचपादिका-विवरण में त्रिविध सत्ता का स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रियासामर्थ्यसत्व आकाशादि का, एवं अविद्योपाधिकसत्व शुक्ति-रजतादि का।[2] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति में आरोपित हैं, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म में आरोपित हैं, अतः शुक्ति-रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या हैं। यहां पर विज्ञानवाद और अद्वैत मत की समानता है। अद्वैत में जिस प्रकार प्रतिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत्-स्वभाव-रहित कहा है और व्यावहारिक वस्तुओं को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्स्वभावरहित कहा है। उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार निःस्वभावों का कथन करते हैं। इन्हें लक्षणनिःस्वभावना, उत्पत्ति निःस्वभावता एवं परमार्थ निःस्वभावना कहते हैं। परिकल्पित वस्तुयें आकाशकुसुम के समान निःस्वभाव है, ये लक्षण से अपेक्षित हैं। परिकल्पित वस्तुओं की सिद्धि के लिए विना लक्षणों का समावेश किया जाता है, वे वास्तविक नहीं हैं, अतः ऐसी वस्तुयें लक्षणों से निःस्वभाव होने के कारण लक्षण निःस्वभाव कहलाती है। परतन्त्र वस्तुयें कारण सापेक्ष होने के कारण उत्पत्ति निःस्वभाव हैं, क्योंकि स्वयं स्वभाव वाले परतन्त्र

१. निष्पन्नस्तस्य पूर्वेणरहितता तु या-त्रिंशिका का० २१।
२. त्रिविधं सत्वं-परमार्थ सत्वं ब्रह्मणः, अर्थ.कयासामर्थ्यसत्वं मायोपाधिकमाकाशादे ?, अविद्योपाधिकसत्वं रजतादेः। पंचपादिका-विवरण-पृष्ठ १६५ ॥ मद्रास-५८।

नहीं हैं। स्वयं स्वभाव वाले होते तो परतन्त्र ही नहीं कहलाते। इसी कार परिनिष्पन्न परमार्थ निःस्वभाववाला है। परमार्थतः उसमें किसी प्रकार के धर्म नहीं हैं, अतः वश-विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थतः निःस्वभाव है।[1] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। आचार्य असंग ने भी उक्त त्रिविध सत्वों का प्रयोग महायान सूत्रालंकार में किया है।[2]

वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विषय में ऊपर दिये गये विवरण से हम यह धारणा बना सकते हैं कि असंग तथा वसुबन्धु ने जगत् की बाह्यता को तो आरोपित या मिथ्या कहा है, किन्तु वे जगत की बाह्यता का अवलाप नहीं करते। इन विज्ञानवादी आचार्यों के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य-ग्राहक आदि सर्वप्रपंच विज्ञान में आरोपित वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अतः वे मिथ्या हैं। अद्वैत में भी अध्यस्ततया प्रपंच को ही मिथ्या कहा है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय कहा है। जब विशुद्ध सांसारिक द्वन्द्व या विकल्पों से परमार्थतः परे हैं, और शाश्वत एकरूप हैं, तब विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य-कारणात्मक संसार सम्बन्धित नहीं हो सकता अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित मानना होगा, जैसा कि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म परमार्थतः किसी का अधिष्ठान भी नहीं है, क्योंकि सत्य अथ में किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुंचाना है, अतः कहा गया है कि प्रपंच ब्रह्म में विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ता या कार्य का होना न कि वस्तुतः। इसी प्रकार वसुबन्धु की विशुद्ध विज्ञप्ति भी जब परतन्त्रों से भी सम्बन्धित नहीं है। फिर जगत् की विज्ञप्ति का परिणाम कैसे कहा जाए ? ऐसा लगता है वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्धविज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है,

---

१. त्रिंशिका-का० २५ ॥
२. महायानसूत्रालंकार—११। ३९, ४०, ४१, बौद्धदर्शन मीमांसा १५० में उद्घृत, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा-१९५४ ॥

तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति में भी विकृति आनी चाहिए ? ऐसा होता नहीं है। जगत् के परिणाम होने पर भी विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अतः जगत् परिणाम को विवर्त के अर्थ में लेना आवश्यक है। इसी अर्थ में वसुबन्धु ने आत्म-धर्मों को विज्ञान में उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मादि का उपचार होता है, न कि वस्तुतः हैं।

वसुबन्धु के द्वारा परतन्त्र वस्तुओं का स्वीकार करना ही सिद्ध करता है कि वसुबन्धु बाह्यता का सम्पूर्णतया अपलाप नहीं करते, जैसा कि आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि इस विज्ञान-वाद में "प्रपंच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नहीं किया गया।"[1] इस कारण विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयीवाद नहीं कह सकते।[2] विज्ञानवाद मात्र यह कहता है कि बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् है, किन्तु विज्ञानसापेक्ष बाह्यता है। यही अद्वैत के अनुसार बाह्यता की स्थिति है।

लंकावतार के दर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही का मिश्रण कहा जा सकता है। यह न विशुद्ध शून्यवाद है, न ही विज्ञानवाद। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्र चित्त ही सत्य है। लंकावतार में विशुद्ध विज्ञान के लिए चित्त शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[3] चित्त ही विज्ञान है, इस विज्ञान के अतिरिक्त काम रूप एवं अरूप अर्थात् भौतिक वस्तुयें असत् हैं। बाह्यता नाम की कोई भी वस्तु वस्तुतः नहीं है। बाह्य वस्तु व्यक्तिगत मन की

---

१. The objectivity of the External world is not denied, A Ctirical survey ol Indian Philosophy-P. 122

२. Vijnanvada can not be called oubjectivism-India

३. A critical survey of India philosophy-p. 110.

४. लंकावतार–१८६ तथा १८५ ।। संपा बी० नानजिओ, लन्दन–१९२३ ।।

सृष्टि नहीं है, अपितु विशुद्ध विज्ञान की सृष्टि है । लंकावतार में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान मिलता है ।[4] बाह्यवस्तुओं के प्रत्याख्यान में वसुबन्धु संभवतः इतना बल नहीं देते जितना कि लंकावतार देता है । लंकावतार में बाह्य-वस्तुओं के अस्तित्व प्रत्याख्यान में नागार्जुन एवं गौड़पाद के समान स्वप्न माया वन्ध्यापुत्रादि के दृष्टान्तों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है ।[1] लंकावतार के अनुसार सम्पूर्ण बाह्य वस्तुयें विकल्पमात्र हैं । यहां पर वस्तुतः न द्रष्टा है, न द्रष्टव्य ही कुछ है न कोई वाच्य है, और न ही उसका वाचक ।[2] जिस प्रकार अद्वैत के ब्रह्म में परमार्थतः ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृत्व-भाव नहीं, उसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार भी प्रपंच परमार्थतः उक्त भेदों से रहित है । न ग्राह्य है, न ग्राहक, वन्ध्यापुत्र के समान सभी कल्पित हैं ।[3] न कोई उत्पत्ति है, न कोई उत्पाद्य है, किन्तु व्यवहार में सभी कल्पित हैं । उसी प्रकार भाव वस्तुओं की कल्पना होती है ।[4] वस्तुतः सभी धर्म निःस्वभाव हैं । दार्शनिक विश्लेषण करने पर या कार्य कारण भाव के विश्लेषण करने पर बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, इसलिए अनभिलाप्य कहा गया है ।[5] अद्वैत के अनुसार भी प्रपंच को सदसद् अनिवर्चनीय कहा है—अर्थात् सद्रूप से असद्रूप से अथवा उभय-रूपों से वस्तुओं का कथन सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सत् का बोध नहीं होता, अतः सदसद् अनिवर्चनीय है, इसी प्रकार लंकावतार में भी वस्तुओं की दोनों बातें हैं, अतः सद् असद् अनि-वर्चनीय है । वस्तुओं के स्वभाव की खोज करने पर स्वभाव का

---

१. स्वप्नोऽथवा कायानगरं गन्धर्व शब्दितम्-लंकावतार-पृ०६ ॥
२. लंकावतार का० ४३–पृष्ठ ६ ॥
३. वही का० १४४-द्वितीय परिवर्त ॥
४. वही का० १६६-पृष्ठ १०५ ॥
५. बुद्धया विवेच्यमानानां स्वभावोनाधार्यं ते ।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्चदेशिताः-लंकावतार सूत्र पृ० ११६-२-१७५ ॥
६. लंकावतार-पृष्ठ १३० ॥

परिचय नहीं मिलता, अपितु परभाव को ही परिचय मिलता है। घटादि का स्वभाव कुछ भी नहीं हैं, विज्ञानातिरिक्त घटादि माया के समान हैं। जिस प्रकार माया की सिद्धि सम्भव नहीं हैं, उसी प्रकार ससार की भी सिद्धि सम्भव नहीं।[6] अद्वैत में भी माया को असद अनिवर्चनीय कहा है, क्योंकि इसकी उक्तरूपों से सिद्धि संभव नहीं है। इस प्रकार लंकावतार में यदि प्रपंच के बाह्यत्व का जोरदार प्रत्याख्यान किया है। जैसा कि आचार्य पी० टी० राजू ने कहा है कि लंकावतार के अनुसार संसार न यथार्थ है, न भिन्न है, और न अभिन्न हैं, फिर भी यह विना सत्य के नहीं है। इसे माया अवश्य कहा गया है। किन्तु माया असत्य अथवा अनस्तित्व का वाचक नहीं है। माया इसलिए कहा गया है. क्योंकि सत् न होने पर भी प्रतीत होता है।[1] यही अद्वैत का, भावरूप अज्ञान के कारण प्रतीत संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यवस्तुयें हैं ही नहीं। यही बात अद्वैत के अनुसार भी कही गई है। आरम्भणाधिकरण ब्रह्मसूत्र-भाष्यटीकाओं में अद्वैताचार्यों ने वाचारम्भण के दृष्टान्त से कार्य को कारणभिन्न कहा गया है।[2] लंकावतार के द्वितीय परिवर्त में भी बाह्य जगत् को बाह्यविकल्पित कहा गया है। अद्वैत के ही समान कहा गया है कि हे महामते, मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड न भिन्न हैं। सुवर्ण भूषणों से न अन्य हैं, न अनन्य। यदि अन्य होता तो उनसे अन्य नहीं होता, अर्थात् यदि मृत्परमाणुओं से मृत्पिड़ एकान्त भिन्न होता, तब परमाणुओं से उसे आरब्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकान्त भिन्न-एकान्त भिन्न वस्तु का कारण नहीं बन सकता। और यदि अभिन्न कहा जाय तो भी मृत्पिण्ड और परमाणुओं में कार्य-कारण विभाग नहीं बन सकता।[3] अतः कार्य न कारण से

---

१. The Idealistic-thought of India-p, 264.

२. विमतविण्ठानातिरिक्तसत्वशून्यं सावधित्वात्-न्यायनिर्णय-पृष्ठ ३७४ ॥ भामती भी द्रष्टव्य-पृष्ठ ३७४ ॥

३. लंकावतार द्वितीन परिवर्त-पृष्ठ ३४ ॥

४. The Idealistic thought of India-p.264.

अभिन्न है, न भिन्न है। अद्वैत के अनुसार भी कार्य जवत् न ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि अभिन्न होने पर कार्य को पृथक् प्रतीति नहीं होनी चाहिए, और न भिन्न ही। ऐसा होने पर कारण सत्ता से कार्यसत्ता की भिन्नता सिद्ध होगी और द्वैतवाद की आपत्ति होगी। अद्वैतवाद के ही समान लंकावतार में भी त्रिविध-सत्ताओं का वर्णन है—परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न।[4] परिकल्पित के अनुसार अवस्तु में भी वस्तुत्व की कल्पना करना है जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना, एक चन्द्र में द्विचन्द्र की कल्पना। परतन्त्र सापेक्षता को कहते हैं। सभी वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्यपन्न हैं। विश्लेषण करने पर निःस्वभाव हो जाती हैं। परिनिष्पन्न वस्तुओं का मूल सत्व है, वही विशुद्ध विज्ञान है।

ऊपर के विवरण से हम यह समझने में समर्थ हो सकते हैं। किस प्रकार लंकावतार के विज्ञानताद की बाह्यवस्तुविषयक धारणा अद्वैत के मिथ्यावाद से समानता रखती है। अन्तर इतना ही है कि अद्वैतवाद बाह्यवस्तुओं की अनिवर्चनीयता एवं उनकी प्रतीतिक बाह्यता की सिद्धि में वल देता है, इसके विपरीत उक्त विज्ञानवाद बाह्यता या बाह्यवस्तुओं की विज्ञानातिरिक्तता के प्रत्याख्यान में वल देता है। यह वात नहीं कि इस विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य-वस्तुयें प्रातीतिक भी हैं नहीं। प्रतीति का अपलाप कोई भी नहीं कर सकता।

बौद्धिविज्ञानवाद का दूसरा रूप है स्वतन्त्रविज्ञानवाद। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्य द्विनान हैं। आचार्य दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्कि ने किया है। इनके वाद इस विज्ञानवाद का विकास आचार्य शान्तरक्षित एवं कमलशील ने किया है। यह वसुवन्धु विज्ञप्तिमात्रतावाद से अत्यन्त भिन्न है। इसी विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य

---

१. The Idealistic thought of India-p.264.
२. A Critical survey of Indian Philosphy-p.322.

में किया है, न कि वसुबन्धु के शाश्वत विज्ञानवाद का ।[1] भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण में आचार्य चन्द्रधर शर्मा ने इसी "को स्वतन्त्र विज्ञानवाद" कहा है ।[2]

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार वाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है । जो कुछ भी घट-घटादि के रूप मे दिखायी देते हैं, वे सव विज्ञान के ही आकार हैं । वस्तुतः विज्ञान ही वाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित हो रहा हे । दिङ्नाग के अनुसार वाह्य वस्तुओं की कल्पना दो रूपों में की जा सकती है—अनुरूप में या संघात रूप में अरणु अविभाज्य एवं अमूर्त हैं । अरणुओं का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष केवल मूर्त द्रव्य में ही संभव है । यदि एक अरणु का प्रत्यक्ष संभव नहीं, अरणुओं के संघात् के विषय में भी यही बात होगी । अर्थात् अङ्कुओं के संघात् का भी प्रत्यक्ष असंभव है । इस प्रकार बाह्य वस्तुयें न अरणुरूप हो सकनी है और न हों अरणुओं का संघातरूप ही, किन्तु बाह्य वस्तुयें प्रत्यक्ष गोचर होती हैं, अरणु या संघात वाह्य वस्तुओं के कारण नहीं बन सकते ।[1] दिङ्नाग के अनुसार आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओं में भासित होते हैं । ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्यग्राहकता के रूप में अवभासित होते हैं । वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आन्तरिक हैं । वाह्यता अलीक है ।

धर्मकीर्ति के अनुसार "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन में समर्थ हो" जो वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं वह असत् हैं, अतः "अर्थ-क्रियाकारित्व-प्रभावोत्पादन सामर्थ्य-परमार्थ का लक्षण हैं । धर्मकीर्ति के अनुआर बाह्यतस्तुयें असत् हैं, फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं वाह्यत्व दिखायी देता है । परम सत् ग्राह्य-ग्राहकत्व से परे है । पाण्डु रोगी रोग के कारण जिस प्रकार शंख को पीला देखता है—उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण चित्त को परमसत् नहीं समझ पाते, न ही वाह्य-वस्तुओं को ही असत् समझते हैं, आन्तरिक प्रयत्नों को ही बाह्य

वस्तुयें मान बैठते हैं। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयंप्रकाश एवं स्वतः देदीप्यमान है।[2]

शान्तरक्षित ने ही धर्मकीर्ति के समान अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य को ही परमार्थ कहा है। वह प्रभावोत्पादन में समर्थ है तथा क्षणिक है। संसार की सभी वस्तुयें शान्तरक्षित के अनुसार क्षणिक हैं, क्योंकि वे विनाशी हैं। क्षणिक वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है।[3] विनाश वास्तव में कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु वस्तु के साथ ही होता है।[4] अविनश्वर और नित्य वस्तु असंभव है। यह विवेक और तर्क के विपरीत है। यदि कोई वस्तु नित्य और शाश्वत है तो उसमें उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों को एकसाथ उत्पत्ति होनो चाहिए। क्योंकि निमित्त-कारण या प्रभावोत्पादक कारण विद्यमान होने के कारण विलम्ब का कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार की कल्पना यथार्थ है जीवन के विपरोत है। वस्तुयें प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। भ्रमवश उसकी सादृश्यता को हम एकरूपता मान बैठते हैं, और लगने लगता है कि वस्तुयें सित्य हैं। वस्तुतः वस्तुयें क्षणिक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हुए शान्तरक्षित ने कहा हैं कि विज्ञान के अति-रिक्त बाह्यता नहीं है। ये सब क्षणिक विज्ञान के ही विलासमात्र हैं। इस क्षणिक विज्ञान का प्रकाशक अन्य नहीं है। यदि प्रकाशक-प्रकाशक हैं तो भी वे विज्ञानमात्र हैं, इसलिए विज्ञानवाद में ज्ञान और ज्ञेय को अभेद कहा है। दोनों में भेद नहीं है। इसी को धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय में सहोपलम्भ नियम कहा है।[1] इस नियम के अनुसार वस्तु और वस्तु के ज्ञान में पार्थक्य नहीं हैं।

---

१. आलम्बन परीक्षा का० १॥ एवं आलम्बन परीक्षावृत्ति पृष्ठ ३ तथा ४-१९४२॥

२. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवोमलाः प्रमाणवार्तिक-२-२०८। धर्मकीर्ति-सं० राहुलसांकृत्यायन-किताव महल-इलाहबाद-१९४३।

४. वही-पृष्ठ ३७६॥

प्रत्ययवाद का यह मूल और प्रधान तर्क विज्ञान और विज्ञेय में अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्ययवादी का कहना है कि कोई भी वस्तु ज्ञान के बिना उपलब्धि का विषय कैसे बन सकती है ? ज्ञान के बिना वस्तु को जानना वदतोव्याघात है । ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि करना असंभव है। वहां भी वस्तु की सिद्धि की जायेगी, ज्ञान वहीं पर होगा । ज्ञान और ज्ञेय में एक प्रकार यह व्याप्ति है, किन्तु प्रत्ययवादी का कहना है कि ज्ञान विषय निरपेक्ष हो सकता। विषय ज्ञान निरपेक्ष नहीं हो सकता बर्कले ने भी इसी तर्क से बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार "सत्ता सर्वदा अनुभव-मूलक होती है"[२] जहां अनुभव नहीं, सत्ता नहीं। इसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध का भी यही कथन है कि ज्ञान के बिना ज्ञेय अस्तित्व की सिद्धि कैसे संभव है जहां पर भी घट को जाना गया वह ज्ञात पाया गया है । धर्मकीर्ति का सहोपलम्ब नियम भी यही बतलाता है कि विषय नील और रसकी धी अर्थात् ज्ञान दोनों अभिन्न हैं—नील वस्तु और नील ज्ञान दोनों अभिन्न पदार्थ हैं जिसे ज्ञान का विषय कहा जाता है वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है। नीलाकार विज्ञानविशेष ही नीलवस्तु है। घटाकार विज्ञानविशेष ही घट हैं। ज्ञानारिक्त विषय की पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानातिरिक्त विषय असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान और वस्तु में अभेदसिद्धि करने के लिए "सहोपलम्मनियमात्" इस प्रकार "सहोपलम्भ" का हेतुरूप से उपन्यास करते हैं। और इसी हेतु वल से अनुमान करके ज्ञान-ज्ञेय में नील और नीलज्ञान में अभेदसिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय के इस अभेद-सिद्धान्त को जानने के लिए उक्त अनुमान के हेतु "सहोपलम्ब नियमात्" को जानना आवश्यक है। यहां पर "सह" और "नियम" दो विशेष शब्द हैं। ज्ञान के साथ ज्ञेयनीलादि की उपलब्धि होती

१. सहोपलम्यनियमादभेदो-नीलतद्धियोः भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैद्दृश्येतेन्दाविवाद्धयँ-भामती में उद्धृत-पृष्ठ ५४४ ॥
२. Essert Percipi.

है। ज्ञान के बिना ज्ञेय विषय की उपलब्धि नहीं हो सकती यही उक्त "सह" शब्द का अर्थ है, किन्तु "सह" शब्द के इस प्रकान अर्थ करने पर ज्ञान और ज्ञेय में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। किसी के होने पर किसी का होना "इससे दो पदार्थों" की सिद्धि होती है। न कि अभेद की। "सह" शब्द का स्वअर्थ है, साहित्य। साहित्य या सहभाव दो भिन्न पदार्थों में भी सम्भव है। अभेद में सहभाव कैसा ? इसी कारण भदन्त शुभगुप्त ने कहा है कि "विरूद्धोऽयं हेतुः" यह सहोपलम्भ नियम हेतु विरुद्धहेतु हैं।[1] ज्ञान और ज्ञेय पूर्ण रूप से अभिन्न होकर सहभाव सम्भव नहीं, अतः उक्त हेतु ज्ञान-ज्ञेय में अभेद का साधक न होकर भेद का ही साधक हुआ, इसीलिए विपरीत हेतु होने के कारण विरुद्ध हेतु हुआ। विरूद्ध हेतु का अर्थ हुआ हेत्वाभास। हेत्वाभासयुक्त अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त हेत्वाभास-दोष से मुक्त होने के लिए शान्तरक्षित नहीं "तत्व-संग्रह" में सह शब्द का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय के अभेदसिद्धान्त की स्थापना की है। शान्तरक्षित का कहना हैं कि नील-वस्तु-ज्ञान दोनों एक हैं।[2] एक अभिन्नोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। सर्वज्ञ ज्ञानाकार ही विषयाकार है, अतः ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्र-रोग के कारण द्विचन्द्रमादर्शन किया करते हैं। वस्तुतः चन्द्रमा दो नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय एक हैं, फिर भी ज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं।[1] शान्तरक्षित ने एकोपलब्धि को सहोपलम्भ कहा है। इनके अनुसार "सह" शब्द का अर्थ एका है, न कि साहित्य, तत्व-संग्रह, पंजिका में किसो विज्ञानवादी आचार्य के अमुसार "सह" शब्द का अर्थ "एक काल" किया है। इनके अनुसार काल-भेद वस्तुभेद का व्धाप्य है। "कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्"[2]

---

१. तत्व-संग्रह पंजिका-६९२—कमलशील-बौद्ध भारती-वाराणसी-६९२ ॥

२. यत्संवेदनमेवस्यादूयस्य संवेपध्रुवम्
तस्माद्व्यतिवितं तत् ततोवान विभिद्यते ॥ तत्वसंग्रह-पृष्ठ ६९१ ॥

अर्थात् कालभेद होने पर वस्तु में भी भेद अवश्य होगा। ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक काल में है, अतः दोनों एक हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र विज्ञानवादानुसार ज्ञान की उपलब्धि ही ज्ञेय सत्ता को सिद्ध करती है, अतः ज्ञान-व्यतिरेक दृश्य की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि अध्यस्त कभी भी अधिष्ठानातिरिक्त नहीं होता। अधिष्ठान सापेक्ष होता है। उक्त सहोपलम्भनियम का और इससे साधित वाह्य सत्ता रहित विज्ञानवाद का अद्वैताचार्यों ने जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। अद्वैत आचार्यों का कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभास मात्र हैं, क्योंकि घट और और घट-दर्शन का भेद संसार में प्रसिद्ध है। ज्ञान-ज्ञेय अभेद सिद्धान्त अथवा ज्ञान-ज्ञेय एक सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है, प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण हैं. अतः प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित अनुमान प्रमाण की गति संभव नहीं है। उक्त हेतु प्रत्यया आवित होने के कारण विरूद्ध हेत्वाभास हैं, अतः एवं प्रकार हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विशेष में एकत्व या अभेदत्व साधन नहीं कर कर सकते। आचार्य शंकर ने "नाभाव उपलब्धेः" (२-२-२८) ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य में विज्ञानवाद के उक्त सहोपलम्भनियम का जोरदार खण्डन किया है। वर्हविश्व को विज्ञानातिरिक्त न मानने के सिद्धान्त के खण्डन में शंकर ने उपलब्धि का प्रश्न उठाया है, अर्थात् वहिर्विश्व घट-घटादि कैसे नहीं है? हमारे सामने जो स्तम्भ या घट दिखायी दे रहे हैं नहीं हैं—ऐसा कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि उनकी उपयब्धि हो रही हैं। उपलभ्यमान वस्तु के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया का सकता।[1] वाचस्पति मिश्र का कहना है वाह्य वस्तु घटादि की उपलब्धि इतनी स्पष्ट है कि उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। मात्र स्पष्ट अनुभव ही नहीं "यह घट हैं पट" इत्यादि सार्वजनिक अनुभव हुआ करता है। अर्थात् एक व्यक्ति के लिए जो घट प्रत्यक्ष-

---

१. आलम्वनपरीक्षा का० २-पृष्ठ १ ॥
२. तत्वसंग्रहपंजिका-पृष्ठ ६८३ ॥

सिद्ध बाह्यसिद्ध वस्तु हैं, वह सभी के लिए प्रत्यक्षसिद्ध घट है, अतः लनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[2] एक बात और भी है कि जो भी बाह्यविषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि को ही उपलब्धि नहीं कहता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है, अतः बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त बाह्य वस्तु को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्यवस्तुयें स्वीकार करते हैं, इसी कारण विज्ञानवाद के उपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये विना ठहर नहीं सकते, क्योंकि बाह्यता का खण्डन करने के लिए भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिङ्नाद ने आलम्बन परीक्षा में विज्ञानवाद की स्थापना करते हुए कहा है कि "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते"[3] अर्थात् जो आन्तरविज्ञान है, वहीं बहिर्विश्व में ज्ञेयरूप से भासता है। ज्ञान के समान ज्ञेय वस्तु भी आन्तर, बाह्यता अलीक है, अलीक बाह्यता ही मन में भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में (२(२।२६) जागृत् और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलायें हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य-

३. आलम्बन परीक्षा-पृष्ठ २–कारिका ६॥

वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं के समान निःस्वभाव हैं। किन्तु आचार्य शंकर यहां पर बाह्यवस्तुओं की स्वप्नतुल्य कवने के भी विरुद्ध हैं। उनका कहना है, जाग्रत और स्वप्न में महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाध-अबाध है, अर्थात् स्वप्नदृष्ट वस्तुयें जाग्रत में बाधित हो

---

१. न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याव्यवसातु शक्यते। कस्मात्, उपलब्धेः। ब्रह्मसूत्र-शा०भा० ५४७॥

२. न हि स्फुटतरे सर्वजनीत उपलब्धे सति तदभावः शक्यो वक्तुम्-भामती-पृ० ५४७॥

जाती हैं । स्वप्न दृष्ट महाजन समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न में सिंह देखकर भयभीत हुआ व्यक्ति जागने पर भयभीत नहीं रहता। इस प्रकार स्वप्निक वस्तुयें जाग्रत में बाधित हो जाती हैं, अतः जागृत से स्वाप्निक गस्तुयें कम सत्ता वाली हैं।[1] जागृत वस्तुयें अनुभूत वस्तुयें होती हैं जबकि स्वप्न की वस्तुयें स्मृति में निहित होती हैं। स्वप्न व्यक्तिगत होता है। जाग्रत सार्वजनिक है। अर्थात् स्वप्न में देखी हुई वस्तुयें स्वप्नद्रष्टा को ही दिखाई देती हैं। पास सोए हुए को नहीं दिखायी देतीं, जबकि जाग्रत की वस्तुयें सभी को सामान्यरूप से दिखायी देती हैं। इस प्रकार शंकर ने जागृत स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुयें स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है।

हमने ऊपर के विवरणों में देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उसके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन के प्रसंग में वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं।

शून्यवाद—

नागार्जुन माध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार बाह्यवस्तुयें अबोध्य होने के कारण अवास्तव हैं। बाह्यवस्तुओं के स्वभाव में विरोध है जिस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य सर्वथा सर्वथा एकरूप होता है। यह प्रपंच, चाहे आन्तर हो चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहां पर विज्ञान और विज्ञेय, दोनों अवास्तव हैं। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुयें सिद्ध नहीं हो सकतीं। सम्बन्धों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर संबंध दुर्बोध्य है। नागार्जुन ने चेतन अचेतन सभी को अवास्तव कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या है उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है।[2] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य-पृष्ठ ५५५ ॥

२. माध्यमिक शास्त्र-७-६४ ॥

सिद्ध बाह्यसिद्ध वस्तु हैं, वह सभी के लिए प्रत्यक्षसिद्ध घट है, अतः लनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[2] एक बात और भी है कि जो भी बाह्यविषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि को ही उपलब्धि नहीं कहता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है, अतः ? बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त वाह्य वस्तु को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्यवस्तुयें स्वीकार करते हैं, इसी कारण विज्ञानवाद के उपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये बिना उहर नहीं सकते, क्योंकि बाह्यता का खण्डन करने के लिए भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिङ्नाद ने आलम्बन परीक्षा में विज्ञानवाद की स्थापना करते हुए कहा है कि "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते"[3] अर्थात् जो आन्तरविज्ञान है, वहीं वहिर्विश्व में ज्ञेयरूप से भासता है। ज्ञान के समान ज्ञेय वस्तु भी आन्तर, बाह्यता अलीक है, अलीक वाह्यता ही मन में भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में (२(२।२९) जागृत् और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलायें हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य-
३. आलम्बन परीक्षा-पृष्ठ २-कारिका ६ ॥
वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं के समान निःस्वभाव हैं। किन्तु आचार्य शंकर यहां पर बाह्यवस्तुओं की स्वप्नतुल्य कवने के भी विरुद्ध हैं। उनका कहना है, जाग्रत और स्वप्न में महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाध-अवाध है, अर्थात् स्वप्नदृष्ट वस्तुयें जाग्रत में बाधित हो

१. न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातु शक्यते । कस्मात्, उपलब्धेः । ब्रह्मसूत्र-शा०भा० ५४७ ॥
२. न हि स्फुटतरे सर्वजनीत उपलभ्ये सति तदभावः शक्यो वक्तुम्-भामती-पृ० ५४७ ॥

जाती हैं । स्वप्न दृष्ट महाजन समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न में सिंह देखकर भयभीत हुआ व्यक्ति जागने पर भयभीत नहीं रहता। इस प्रकार स्वप्निक वस्तुयें जाग्रत में बाधित हो जाती हैं, अतः जागृत से स्वाप्निक वस्तुयें कम सत्ता वाली हैं ।[1] जागृत वस्तुयें अनुभूत वस्तुयें होती हैं जबकि स्वप्न की वस्तुयें स्मृति में निहित होती हैं । स्वप्न व्यक्तिगत होता है । जाग्रत सार्वजनिक है । अर्थात् स्वप्न में देखी हुई वस्तुयें स्वप्नद्रष्टा को ही दिखाई देती हैं। पास सोए हुए को नहीं दिखायी देतीं, जबकि जाग्रत की वस्तुयें सभी को सामान्यरूप से दिखायी देती हैं । इस प्रकार शंकर ने जागृत स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुयें स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है ।

हमने ऊपर के विवरणों में देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उसके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन के प्रसंग में वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं।

शून्यवाद—

नागार्जुन माध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना करते हैं । उनके अनुसार बाह्यवस्तुयें अबोध्य होने के कारण अवास्तव हैं । बाह्यवस्तुओं के स्वभाव में विरोध है जिस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता । सत्य सर्वथा सर्वथा एकरूप होता है । सब प्रपंच, चाहे अन्तर हो चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहां पर विज्ञान और विज्ञेय, दोनों अवास्तव है । ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुयें सिद्ध नहीं हो सकतीं । सम्बन्धों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर संबंध दुर्बोध्य है । नागार्जुन ने चेतन अचेतन सभी को आवस्तव कहा है । जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या है उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है ।[2] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य-पृष्ठ ५५५ ॥

२. माध्यमिक शास्त्र–७-६४ ॥

अवास्तव कहा है, क्योंकि वे प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं । प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है । कारण पर निर्भर शीलता । कोई भी कार्य अपने कारण से व्यतिरिक्त उत्पण्न नहीं हो सकता । कारण नाना हैं । इसका अर्थ हुआ नाना कारणों पर निर्भरशीलता ही कार्य हैं (कार्य यथार्थ नहीं है । यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता है यदि अयथार्थ है, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? नागार्जुन के अनुसार जो भी सापेक्ष है, प्रातीतिक हैं । संसार की वस्तुयें सापेक्ष हैं, इसलिए अवास्तव हैं ।[1] कार्य से अन्य रूप से कारण की, और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती, यदि अतिरिक्त रूप से कारण कार्य की, उपलब्धि हो तब तो उनमें कार्य कारण का सम्बन्ध ही नहीं होगी क्योंकि कार्य कारण का सम्बन्ध अनिवार्य माना गया है । विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन कहते हैं कि सभी धर्म तत्व-रहित हैं । निःस्वाभाव है, क्योंकि वे प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं ।[2] इसी प्रकार आत्मा और स्कन्दों की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है । इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नहीं बनता । वस्तुयें भा वस्तुतः जो उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं ।[3] उत्पत्ति-विनाश प्रतीत होते हैं । वस्तुयें न भावरूप हैं, न अभावरूप हैं, न वस्तु का लक्षण संभव है, न वस्तु ही लक्ष्य बन सकती हैं ।[4] लक्ष्य-लक्षण-भाव आदि बातें काल्पनिक हैं । माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् हैं, न असत् है

---

१. A critical Survey of India Philosophy-/.100-

२. विग्रहव्यावर्तिनी-पृष्ठ २६—बड़ौदा-१६२६ ॥

३. Mahayan Vimasaka cf Nagarjuna-P. 11-Bhattacharya, Cal. 193.

४. तस्मान्भावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणाम् । माध्यमिक शास्त्र-पृ० ५३ ॥

५. अदसत्य दच्चेतियस्य पक्षो न विद्यते
उपालम्भैरिवरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते । चतुः शतक-१६, २५-माध्यमिकशास्त्र में उद्धृत-५ ॥

और न सदसत् हैं, उभयभिन्न हैं। इस प्रकार वस्तु "चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बन-पूर्वक संभव नहीं उसकी उपलब्धि के विषय में किस प्रकार का कथन संभव है ? अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से संभव नहीं है।[5] भावपदार्थ न स्वत: उत्पन्न होते हैं, न परत: और न दोनों से, न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो हतते।[1] जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति संभव नहीं, उनकी निवृत्ति भी संभव नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। यदि उत्पत्ति उक्त विरोध के कारण संभव नहीं, तब विनाश या निरोध भी संभव नहीं।[2]

नागार्जुन वस्तुओं को ही शून्य नहीं कहते, अपितु तत्व को भी शून्य कहते हैं। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभाव-शून्यता। तत्व में किसी प्रकार के स्वभाव नहीं हैं, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निःस्वभावता से ही की है।[3] धर्मशून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैत-ब्रह्म में भी हैं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्यवादि गुण भी नहीं रहते। वह निर्धर्मक है। अद्वैत में भी कार्य को कारण-व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत् कारणानन्य है और व्यावहारिक दृष्टि से कारण-भिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्य जगत् मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं-कहीं पर कार्य-जगत् को नरशृंग, स्वप्नसदृश कहा गया है। कहीं पर मरीच्युपम कहा है। कहीं पर उदक प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व

१. माध्यमिक शास्त्र–पृष्ठ ४ ॥
२. वही-पृष्ठ ७० ॥
३. माध्यमिक शास्त्र-प्रसन्नपदा-टीका-१९१ ॥
४. माध्यमिक शास्त्र-१९३ ॥ दरगंजा-१९६० ॥
५. मायोपमं सुभूते रूपं, मायोपमा वेदना मायोपमा संज्ञा, मायोपमाः संस्काराः, मायोपमं विज्ञानम्। शतसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता-परिवत-६-पृष्ठ ६०७ ॥

समझाया है।[4] शत-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम में कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[5] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के लिए प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वस्तुओं को जब शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, न कि वस्तुओं के अभाव से। इसी कारण से वस्तुओं के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया है। अद्वैत वेदान्त में भी कार्य-जगत् अधिष्ठान सापेक्षतया सत्स्वभाव शून्य है। अद्वैतवादी कहते हैं कि "घट" सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान-बाध्य है। अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान् ब्रह्मचैतन्य को जान लेने पर अद्वैत के अनुसार "घट" बाधित हो जायेगा। तब वह सत् नहीं रहेगा, क्योंकि जो बाध्य है वह परमसत् नहीं है। व्यावहारिक सत् भले ही हो। यहां पर सापेक्षता द्वारा वस्तुओं को मायोपम कहना अद्वैत के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। अद्वैत में मिथ्यात्वानुमान में "परिच्छिन्नत्व" हेतु दिया है। सभी वस्तुयें परिच्छिन्न हैं, अतः मिथ्या हैं। वस्तुयें देशगत और कालगत हैं। कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं हैं। देश-काल से वस्तुयें सीमित हैं। घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद में रहेगा, अतः मिथ्या है।

अष्टम अध्याय

अन्त:करण निरूपण

अन्त:करण शब्द की व्युत्पत्ति—

'अन्त:करण' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है । अन्त:+करण । 'अन्त:' शब्द 'अन्तर' । इस अव्यय से बना है जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों, और सब वचनों में समान रहे तथा जिस का कहीं भी व्यय न हो उसे 'अव्यय' कहते हैं ।[1]

दूसरा शब्द है—'करण' । 'करण' बना है—'डुकृञ[2]-करणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्'[3] इस सूत्र से भाव करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय का संयोग फिर 'युकोरनाको'[4] इस सूत्र रे 'यु' को अनादेश उसके पश्चात् 'रषाभ्यां णो न समान पदे'[5] सूत्र से करण शब्द निष्पन्न होता है । इस प्रकार अन्तर्+करण को मिलाने से अन्त: करण शब्द निष्पन्न होता है ।

अन्त:करण शब्द का अर्थ—

'अन्त:करण' में 'अन्त:' शब्द का अर्थ है अन्दर या गुप्त

---

१. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ॥
वामन जयादित्य रचित काशिका अष्टाध्यायो अ० । पाद-१, सूत्र-३७ की व्याख्या ।

२. डुकृञ-करणे । धातुपाठ महर्षि पाणिनि रचित

३. ल्युट् च । अष्टाध्यायी अ०३ पा०३ सू० ११५।

४. अष्टा. अ. ७, पा. १ सू. १

५. अष्टा. अ. ८, पा. ४ सू. १

या भीतर करण उसको कहते हैं जो क्रिया की सिद्धि प्रकृष्ट उपकारक हो।[1] इस प्रकार दोनों शब्दों को मिलाकर अर्थ बना—अन्तरिक साधन जो क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक हो। जैसे, व्याकरण शास्त्र में—'मैं दण्ड से घोड़े को ताड़ता हूं'—यहां 'दण्ड' ताड़न क्रिया को सिद्धि में अत्यन्त उपकारक (सहायक) है अतः इसको करण कहा गया है।

दर्शनशास्त्र में 'करण' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक रूप में हुआ है। करण दो प्रकार के होते हैं—एक वाह्य दूसरा अन्तः। वाह्य करण दश माने जाते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार "उभय, मिन्द्रयं"[2] और सांख्यकारिका के अनुसार पांच बुद्धि अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा; पांच कर्मेन्द्रियाँ—वाक, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ—हैं।[3]

दूसरा करण अन्तःकरण है। सांख्यादर्शन के अनुसार—'उस अहंकार से अणतःकरण का अनुमान किया जाता है'[4] अर्थात् अहंकार रूप कार्य द्रव्य को देखकर उसके उपादान भूत मुख्य अन्तःकरण (महत्तत्त्व या बुद्धि) का ज्ञान होता है। उसके अनन्तर 'उस अहंकार से प्रकृति का अनुमान है'[5] अर्थात् महत्तत्व रूप कार्य को देखकर उसका प्रकृति रूप उपादान कारण अनुमित होता है। श्रीमत विज्ञानभिक्षु ने अपने प्रवचन भाष्य में सांख्यदर्शन के—'तेनान्तःकरणस्य' सूत्र भाष्य में अन्तःकरण का महत्तत्व किया है।

---

१. अष्टा. अ. १, पाद. ४ सू. ४२

२. सांख्यदर्शन अ.१ सूत्र-६१ व वाह्याभ्यन्तराभ्यां तेश्चाहंकारस्य -अ.१, सू.६३।

३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।।
—ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका, २६

४. तेनान्तःकरणस्य ११ सांख्य अ. १ सूत्र-६४

५. ततः प्रकृतेः। सांख्यदर्शन अ. १ सूत्र-६५

उस अहंकार कार्य के द्वारा उसके कारण अन्तःकरण का अनुमान होता है जो महत् कह कर बुद्धि का अनुमान होता है ।[1] अर्थात् अन्तःकरण महत्, बुद्धि शब्द पर्याय वाची शब्द हैं ।

योगदर्शन के अनुसार भी विशेष-अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग ये गुणों के परिणाम अर्थात् गुणों की सन्धियां हैं ।[2] इसी सूत्र के भाष्य में महर्षि वेदव्यास कहते हैं—कि पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, और ग्यारहवां मन ये १६ अविशेषों के विशेष हैं ।[3]

६ पदार्थ अविशेष हैं—पांच तन्मात्रायें व छठा अहंकार ।[4]

लिङ्मात्रबुद्धि अलिङ् प्रकृति का समीप अर्थात् पहला कार्य है ।[5] अलिङ्ग मूल प्रकृति का नाम है ।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि लिङ्मात्र महत्तत्व, अन्तः करण और बुद्धि पर्यायवाची शब्द हैं ।

परन्तु महर्षि यास्क के निघण्टु कोष में प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि के ११ पर्यायवाची हैं— १-केतः, २-केतुः, ३-केतुः, ४-चित्तम, ५-क्रतः, ६-असुः ७-धीः, ८-शचि, ९-माधा, १०—वयुनम, ११-अभिख्या । इत्येकादश प्रज्ञा नामानि ।[7]

---

१. ततः प्रकृतेः । सांख्यदर्शन अ० १ सूत्र ६५
२. सांख्य सूत्र पर विज्ञानभिक्षु कृत प्रवचन, भाष्य, अ०१ सूत्र-६४
३. महर्षि यास्क रचित निघण्टु कोश, अ. ३, ९
४. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुण पर्वाणि ११-पातंजल योगदर्शन, पाद-२, सूत्र-१६
५. तत्राकाशवायवग्न्दकभूमयोभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध तन्मात्रायामविशेषाः । तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानिकर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः स्वार्थम् । व्यासभाष्य उपरोक्त सूत्र ।

या भीतर करण उसको कहते हैं जो क्रिया की सिद्धि प्रकृष्ट उपकारक हो।[1] इस प्रकार दोनों शब्दों को मिलाकर अर्थ बना—अन्तरिक साधन जो क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक हो। जैसे, व्याकरण शास्त्र में—'मैं दण्ड से घोड़े को ताड़ता हूं'—यहां 'दण्ड' ताड़न क्रिया को सिद्धि में अत्यन्त उपकारक (सहायक) है अतः इसको करण कहा गया है।

दर्शनशास्त्र में 'करण' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक रूप में हुआ है। करण दो प्रकार के होते हैं—एक बाह्य दूसरा अन्तः। बाह्य करण दश माने जाते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार "उभय, मिन्द्रयं"[2] और सांख्यकारिका के अनुसार पांच बुद्धि अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा; पांच कर्मेन्द्रियाँ—वाक, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ—हैं।[3]

दूसरा करण अन्तःकरण है। सांख्यादर्शन के अनुभार—'उस अहंकार से अण्तःकरण का अनुमान किया जाता है'[4] अर्थात् अहंकार रूप कार्य द्रव्य को देखकर उसके उपादान भूत मुख्य अन्तःकरण (महत्तत्व या बुद्धि) का ज्ञान होता है। उसके अनन्तर 'उस अहंकार से प्रकृति का अनुमान है'[5] अर्थात् महत्तत्व रूप कार्य को देखकर उसका प्रकृति रूप उपादान कारण अनुमित होता है। श्रीमत विज्ञानभिक्षु ने अपने प्रवचन भाष्य में सांख्यदर्शन के—'तेनान्तःकरणस्य' सूत्र भाष्य में अन्तःकरण का महत्तत्व किया है।

---

१. अष्टा. अ. १, पाद. ४ सू. ४२

२. सांख्यदर्शन अ.१ सूत्र-६१ व बाह्याभ्यन्तराभ्यां तेश्चाहंकारस्य -अ.१, सू.६३।

३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
—ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका, २६

४. तेनान्तःकरणस्य ११ सांख्य अ. १ सूत्र-६४

५. ततः प्रकृतेः। साँख्यदर्शन अ. १ सूत्र-६५

उस अहंकार कार्य के द्वारा उसके कारण अन्तःकरण का अनुमान होता है जो महत् कह कर बुद्धि का अनुमान होता है।[1] अर्थात् अन्तःकरण महत्, बुद्धि शब्द पर्याय वाची शब्द हैं।

योगदर्शन के अनुसार भी विशेष-अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग ये गुणों के परिणाम अर्थात् गुणों की सन्धियां हैं।[2] इसी सूत्र के भाष्य में महर्षि वेदव्यास कहते हैं—कि पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, और ग्यारहवां मन ये १६ अविशेषों के विशेष हैं।[3]

६ पदार्थ अविशेष हैं—पांच तन्मात्रायें व छठा अहंकार।[4]

लिङ्मात्रबुद्धि अलिङ् प्रकृति का समीप अर्थात् पहला कार्य है।[5] अलिङ्ग मूल प्रकृति का नाम है।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि लिङ्मात्र महत्तत्व, अन्तः करण और बुद्धि पर्यायवाची शब्द हैं।

परन्तु महर्षि यास्क के निघण्टु कोष में प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि के ११ पर्यायवाची हैं— १-केतः, २-केतुः, ३-केतुः, ४-चित्तम, ५-क्रतः, ६-असुः ७-धीः, ८-शचि, ६-माधा, १०-वयुनम, ११-अभिख्या। इत्येकादश प्रज्ञा नामानि।[7]

---

१. ततः प्रकृतेः। सांख्यदर्शन अ० १ सूत्र ६५
२. सांख्य सूत्र पर विज्ञानभिक्षु कृत प्रवचन, भाष्य, अ०१ सूत्र-६४
३. महर्षि यास्क रचित निघण्टु कोश, अ. ३, ६
४. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुण पर्वाणि ११-पातंजल योगदर्शन, पाद-२, सूत्र-१६
५. तत्राकाशवायवग्न्दकभूमयोभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध तन्मात्रायामविशेषाः। तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानिकर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः र्सार्थम्। व्यासभाष्य उपरोक्त सूत्र।

यजुर्वेद के अनुसार धी नाम बुद्धि का है—'हे परमात्मा आप हमारी बुद्धि को पवित्र करो।'[1]

दूसरे स्थान में यजुर्वेद में कहा है—"इस प्रकार वह (सविता) परमेश्वर देव भी (देवान) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख दे के उनकी बुद्धि के साथ आनन्द स्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योति) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और (सविता) जो सब जगत् का पिता है, वही (प्रसुवा) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यत:) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्होंने उपासकों को परमकृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्ष सुख देने के लिए आनन्दयुक्त करेगा।"[2]

परन्तु श्रुति में—"काम, संकल्प, विचिकित्सा श्रद्धा-अश्रद्धा, धैर्य–अधैर्य, ह्री (लज्जा) धी (बुद्धि) भी (भय) से सब मन ही हैं।[3]

---

१. धियो यो नः प्रोचदयात्। यजुर्वेद।
२. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
   बृहज्ज्योति करिष्यत सविता प्रसुवाति तान्॥
   —यजुर्वेद अध्याय-११, मन्त्र-३
   महर्षि दयानन्द कृत अनुवाद "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" पृ.—१६६
३. काम: संकल्पों विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीहित्ये-तत्सर्वं मन एव।

---

५. षड्विशेषा। तद्यथा शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रस-तन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति एकद्वित्रिचतुष्पंचलक्षणः शब्दादय पंच विशेषा, षष्ठश्चाविशेषो स्मितामात्रा इति।-व्यासभाष्य उपरोक्त सूत्र।
६. लिङ्गमात्रमलिङ्गस्यप्रत्यासन्नं, तत्रतत्संसृष्टं' विविच्यते।, वही व्या. भा.।
७. निघण्टुकोश महर्षि यास्क, अ.३, खण्ड-९

दूसरे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि (धी) "मन" शब्द का पर्यायवाची है ।

श्रुति के अनुसार 'मन' चित्त है—उपर्युक्त निघण्टु कोश में —चेतः और चितम् शब्द आते हैं और ये शब्द प्रज्ञा (बुद्धि) के पर्यायवाची है । हम ऊपर कह आये हैं[1] कि धी (बुद्धि या प्रज्ञा) सब मन ही है । अतः यह सिद्ध हो गया कि मन, बुद्धि, चित्त, तीनों पर्यायवाची हैं केवल कार्यभेद से पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं । मन के चित्त होने में श्रुति पुनः प्रबल प्रमाण देती है । इतना ही नहीं अपितु प्रस्तुत श्रुति में कहा है कि "मन की प्रज्ञा बुद्धि (धी) है मन ही (चेतः) चित्त है । और धैर्य का साधक भी मन ही है और जो ज्योति (अन्तः) अन्तःकरण में छिपी है जो मरणधर्मा से रहित है और जिस मन के द्वारा कुछ भी कर्म नहीं किया जा सकता । ऐसा मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो ।[2]

इस प्रकार सिद्ध हो गया है कि मन, बुद्धि, चित्त, एक ही है । और ये मरणधर्म रहित हैं ।[3] सांख्यदर्शन में कहा है—प्रकृति का प्रथम विकार भूत जो महत्तत्व है वह मन पद से भी अभिहित होता है ।[4]

और विज्ञानभिक्षु ने इसी सूत्र की टीका में कहा है—प्रकृति का प्रथम विकार भूत महतत्व है वह मनन बुद्धि वाला होने से मन कहा गया है। यहां मन का अर्थ निश्चय करने वाली बुद्धि है ।[5] फिर कारिका प्रस्तुत करते हैं ।

---

१. वही निघण्टुकोश अ. ३, सू. ६

२. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्चयज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्मक्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
यजुर्वेद, अ-३, मं-३

३. अमृतम् ।। यजुर्वेद अ. ३४, मन्त्र-३

४. महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।। सांख्यदर्शन, अध्याय-१, सूत्र-१७

५. सांख्यसूत्र अ. १, सूत्र-७१ का, विज्ञानभिक्षुकृतप्रवचन भाष्य

जो प्रधान (प्रकृति) का विस्तृत बीज है उसे ही महत्तत्व और उसे ही बुद्धि कहा गया है।[6] और वायु पुराण में में भी–बुद्धि, मन, लिङ्ग (महत्) महानक्षर ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध हो चुका कि मन, बुद्धि, चित्त, अन्तःकरण है। परन्तु वेदान्त परिभाष में चार प्रकार के अन्तः-करण दिये हैं––मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है जिसको विषय क्रमशः मनन, निश्चय, स्मरण और अभिमान है।[2] अतः वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण चार हैं। शांकरभाष्य के वेदान्त में अन्तः-करण चार हैं।[3] आचार्य शंकर के अहं ब्रह्मास्मि ऐसा श्रुति के उदाहरण से अहंकार का अनुमान होता है क्योंकि सांख्यदर्शन में कहा है कि—अभिमान ही अहंकार है।[4]

वेदान्तदर्शन के अनुसार अन्तःकरण का अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए अन्यथा नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा।[5]

अहंकार चित्त की वृत्ति का नाम है :

---

१. बुद्धिर्मनश्च लिङ्ग च महानक्षर एव च
पर्यायवाचकैः शब्दैः तमाहुस्तत्वचिन्तिकाः ॥
–वायुपुराण, अ. १०२,२१

२. मनो बुद्धि रहंकारश्चित्तम् करणमन्तर।
संशयो निश्चयो गर्व स्मरणं विषया इमे ॥
–श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र वेदान्त परिभाषाप्रत्यक्ष परिच्छेद।

३. शांकरभाष्य वेदान्तदर्शन, अ. २, पाद.३, सूत्र-३०-३२

४. अभिमानो अहंकार-सांख्यादर्शन-अ. २

५. वेदान्तदर्शन अ. ३, पा. २, सूत्र-३२

---

६. यदेतद्विस्तृतं बीजं प्रधानपुरुषत्मकम्।
महत्तत्वमिति प्रोक्त बुद्धि तत्त्वं तद्वच्यते ,।
–प्रवचनभाष्य विज्ञानभिक्षुकृत उपरोक्त सूत्र '

'अस्मिता' क्लेश हो तो अहंकार है अब दृक् शक्ति 'आत्मा' और दर्शन शक्ति 'बुद्धि' को एक मान लिया जाय तब 'अस्मिता' नाम का क्लेश होता है।[6] महर्षि वेदव्यास ने इस सूत्र के भाष्य में कहा है--'पुरुष' देखने वाली शक्ति हैं। बुद्धि दिखाने वाली शक्ति हैं, इस प्रकार भिन्न होने पर इन दोनों का स्वरूप एक पदार्थ के समान न होना 'अस्मिता' क्लेश कहा जाता है।[7]

इस सिद्धान्त की पुष्टि में महाराजा भोज देव भी कहते हैं—जिस प्रकार अन्त:करण की प्रवृत्ति से सम्बन्ध वाला पुरुष कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित होने पर भी "मैं कर्त्ता हूं", 'मैं भोक्ता" इस प्रकार मानता है[1] और व्यासभाष्य के अनुसार बुद्धि से सूक्ष्म पुरुष स्वरूप को विद्यादि के द्वारा भिन्न न देखना और उस बुद्धि को अज्ञान से आत्मा जानना भोग का स्वरूप है।[2] और लोक में भी (अहंकार) चित्त के लिए ही आता है यथा—मैं हारा, मैं जीत यगा, परन्तु आत्मा न हारता है, न जीतता है।

अन्त:करण की परिभाषा देने से पूर्व अब विचारणीय विषय यह है कि अन्त:करण के बारे में शास्त्रीय मान्यतायें क्या हैं क्योंकि उसके उपरान्त ही अन्त:करण की परिभाषा का निश्चय हो सकेगा। यहां वेद[3] वेदान्त[4] उपनिषद[5] और योग[6] के उदाहरण देकर

---

१. यथाप्रकृतिावलाकर्तृत्वभोक्तृत्वरहितोऽपि कर्त्र्यहं भोक्त्र्यहमित्यभिमन्यते।– व्यासभाष्य पर भोजवृत्ति योगवृत्ति योगदर्शन, पा० २, सू०-६

२. बुद्धितः परं पुरुषमाकारशोलविद्यादिभिक्तरपश्यत्कुर्यात्तत्राऽऽलबुद्धि महिन इति। –व्यासभाष्य योगदर्शन, पाद-२, सू०-६

३. यजुर्वेद : अ. ३४, म०-३, अ०-३४, म०-१, अ. ११, म०-३

---

६. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ योगदर्शन पाद २१, सू. ६

७. पुरुषोदृक्शक्तिर्बुद्धि दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्येत। -व्यास भाष्य, योगदर्शन, पाद-२, सूत्र-६

यह कह सकते हैं कि अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। परन्तु न्याय दर्शन मन, बुद्धि और चित्त को अन्तःकरण मानता है। जिसके यहां प्रमाण दिये जाते हैं—

अन्तःकरण के विषय में न्याय दर्शन को मान्यता—

एक समय में दो ज्ञान न होना मन का लक्षण है।[7]

बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इन तीनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं अर्थात् तीनों पर्यायवाची हैं।[8]

चित्त की एकाग्रता अथवा प्रणिधान, अथवा मन को धारण और (लिङ्गादिज्ञानानम्) लिङ्ग आदि के ज्ञानों के (युगपत्भावात्) एक साथ न होने से (युगपत् स्मरणम्) एक समय में ज्ञान नहीं होते।[1]

४. वेदान्तदर्शन अ. २, पाद-३, सूत्र-३२, शांकरभाष्य वेदान्तदर्शन अ.-२, पा-३, सू.३२
वेदान्तदर्शन अ.-२, पाद-३, सूत्र-३०
वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत प्रत्यक्ष परिच्छेद।

५. बृहदारण्यक उपनिषद, २, ५, ३, मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। ५, ३।

६. धारणासु च योग्यतामनसः। अर्थात् प्राणायाम से मन की धारणा में योग्यता हो जाती है। –योगदर्शन, पा-१, सू-५३, उस समय बुद्धि (प्रज्ञा) ऋतम्भरा हो जाती है–योगदर्शन, पा.-१, सू०-४८, हृदय में ध्यान करने से चित्त के दर्शन होते हैं। - योग-दर्शन, पा-२, सू.-६

७. युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्यायदर्शन, अ. १, आ. १, सू०-१६

८. बुद्धिरूपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम् न्या. अ. १, आ०१, सू० १६

१. प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्ऽस्मरणम्। न्या. अ.३, आ.२, सूत्र-३३

अन्तःकरण के विषय में वैशेषिक दर्शन को मान्यता—

वैशेषिक दर्शन में मन को द्रव्य माना है।[2] और वृद्धि को उस मन रूपी द्रव्य का गुण माना है[3] अतः मन बुद्धि का गुण-गुणो का सम्वन्ध है।

यदि हम तर्क के अनुसार कि गन्ध पृथिवी का गुण है परन्तु पृथिवी क्या कभी गन्ध को त्याग सकती है ? अतः जहां-जहां गन्ध होगी वहां-वहां पृथिवी अवश्यमेव होगी अतः सिद्ध होता है कि मन के कहने से बुद्धि का वोध और बुद्धि के कहने से मन का वोध होता है। परन्तु निघण्टुकोश[4] में बुद्धि (धीः) के ग्रहण से चेतः और चित्तम् का भी ग्रहण होता है क्योंकि चेतः और चित्तम् ये धी (बुद्धि) शव्द के पर्यायवाची हैं। अतः सिद्ध हुआ कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार अन्तःकरण तीन है—मन, बुद्धि और चित्त।

'सांख्यदर्शन के अनुसार अन्तःकरण' के

१. धर्म और अधर्म अन्तःकरण के धर्म हैं।[5]
२. मन उभय इन्द्रिय है।[6] भोगचित्त पर्यन्त हैं।
३. बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराती है।[7]

सांख्य कारिका[1] की सांख्यतत्व कौमुदी में तीन अन्तःकरण माने हैं मन, बुद्धि और अहंकार। जिसमें महत् (बुद्धि) निश्चय कराने

---

२. पृथिवो......मनइतिद्रव्याणि वैशे० द० अ०-१,१,५
३. रूपगन्धस्पर्शस्संख्या...बुद्धयःसुखदुःखै इच्छाद्वेपोप्रयत्नाश्चगुणाः वै-१, १, ६
४. महर्पि यास्क निघण्टुकोश, अ. ३, खण्ड-९
५. अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। सांख्यदर्शन, अ.५ सू.-२५
६. उभयात्मकं मनः। व चिदावसान भागः। सांख्यदर्शन, अ. २, सू०-२६ व १-१०४
७. अध्यवसायो बुद्धि। सांख्यदर्शन अ. २, सू०-१३

१, ईश्वरकृष्णरचित कारिका॥ २९

यह कह सकते हैं कि अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। परन्तु न्याय दर्शन मन, बुद्धि और चित्त को अन्तःकरण मानता है। जिसके यहां प्रमाण दिये जाते हैं—

अन्तःकरण के विषय में न्याय दर्शन की मान्यता—

एक समय में दो ज्ञान न होना मन का लक्षण है।[7]

बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इन तीनों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं अर्थात् तीनों पर्यायवाची हैं।[8]

चित्त की एकाग्रता अथवा प्राणिधान, अथवा मन को धारण और (लङ्गादिज्ञानानम्) लिङ्ग आदि के ज्ञानों के (युगपत्भावात्) एक साथ न होने से (युगपत् स्मरणम्) एक समय में ज्ञान नहीं होते।[1]

---

४. वेदान्तदर्शन अ. २, पाद-३, सूत्र-३२, शांकरभाष्य वेदान्तदर्शन अ.-२, पा-३, सू.३२
वेदान्तदर्शन अ.–२, पाद–३, सूत्र-३०
वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत प्रत्यक्ष परिच्छेद।

५. बृहदारण्यक उपनिषद, २, ५, ३, मनसा ह्येव पश्यति मनसा श्रृणोति। ५, ३।

६. धारणासु च योग्यतामनसः। अर्थात् प्राणायाम से मन की धारणा में योग्यता हो जाती है। –योगदर्शन, पा-१, सू-५३, उस समय बुद्धि (प्रज्ञा) ऋतम्भरा हो जाती है–योगदर्शन, पा.-१, सू०-४८, हृदय में ध्यान करने से चित्त के दशन होते हैं। - योग-दर्शन, पा-२, सू.-६

७. युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्यायदर्शन, अ. १, आ. १, सू०-१६

८. बुद्धिरूपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम् न्या. अ. १, आ०१, सू० १६

---

१. प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्ऽस्मरणम्। न्या. अ.३, आ.२, सूत्र-३३

अन्त:करण के विषय में वैशेषिक दर्शन की मान्यता—

वैशेषिक दर्शन में मन को द्रव्य माना है।[2] और बुद्धि को उस मन रूपी द्रव्य का गुण माना है[3] अतः मन बुद्धि का गुण-गुणी का सम्बन्ध है।

यदि हम तर्क के अनुसार कि गन्ध पृथिवी का गुण है परन्तु पृथिवी क्या कभी गन्ध को त्याग सकती है? अतः जहां-जहां गन्ध होगी वहां-वहाँ पृथिवी अवश्यमेव होगी अतः सिद्ध होता है कि मन के कहने से बुद्धि का बोध और बुद्धि के कहने से मन का बोध होता है। परन्तु निघण्टुकोश[4] में बुद्धि (धीः) के ग्रहण से चेतः और चित्तम् का भी ग्रहण होता है क्योंकि चेतः और चित्तम् ये धी (बुद्धि) शब्द के पर्यायवाची हैं। अतः सिद्ध हुआ कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार अन्तःकरण तीन है—मन, बुद्धि और चित्त।

'सांख्यदर्शन के अनुसार अन्तःकरण' के

१. धर्म और अधर्म अन्तःकरण के धर्म हैं।[5]
२. मन उभय इन्द्रिय है।[6] भोगचित्त पर्यन्त हैं।
३. बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कराती है।[7]

सांख्य कारिका[1] की सांख्यतत्व कौमुदी में तीन अन्तःकरण माने हैं मन, बुद्धि और अहंकार। जिसमें महत् (बुद्धि) निश्चय कराने

---

२. पृथिवी......मनइतिद्रव्याणि वैशे० द० अ०-१,१,५
३. रूपगन्धस्पर्शस्संख्या...बुद्धयःसुखदुःखै इच्छाद्वेषोप्रयत्नाश्चगुणाः वै-१, १, ६
४. महर्षि यास्क निघण्टुकोश, अ. ३, खण्ड-९
५. अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। सांख्यदर्शन, अ.५ सू.-२५
६. उभयात्मकं मनः। व चिदावसान भागः। सांख्यदर्शन, अ. २, सू०-२६ व १-१०४
७. अध्यवसायो बुद्धि। सांख्यदर्शन अ. २, सू०-१३

१, ईश्वरकृष्णरचित कारिका ॥ २९

वाली है। अभिमान अहंकार है, संकल्प करने वाला मन है[2] अत: सांख्यतत्व कौमुदी के अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार तीन अन्त:-करण हैं। और यदि निघण्टु कोश[3] के अनुसार धी (बुद्धि) को चित्त का पर्यायवाची माने तो अन्त:करण चार हैं और सांख्यदर्शन के "चिदावसान: भोग।"[4] इस सूत्र के अनुसार चित्त शब्द बुद्धि का पर्यायवाची है। अत: अन्त:करण—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार है।

साँख्यदर्शन के प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने अहंकार को अन्त:करण का द्रव्य माना है और कहा है—

जो 'अहं' को करता है वह अहंकार है यह कुम्भकार के समान अन्त:करण का द्रव्य है वह धर्माधर्म के अभेद से असाधारण वृत्त की सूचना के लिए अभिमान कहा जाता है। बुद्धि के द्वारा निश्चित अर्थ में ही अहंकार ममकार के रूप में उत्पन्न होता है। बुद्धि और अहंकार का सम्बन्ध बीज और बीजांकुर के समान है।[5]

---

२. अन्त:करणस्यवृत्तिमाह— "स्वालक्षण्यम्" इति। स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य। स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि महदहंकार-मनांसि तेषाभाव: स्वालक्षण्यं तच्चस्वानि स्वानि लक्षणान्येव। तद्यथा—महतो व्यवसाय:, अहंकारस्याभिमान:, संकल्पो मनसो वृत्ति व्यापार:।
-सांख्यकारिका पर आचार्य वाचस्पति मिश्र प्रणीत साख्यतत्वकौमुदी–कारिका २९ की वृत्ति।

३. निघण्टु कोश, अ. ३, खण्ड–९

४. सांख्यदर्शन, अ. १, सूत्र-१०४

५. अहंकारोतीत्यहंकार कुम्भकारवत् अन्त:करणद्रव्यम्। स च धर्मा-धर्म्म भेदादभिमान इत्युक्तो साधारणवृत्तितासूचनाय। बुद्धया निश्चित एवाथ हंकार-ममकारो जायेते। अतो वृत्यो: कार्य-कारणभावानुसारेण वृत्तिमतोरपिकार्यकारणभाव उन्नीयत इति प्रागेवोक्तम्। अन्त:करणमेकमेव बीजाँकुरसहावृक्षादिवदवस्था-त्रयमात्र भेदात् कार्यकारणभावमापद्यत इति प्रागेवोक्तम्।
-सांख्यदर्शन प्रवचन, भाष्य, अ. २, सू.-१६

इसके पश्चात अपने सिद्धान्त को पुष्टि में विज्ञानभिक्षु ने वायु और मत्स्य पुराण का उदाहरण दिया हैं कि मन और बुद्धि दोनों एक पर्यायवाची शब्द हैं।[1] इस प्रकार सांख्य के अनुसार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण हैं।

मनुस्मृति में मनु ने कहा है कि मन को वश में करने से ११ इन्द्रियां वश में हो जाती हैं।[2] अतः यहां महाराज मनु ने मन को अन्तःकरण के रूप में स्वोकार किया है—ऐसा अनुमान होता है।

योगवाशिष्ठ के अनुसार अन्तःकरण–

योगवाशिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ ने अहंकार को मन की वृत्ति माना है।[3] और मन को अन्तःकरण माना है—"श्री रामचन्द्र कहते हैं कि मुनीश्वर, "आपत्तियों की प्राप्ति होने पर दुःख और मोह जिनसे दूर रहते है, स्वास्थ्य और सम्पत्ति में जो अहंकार शून्य मन से सुशोभित होते हैं तथा सुन्दरी रमणियां जिनके अन्तःकरण में आघात नहीं पहुंचा सकती अर्थात् विकार उत्पन्न नहीं कर सकती, ऐसा महात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। जो हाथियों की सेना रूपी तरंगों से उद्वेलित होने वाले समर सागर को अपने बल विक्रम के द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी बुद्धि में शूरवीर नहीं है, मैं तो उन्हीं को शूरवीर मानता हूं जो मन रूपी उत्ताल तरंगों से

---

१. मनो महानमतिर्ब्रह्मापूर्वबुद्धिःख्यातिरीश्वरः
–वायुपुराण ४-२५; मत्स्ये तु न दृश्यते।

२. एकादशमनो ज्ञेय स्वगुणेनोभ्यात्मकम्।
यस्मिजिते जितावेतो भवतः पंचकौ गुणौ॥-मनुस्मृति, २-९२

३. कृच्छ्रेषु दूरास्त विषादमोहाःस्वास्थयेषुनोत्सिक्तमनोऽभिरामाः।
मुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरोभिरताहतान्तःकरणा महान्तः॥
–योगवाशिष्ठ, वैराग्यप्रकरण, सर्ग-२७, श्लोक-८

पूर्ण इस देह और इन्द्रिय रूपी समुद्र को विवेक वैराग्य आदि के द्वारा लांघ जाते हैं ।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि जिसके मन में अहंकार का भाव नहीं है जिसकी बुद्धि कर्मों में लिप्त नहीं होती वह इस सम्पूर्ण लोक को मारता हुआ भी नहीं मरता और न (पाप से) बांधा जाता है ।[2] अत: गीता भी मन बुद्धि अहंकार को अनुमानत: अन्त:करण के रूप में स्वीकार करती है ।

परिभाषा-

अन्त:करण अन्दर के करण को कहते हैं जो जीवात्मा का अत्यन्त उपकारक है[3] जो भोग और मोक्ष[4] का सम्पादन करता है, जो अजिर[5] अर्थात् जीर्ण न होने वाला और अमर है जो जाग्रतावस्था और सुषुप्तावस्था अर्थात् स्वप्नावस्था में दूर-दूर तक आता है ।[1] अर्थात् जीवात्मा के सारे कार्य सम्पादन करता है, जीवात्मा के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध है और जो शास्त्रों में मन,[2] बुद्धि,[3]

---

१. तरन्तिमातंगघटातरंगरणाबुद्धिं ये मयि ते न शूरा: ।
शुरास्त एवेह मनस्तरंग देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥
-यो०वा०वै० प्र० २७, ९

२. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य य लिप्यते ।
हत्वान्निस इमालोकान्न हन्ति न निवध्यते॥-गीता अ.१८श्लोक१७

३. साधकतम् करणम् । अष्टाध्यायी अ० सू०

४. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भेगापवर्गार्थं दृश्यम् ।-योगदर्शन पा० १

५. यदजिर अविष्ठ-यजुर्वेद, अ. ३४

---

१. 'अमृतेन' यजुर्वेद अ. ३४

२. युगपज्ज्ञानानुपतिर्मनसोलिङ्गम् । – न्यायदर्शन, अ.:१, आ०-१, सू०-१६

चित्त,[4] अहंकार,[5] आदि नामों से उद्धृत किया गया है उसे अन्तः-करण कहते हैं।

अन्तःकरण की उपयोगिता–

अन्तःकरण की परिभाषा देने के उपरान्त अन्तःकरण की उपयोगिता पर विचार किया जाता है कि जीव अन्तःकरण ज्ञानप्राप्ति में कितना सहायक है। अन्तःकरण के मुख्य व्यापार क्या हैं? वह किस प्रकार जीवात्मा के लिए भोग व उप-वर्ग सम्पादन करता है, उसका जीवन में क्या उपयोग है, इत्यादि।

सांख्यदर्शन में महर्षि कपिल ने कहा है कि धर्म और अधर्म अन्तःकरण के धर्म हैं।[6] धर्म के लक्षण महाराज मनु ने मनुस्मृति में दिये हैं—धृति (धैर्य) क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी (बुद्धि) विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्म के दश लक्षण हैं।[7] इससे विपरीत दश लक्षण अधर्म के हैं।

अन्तःकरण (चित्त) आत्मा के लिए भोग व मोक्ष सम्पादन करता है।

सांख्यादर्शन में महर्षि कपिल कहते हैं कि भोगों की समाप्ति चित्त हैं अर्थात् चित्त तक ही भोगों की सत्ता है। आगे आत्मा को प्रभावित नहीं करते।[1]

---

३. अध्यवसाय बुद्धि।–सांख्यदर्शन, अ. २, सू०-१३
४. हृदये चित्तसंवित्।–योगदर्शन, पाद३, सू०-२४
५. अभिमानोऽहंकार। –सांख्यदर्शन, अ. , सू० १६
६. अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्–सांख्यदर्शन, अ. ५, सू० २५
७. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥– मनुस्मृति अ० ६ श्लोक ९२

१. चिदावसानः भोयः। सांख्यदर्शन, अ, १ सू. १०४

शास्त्रों में भोग को हेय कहा गया है—

द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्त:करण का संयोग ही तो हेय का हेतु है ऐसा महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में कहा है।[2] प्रकृति ही भोग का कारण है—ऐसा ही योगदर्शनकार का मत है।[3] पुन: आगे कहा है उस द्रष्टा के लिए दृश्य (अन्त:करण) का स्वरूप है। इसी सूत्र पर महर्षि वेदव्यास ने भाष्य में कहा है—देखने वाले पुरुष (जीवात्मा) के कर्म और फल योगार्थ दृश्य है उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिए ही दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् "स्वरूप" होता है यह अर्थ है वह जड़ बुद्धि का स्वरूप 'पर' अर्थात् चेतन स्वरूप के समान प्राप्त होता है इसलिए भोग, मोक्ष प्रयोजनार्थ हुई बुद्धि पुरुष से नहीं देखी जाती। अब प्रश्न होता है कि क्या इस दृश्य (अन्तकरण) का नाश हो जाता है? उत्तर, नहीं होता।[4]

जब इस प्रकार पुरुष का भोग सम्पादन करना ही प्रयोजन है तो फिर उसके भोग सम्पादन करने पर वह निष्प्रयोजन हुई व्यापार रहित होगी। इस परिणाम स्वरूप शून्यकाल में पुरुष स्वरूप से शुद्ध होने के कारण सर्वद्रष्टा पुरुष बन्ध रहित होता है इस कारण फिर संसार का उच्छेद जाये इस शंका के निवारणार्थ आगे कहते हैं[1]—

"सम्पादन किया है प्रयोजन जिस पुरुष का उसके लिए नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों के साधारण होने से वह दृश्य नष्ट नहीं होता।[2]

२. द्रष्टृदृश्ययो: संयोगो हेय हेतुः।-योगदर्शन, पाद, २; सू. १७
३. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।-योगदर्शन, पा.२, सू. २१
४. योगदशन पाद. २, सू०-२१:व्यासभाष्यः।

१. योगदर्शन के व्यासभाष्य पर भोजवृत्ति पाद २, सू०-२
२. योगदर्शन- पाद-२, सूत्र-२२

साँख्यदर्शन में महर्षि कपिल ने कहा है—'प्रधान' (प्रकृति या अन्त:करण) की प्रवृत्ति (मध्यादि रूप में परिणाम अवं कतृत्व) नित्य मुक्त पुरुष विवेकाभ्यास पूर्वक मोक्ष के लिए एवं अपने भोग के लिए (शब्दादि बोध के लिए) होती हैं। भोग (स्वार्थ) एवं अपवर्ग (विमुक्त-मोक्ष) द्विविध पुरुषार्थ तत्वत: चित्त व्याहार है, जब ये दोनों चरितार्थ नहीं हो जाते, तब तक प्रधान का वैषम्य चित्त प्रवाह रूप में चलता सा रहेगा—यह सूत्र का तात्पर्य है ।[3]

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं "स्वभाव से दु:ख बन्धन से विमुक्त पुरुष का प्रतिबिम्ब रूप दु:ख मोक्ष के लिए अर्थात् प्रतिबिम्ब सम्बन्ध के द्वारा दु:ख के मोक्ष के लिए प्रकृति कर्तृत्व है। अथवा अपने लिए अपना पारमार्थिक दु:ख मोक्ष के लिए" यह इसका अर्थ है। यद्यपि मोक्ष के समान भोग भी सृष्टि का प्रयोजन है तथापि मुख्य रूप से मोक्ष ही कहा गया है ।[4]

सांख्यदर्शन के प्रथमाध्याय में महर्षि कपिल ने कहा है कि जगत के सम्पूर्ण जड़ पदार्थ जीवात्मा के भोग के लिए ही है, उन सबका उपभोग करने वाला होने से 'जीवात्मा' भोक्ता है ।[1] यद्यपि पुरुष निर्लेप है।

पुन: आगे कहते हैं कि कैवल्य की प्रवृत्ति जीवात्मा में पायी जाती है ।[2]

---

३. विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य; साँख्यदर्शन, अ.२, सू०-१
-अनु० राम शंकर भट्टाचार्य

४. स्वभावतो दु:खबन्धाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिबिम्बरूप दु:खमोक्षार्थप्रतिबिम्बन्धेन दु:खमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगतकर्तृत्वम् ,......... एवोक्तं ।
—प्रवचनभाष्य सांख्यदर्शन. अ० २, सू० १

१. सांख्यदर्शन, अ. १, सू.-१४३

२. सांख्यदर्शन, अ. १, सूत्र-१४४

शास्त्रों में भोग को हेय कहा गया है—

द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्त:करण का संयोग ही तो हेय का हेतु है ऐसा महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में कहा है ।[2] प्रकृति ही भोग का कारण है—ऐसा ही योगदर्शनकार का मत है ।[3] पुन: आगे कहा है उस द्रष्टा के लिए दृश्य (अन्त:करण) का स्वरूप है। इसी सूत्र पर महर्षि वेदव्यास ने भाष्य में कहा है—देखने वाले पुरुष (जीवात्मा) के कर्म और फल योगार्थ दृश्य है उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिए ही दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् "स्वरूप" होता है यह अर्थ है वह जड़ बुद्धि का स्वरूप 'पर' अर्थात् चेतन स्वरूप के समान प्राप्त होता है इसलिए भोग, मोक्ष प्रयोजनार्थ हुई बुद्धि पुरुष से नहीं देखी जाती । अब प्रश्न होता है कि क्या इस दृश्य (अन्तकरण) का नाश हो जाता है ? उत्तर, नहीं होता ।[4]

जब इस प्रकार पुरुष का भोग सम्पादन करना ही प्रयोजन है तो फिर उसके भोग सम्पादन करने पर वह निष्प्रयोजन हुई व्यापार रहित होगी। इस परिणाम स्वरूप शून्यकाल में पुरुष स्वरूप से शुद्ध होने के कारण सर्वद्रष्टा पुरुष बन्ध रहित होता है इस कारण फिर संसार का उच्छेद जाये इस शंका के निवारणार्थ आगे कहते हैं[1]—

"सम्पादन किया है प्रयोजन जिस पुरुष का उसके लिए नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों के साधारण होने से वह दृश्य नष्ट नहीं होता ।[2]

---

२. द्रष्टृदृश्ययो: संयोगो हेय हेतु ।-योगदर्शन, पाद. २; सू. १७
३. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।—योगदर्शन, पा-२, सू. २१
४. योगदर्शन पाद. २, सू०-२१ःव्यासभाष्यः।

१. योगदर्शन के व्यासभाष्य पर भोजवृत्ति पाद २, सू०-२
२. योगदर्शन- पाद-२, सूत्र-२२

साँख्येदर्शन में महर्षि कपिल ने कहा है—'प्रधान' (प्रकृति या अन्त:करण) की प्रवृत्ति (मध्यादि रूप में परिणाम अवं कतृत्व) नित्य मुक्त पुरुष विवेकाभ्यास पूर्वक मोक्ष के लिए एवं अपने भोग के लिए (शब्दादि बोध के लिए) होती हैं। भोग (स्वार्थ) एवं अपवर्ग (विमुक्त-मोक्ष) द्विविध पुरुषार्थ तत्वत: चित्त व्याहार है, जब ये दोनों चरितार्थ नहीं हो जाते, तब तक प्रधान का वैषम्य चित्त प्रवाह रूप में चलता सा रहेगा—यह सूत्र का तात्पर्य है।[3]

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं "स्वभाव से दु:ख बन्धन से विमुक्त पुरुष का प्रतिविम्व रूप दु:ख मोक्ष के लिए अर्थात् प्रतिविम्व सम्बन्ध के द्वारा दु:ख के मोक्ष के लिए प्रकृति कर्तृत्व है। अथवा अपने लिए अपना पारमार्थिक दु:ख मोक्ष के लिए" यह इसका अर्थ है। यद्यपि मोक्ष के समान भोग भी सृष्टि का प्रयोजन है तथापि मुख्य रूप से मोक्ष ही कहा गया है।[4]

सांख्यदर्शन के प्रथमाध्याय में महर्षि कपिल ने कहा है कि जगत के सम्पूर्ण जड़ पदार्थ जीवात्मा के भोग के लिए ही है, उन सबका उपभोग करने वाला होने से 'जीवात्मा' भोक्ता है।[1] यद्यपि पुरुष निर्लेप है।

पुन: आगे कहते हैं कि कैवल्य की प्रवृत्ति जीवात्मा में पायी जाती है।[2]

---

३. विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य; साँख्यदर्शन, अ.२, सू०-१
-अनु० राम शंकर भट्टाचार्य

४. स्वभावतो दु:खवन्धाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिविम्वरूप दु:खमोक्षार्थप्रतिविम्वन्धेन दु:खमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगतकर्तृत्वम् ,......... एवोक्तं।
—प्रवचनभाष्य सांख्यदर्शन. अ० २, सू० १

१. सांख्यदर्शन, अ. १, सू.-१४३

२. सांख्यदर्शन, अ. १, सूत्र-१४४

इसके भाष्य में प्रवचन भाष्यकार विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—यदि शरीरादि ही भोक्ता है तो भोक्ता को कैवल्य के लिए और दुःख के अत्यन्त उच्छेद की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शरीरादि का विनाश होने से और प्रकृति का धर्मी मानने से दुःख स्वाभाविक ऐसा सिद्ध होने से कैवल्य असम्भव हो जायेगा। क्योंकि स्वभाव का अत्यन्त उच्छेद नहीं घटता है, यह अर्थ है।[3]

प्रमाण पुष्ट करने के लिए लिए विज्ञानभिक्षु को सांख्यकारिका को उद्धृत किया है—

संघात या संघटनात्मक वस्तुओं के परार्थ होने के कारण त्रिगुणत्व आदि धर्मों से विपरीत धर्म वाले के रूप में अपेक्षित होने, अधिष्ठान या नियन्त्रण के लिए किसी को अपेक्षा होने, किसी भोक्ता की अपेक्षा होने एवं कैवल्य या मोक्ष के लिए (शास्त्रों व मनीषियों को) प्रवृत्ति होने के कारण यह सिद्ध होता है कि पुरुष की सत्ता है ।[4]

यद्यपि प्रस्तुत कारिका में पुरुष की सिद्धि की गई है परन्तु प्रकृति ही तो पुरुष के लिए भोग व मोक्ष का कारण है ।

पुरुष के भोग व मोक्ष की पुष्टि में पुनः सांख्यकार कहते हैं कि आत्मा के संचित कर्म से भोग का अवसान (प्राप्ति या समाप्ति) चेतन में है।[1] और परम्परा से विवेक के सिद्ध होने से मोक्ष श्रुति सम्मत है ।[2]

---

३. प्रवचनभाष्य सांख्यदर्शन, अ. १, सूत्र-१४४

४. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाधिष्ठानात् ।
पुरुषोस्ति भोक्तृ भावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥—सांख्यकारिका;
— कारिका १७

१. चिदवसानामुक्तिस्तत्कमार्जितत्वात् । सांख्यदर्शन, अ.६, सू०-५५

२. सांख्यदर्शन, अ. ६, सू०-५८

श्रुति भी कहती है—कि मैं ऐसे पुरुष को जानता हूं जो महान है जिसका वर्ण आदित्य के समान है जो अन्धकार से परे है इसके अतिरिक्त यहां कोई मार्ग नहीं है।[3]

इसी प्रकार न्यायशास्त्र में भी कहा है कि जब मिथ्या ज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं उसके पीछे प्रकृति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है। उसके नाश हो जाने से फिर जन्म नहीं होता उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव होने से पूर्वोक्ति परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिए परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है।[4]

इसी प्रकार वेदान्त[1] और कठोपनिषद्[2] से प्रतीत होता है कि मुक्ति में मन ही कारण है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।[3]

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है कि वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और

---

३. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
—यजुर्वेद।

४. न्यायदर्शन, अ. १, आ०-१, सू०-२, म० दयानन्द कृत व्याख्या ऋ० वा०भा० भू० मुक्ति विषय।

१. वेदान्तदर्शन, अ. ४, पाद-४, सू०-१०-१२
२. कठोपनिषद्, ६, मं०-१०, ११, १४, १५
३. मन एव मनुष्याणां कारणबन्धमोक्षयोः।

भोक्ता होकर उसमें सदा रमण करता है क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती है ।[4]

मन से ही भोग होता है ऐसा वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि अन्यत्र मन था इसलिए मैंने नहीं देखा, अन्यत्र मन था इसलिए मैंने नहीं सुना ।[5]

मन ही के द्वारा सुनता है, मन ही के द्वारा देखता है ।[6]

अन्तःकरण के भोग और मोक्ष के विषय में मनु का विचार है कि इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से अवश्य ही दोषों की प्राप्ति होती है अर्थात् भोगों की प्राप्ति होती है क्योंकि भोग से दोष उत्पन्न होता है किन्तु अन्तःकरणादि व बाह्यकरणादि अर्थात् इन्द्रियों के वश में होने पर परमार्थ लाभ (मोक्ष) होता है ।[1]

पुनः मनु कहते हैं कि सुनकर, स्पर्शकर, खाकर और सूंघकर जो प्रसन्न या अप्रसन्न न हो वही जितेन्द्रिय कहा जाता है ।[2] अर्थात् वही मन को जीत कर परमार्थ लाभप्राप्त करता है ।

---

४. देवेन चक्षुषा मनसेतान् कामनापश्यन् रमते ।
—छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक–८, ख. ११ (प्रवाक ५)

५. अन्यत्र मनो अभुवं नादर्शमन्यत्रमता अभूवं नाश्रोपम् । वृह० उप. १-५-३

६. मनसा ह्येव पश्यति, मनसा ह्येव श्रृणोति, वृह०उप० १-५-३

१. इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धि नियच्छति ।
मनुस्मृति, श्लोक-९३

श्रुत्वास्पृष्टवा च दृष्ट्वाच मुक्त्वाघ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ - मनु० अ०-२ श्लोक ९८

योगवाशिष्ठ में भी महर्षि वसिष्ठ ने चित्त को ही संसार का कारण, भोग का कारण और दुःख का कारण माना है अर्थात् चित्त से ही सृष्टि और चित्त से असृष्टि होती है। दुष्ट चित्त भोग का कारण और अदुष्ट चित्त मोक्ष का कारण माना है।

वशिष्ठ कहते हैं—रघुनन्दन ! भाव और अभाव का तथा दुःख रूपी रत्नों का खजाना चित्त ही, जो वासनाओं का वश में कहने वाला एक तरह से अनुचर, शरीर का कारण है। प्रतीत होने के कारण सत् और विनाशशील होने के कारण असत् रूप ये शरीर समूह एक मात्र चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्न में भ्रम से संसार की प्रतोति सब से होती है। जो यह मिथ्या जगत् का स्वरूप दृश्यता को प्राप्त है, वह चित्त से उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। अनेक तरह की वृत्तियां धारण करने वाले इस चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं—

एक 'प्राण संचरण' और दूसरा 'दृढ़ भावना'। जब शरीर की नाड़ियों में प्राण वायु संचरण करने लगता है तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है, किन्तु जब शरीर की नाड़ियों में प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्ति ज्ञान न होने के कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण संचरण रूप जगत ही चित्त के द्वारा दिखाई पड़ता है जिस प्रकार आकाश में नीलता आदि दिखायी पड़ते हैं।[1]

---

१. अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
संसृति व्रतते बीजं शरीर विद्धि राघव ॥-१
शाखाप्रतानगनफलपल्लवशालिनी ।
तेनेयं भवति स्फोताशरदीव वसुन्धरा ॥-२
भावाभावादशाकोशं दुःखरत्नसमुद्रकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥-३
चित्तादिदमुदैत्युच्चैः सदसच्चाङ्गजालकम् ।
तथा चैतत्वयं स्वप्नसंभ्रमेष्वनुभूयते ॥-४

महात्मा बुद्ध ने भी धम्मपद में कहा है कि अस्थिर चित्त प्रज्ञा को परिपूर्ण न करने वाला अर्थात् मोक्ष देने वाला नहीं होता वह सद्धर्म को नहीं जानता जिसकी श्रद्धा डांवाडोल है ।[2]

जिसके चित्त में राग, इसलिए जिसके चित्त में क्षोभ नहीं, उस पाप पुण्य विमुक्त जाग्रत पुरुष को किसी भी तरह का भय नहीं होता ।[3]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि अन्त:करण ही जीवात्मा के लिए भोग व मोक्ष सम्पादन करता है अन्त:करण ही बाह्य करणों अर्थात् दश इन्द्रियों के साथ भोग और योग सम्पादन करता है। जीवन में दो ही उपयोगी वस्तु हैं भोग एवं मोक्ष जिसका अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सात्विक हैं वह मोक्ष को सम्पादित करता है रजोगुण और तमोगुण पतन का कारण है[1] वही मनुष्य का वैरी है।

जब अन्त:करण निश्चय करता है तब उसे 'बुद्धि' नाम से कहा जाता है ।[2]

अन्त:करण का उपयोग जब मनन करने में होता है तब उसे 'मन' कहा जाता है ।[3]

यदिदं किंचिदाभोगि जागतं दृश्यतां गतम् ।
रूप तच्चेतस:स्फारं घटादित्वं मृदो यथा ।।-५
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्ति व्रतति धारिणः ।
एकं प्राण परिस्पन्दो द्वितीय दृढ़भावना ।।-६– योगवा० उपशम प्रकरण, सर्ग ६१, श्लो० ८-१५, १३-१७

२. अनवदठितचित्तस्य सद्धर्म्मं अविजानतां
परिप्लवसादस्य पन्जा न परिपूरति ।।

३. अनवस्सुचित्तस्य अनन्वाहतचेतसौ पुन्नपायहीनस्सनत्थि जागरतो भयं । —धम्मपदं साधना, चित्तप्रणिधान श्लोक-२२, २३

४. मनो मननात् ।

---

१. सांख्यदर्शन, अ. २, सू. १३

अन्तःकरण का उपयोग जब अभिमान करने में होता है तब उसे 'अहंकार' कहा जाता हैं ।[5]

जिस काल में अन्त:करण का उपयोग किसी अनुभूत विषय की स्मरण करने में होता है तब उसे 'चित्त' कहा जाता है ।[6]

इस प्रकार अन्त:करण का जीवन में बहुत उपयोग है—'विषयग्रहण करना', जीवात्मा को भोग और मोक्ष बाह्यकरण दश इन्द्रियों को उत्पन्न करना अन्त:करण का उपयोग है ।[7]

अन्त:करण और पंचकोश—

इस शरीर का रथी आत्मा है। यह शरीर रथ तुल्य है। बुद्धि सारथि और मन लगाम है। अतः इस रथी आत्मा को अपना उद्धार अवश्य करना चाहिए क्योंकि मानुष देह अति दुर्लभ है फिर वह क्षणभंगुर है। जिस प्रकार मेल से दर्पण, झिल्ली से गर्भ ढ़का रहता है उसी प्रकार यह आत्मा भी पांच कोशों से आवृत्त है। पहला कोश है अन्नमय कोश, दूसरा प्राणमय, तीसरा मनोमय, चौथा विज्ञानमय और पांचवा आनन्दमय कोश है। श्री हलायुद्ध भट्टाचार्य ने 'काश' का अर्थ "आवरण विशेष" किया है ।[1]

ग्रन्थकारों ने इन पंचकोशों का तीन शरीरों में विभाजन किया है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

---

५. सांख्यदर्शन, अ. २, सू० १६

६. वेदान्त परिभापा प्रत्यक्ष परिच्छेद

७. सांख्यदर्शन

---

१. हलायुद्ध कोश, पृ० २५०

१. अन्नमय कोश एवं स्थूल शरीर—

जीवात्मा के समीप तक जाने के लिए मुख्य द्वार या सिंह द्वार रूप सदृश पाँच भौतिक प्रत्यक्ष दीखने वाला यह स्थूल शरीर है। यह अन्न प्रधान है अर्थात् पार्थिव है। इसके कारण देह शरीरादि नाम है। किन्तु इस शरीर के दो भाग हैं उनमें से स्थूल भाग का नाम अन्नमय कोश है। तथा दूसरे भाग का नाम प्राणमय कोश है।[1] इस स्थूल शरीर में सात धातुयें—रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि व वीर्य या रज। अर्थात् पुरुष की सातवीं धातु वीर्य और स्त्री की सातवीं धातु रज है। वीर्य और रज के संयोग से ही शरीर की उत्पत्ति गर्भ में होती है जो दश मास के पश्चात बाहर आ जाता है। इसके मुख्य तीन भाग—मस्तिष्क, धड़ और पैर हैं। महर्षि वेदव्यास के शब्दों में—स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निस्यन्द और निधनादि के कारण अर्थात् माता का उदर जो स्थान, लोहित वीर्यादि बीज, खान-पानादि रस, निस्यन्द कर्थात् पसीना, मलादि तथा मृत्यु के बाद जो शरीर दुर्गन्ध है उसके कारण विद्वान लोगों ने इसको अपवित्र माना है।[2]

२. प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय कोश या सूक्ष्म शरीर—

वेदान्तसार के लेखक सदानान्द प्राणमय, मनोमय, व विज्ञानमय कोश को सूक्ष्म शरीर के अन्दर मानते हैं। ये इस सूक्ष्म शरीर के अन्दर सत्रह तत्व मानते हैं-पांच प्राण, मन, व बुद्धि और दश इन्द्रियां—ये सूक्ष्म शरीर हैं और भोग के साधन हैं।

---

१. आत्मविज्ञान, पृ० १०१
२. व्यासभाष्य योग, सू० पा० २ सू० ५

पाँच प्राण—

१. प्राण : सामने चलने वाली नासिका के अग्रभाग पर रहने वाली वायु है। यह वायु फेफड़ों में आती जाती है।

२. अपान वायु : नीचे जाने वाली गुदादि स्थानों में रहने वाली वायु है कितने जृम्भणादि को कारण रूप वायु देवदत्त का विकृत वायु के निकालने में अन्तर्भाव कर लेते हैं।

३. समान वायु : शरीर के भीतर अन्तर्भाव में भोज्य एवं पेय पदार्थों का ठीक करके व्यवस्थित करने वाली वायु को समान वायु कहते हैं। कुछ क्षुत्पिपासा के कारणोद्भूत कृकल का अन्नादि समीकरण के कारण तथा पोषण कर धनन्जय वायु का समान में अन्तभाव कर लेते हैं।

४. उदान वायु : कण्ठ में रहने वाली तथा ऊपर को उठाने वाली वायु को उदान कहते हैं कितने उदान में उद्-किरण का कार्य सम्पन्न हो जाने से नाग वायु का उदान में अन्तर्भाव कर लेते हैं।

५. व्यान वायु : सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रहने वाली वायु को व्यान कहते हैं। तथा उपरोक्त के अनुसार सदानन्द उन्मीलन अर्थात् अंगो (विशेषों) का संकोच-विकास के कारण रूप का व्यान में अन्त-र्भाव करते हैं।[1]

सांख्य मतानुयायी, बृहदारण्यक उपनिषद् दश प्राण मानते हैं।[2]

१. वेदान्तसार श्री सदानन्द प्रणीत सूक्ष्मशरीरोत्पत्ति प्रकरण
२. बृहदारण्यकोपनिषद् ब्राह्मण ६ कण्डिका ४

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती के अनुसार[3] रस नाड़ी मांस-अस्थि रहित, वाष्प जैसे अत्यन्त चमकीले तत्व से बना, प्रत्यंगों से रहित काया में व्यापक तत्व है यही स्थूल देह का संचालक है। अर्थात् यह "काया" जो कुछ कार्य करती है वह सब क्रिया मात्र इसी सूक्ष्म शरीर की प्रेरणा व शक्ति से करती है, किन्तु इस प्रेरणा में "ज्ञान" तथा क्रिया ये दो शक्तियां मिली रहती हैं, इस सूक्ष्म शरीर के दो भाग हैं—क्रिया प्रधान भाग मनोमय कोश और ज्ञान प्रधान भाग विज्ञानमय कोश ।

स्वामी योगेश्वरानन्द प्राणमय कोश को सूक्ष्म शरीर में नहीं मानते ।

सांख्यदर्शन के अनुसार मन बुद्धि अहंकार लिङ्ग शरीर में रहते हैं जो अन्तःकरण हैं। तथा दस इन्द्रियां इस कुल १३ करण हैं। प्राणमय कोश के पश्चात मनोमय कोश तथा विज्ञानमय (बुद्धि) कोश है।

आनन्दमय कोश या कारण शरीर—

यह आनन्दमय कोश हिरण्यक कोश[1], हृदय गुहा,[2] हृदय पुण्डरीक[3], अनाहत पद्म, कारण शरीर, लिङ्ग शरीर ब्रह्म आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।

---

१. अथर्ववेद १०-२-१३

२. संत्यज हृदये गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवांछति त्यक्तहस्तस्थ कोस्तुभाः ॥ –महोपनिषद् अ. ६ मं० २

३. अथ यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं...... ।
–छान्दोग्योपनिषद् प्रपा. ८ (खण्ड। में।)

३. आत्मविज्ञान पृ०-^

आनन्दमयकोश का स्वरूप—

हृदय के मध्य में एक छोटा-सा वेदाना श्वेत अंगुर के तुल्य अण्डाकृति एक रिक्त पिण्ड है। पुराणों में इसे ज्योतिर्लिङ्ग के नाम से कहा गया है।[1] और कदाचित कोई पूछे कि उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोज न की जाय ?[2]

तो उसका उत्तर यह है कि 'स ब्रूया० घा०" हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर से ही भरा है। और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश, तथा पृथ्वी लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजली और नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।[3]

ऐसा ही मुण्डकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं।[4]

इस लिङ्ग शरीर में ही वासनायें (संस्कार) रहती हैं।[5] ये वासनायें जाति देश काल के आवरण से विछिन्न नहीं हो सकती इस कारण अभिव्यंजक या उद्रेक को पाकर संस्कार रूपी वासनायें झट उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। अथवा जाग पड़ती हैं। और ये वासनायें अनादि हैं क्योंकि प्रत्येक जीव में "नष्ट न होने की इच्छा" अनादि काल से इसके साथ चिपकी हुई है।[6]

---

१. आत्मविज्ञान स्वामी योगेश्वरानन्द लिखित, पृ०-१६७
२.३ : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका म. दयानन्द कृत अनुवाद पृ. १६५
४. छान्दोग्योपनिषद् प्रपा. ८ रू. १ म. २-३
४. हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तदात्मविदो विदुः ॥– मुन्डक उ० २ ख. मं० ६
५. भोजवृत्ति योगदर्शन पा. ३ सू. ३४ व ६-१०

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती के अनुसार[3] रस नाड़ी मांस-अस्थि रहित, वाष्प जैसे अत्यन्त चमकीले तत्व से बना, प्रत्यंगों से रहित काया में व्यापक तत्व है यहा स्थूल देह का संचालक है। अर्थात् यह "काया" जो कुछ कार्य करती है वह सब क्रिया मात्र इसी सूक्ष्म शरीर की प्रेरणा व शक्ति से करती है, किन्तु इस प्रेरणा में "ज्ञान" तथा क्रिया ये दो शक्तियां मिली रहती हैं, इस सूक्ष्म शरीर के दो भाग हैं—क्रिया प्रधान भाग मनोमय कोश और ज्ञान प्रधान भाग विज्ञानमय कोश ।

स्वामी योगेश्वरानन्द प्राणमय कोश को सूक्ष्म शरीर में नहीं मानते ।

सांख्यदर्शन के अनुसार मन बुद्धि अहंकार लिङ्ग शरीर में रहते हैं जो अन्तःकरण हैं । तथा दस इन्द्रियाँ इस कुल १३ करण हैं । प्राणमय कोश के पश्चात मनोमय कोश तथा विज्ञानमय (बुद्धि) कोश है ।

आनन्दमय कोश या कारण शरीर—

यह आनन्दमय कोश हिरण्यक कोश[1], हृदय गुहा,[2] हृदय पुण्डरीक[3], अनाहत पद्म, कारण शरीर, लिङ्ग शरीर ब्रह्म आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है ।

---

१. अथर्ववेद १०-२-१३

२. संत्यज हृदये गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवांछंति त्यक्तहस्तस्थ कौस्तुभाः ॥ –महोपनिषद् अ. ६ मं० २

३. अथ यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं...... ।
—छान्दोग्योपनिषद् प्रपा. ८ (खण्ड । मं ।)

---

३. आत्मविज्ञान पृ०-१०

आनन्दमयकोश का स्वरूप—

हृदय के मध्य में एक छोटा-सा बेदाना श्वेत अंगुर के तुल्य अण्डाकृति एक रिक्त पिण्ड है। पुराणों में इसे ज्योतिर्लिङ्ग के नाम से कहा गया है।[1] और कदाचित कोई पूछे कि उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिसकी खोज न की जाय ?[2]

तो उसका उत्तर यह है कि 'स ब्रूया० घा०" हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर से ही भरा है। और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश, तथा पृथ्वी लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, बिजली और नक्षत्र लोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं।[3]

ऐसा ही मुण्डकोपनिषद् के ऋषि कहते हैं।[4]

इस लिङ्ग शरीर में ही वासनायें (संस्कार) रहती हैं।[5] ये वासनायें जाति देश काल के आवरण से विच्छिन्न नहीं हो सकती इस कारण अभिव्यंजक या उद्रेक को पाकर संस्कार रूपी वासनायें झट उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। अथवा जाग पड़ती हैं। और ये वासनायें अनादि हैं क्योंकि प्रत्येक जीव में "नष्ट न होने की इच्छा" अनादि काल से इसके साथ चिपकी हुई है।[6]

---

१. आत्मविज्ञान स्वामी योगेश्वरानन्द लिखित, पृ०-१६७
२.३ : ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका म. दयानन्द कृत अनुवाद पृ. १६५
४. छान्दोग्योपनिषद् प्रपा. ८ रू. १ म. २-३
४. हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तदात्मविदो विदुः ॥– मुन्डक उ० २ ख. मं० ९
५. भोजवृत्ति योगदर्शन पा. ३ सू. ३४ व ९-१०

इसलिए अन्त:करण पंचकोश में रहता है अतः अन्त:करण के विना (अन्नमयकोश को छोडकर मृत्यु के समय) पंचकोश नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि पंचकोशों सहित आत्मविज्ञान की प्राप्ति योग्य गुरु अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ के के पास जाकर करे । जब तक पंच कोशों व आत्मज्ञान नहीं होगा तब तक विवेकख्याति उत्पन्न नहीं हो सकती और विवेकख्याति के विना परम पद की प्राप्ति असम्भव है। यहां तो केवल संकेत मात्र है।

शरीर विभाजन में अन्त:करण का स्थान—

अन्त:करण किसमें प्रतिष्ठित है अर्थात् कहाँ रहता है? स्थूल शरीर में वा सूक्ष्म शरीर में वा कारण शरीर में।

वेदान्तसार के अनुसार तीन शरीर हैं— स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर यह कारण शरीर आनन्द की अधिकता से वास्तविक अनुपहित ब्रह्म रूप को कोश (खोल) के समान आच्छादक होने से ही आनन्दमय कोश तथा (स्थूल एवं सूक्ष्म) उपाधि के विलय का आधार होने से आनन्द कोश स्थूल सूक्ष्म विश्व प्रपंच के विलोम का स्थान कहा जाता है। इसी कारण ये सुषुप्ति कहलाता है।[1]

सांख्यदर्शन के अनुसार स्थूल शरीर प्रायः मातापितृज होते हैं परन्तु सूक्ष्म शरीर माता-पिता से उत्पन्न नहीं होता अतः सर्गादि में उत्पन्न लिङ्ग शरीर का ही सुख-दुख कार्यत्व है, क्योंकि इस शरीर में भोग होता है। सूक्ष्म शरीर सर्गादि में एक ही होता है।

६. जाति देशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥
तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥
—योगदर्शन योगेश्वरानन्द अनुवाद (आत्मविज्ञान पृ.२००-२०१)
पा. ४ सू. ९ व १०

१. वेदान्तसार "समष्टिव्यष्टिरूपाज्ञानभेदद्वयो" प्रकरण।

विज्ञान भिक्षु के अनुसार लिङ्ग शरीर में सत्रह अवयव होते हैं जिसे ११ इन्द्रियां ५ तन्मात्रा। एवं बुद्धि। विज्ञान भिक्षु अहंकार को बुद्धि के अन्तर्गत ही मानते हैं।[2] परन्तु सांख्य तत्व कौमुदीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र सूक्ष्म शरीर में १८ तत्व मानते हैं। वे अहंकार को बुद्धि से पृथक् कहते हैं।[3]

कर्मजनित भोग लिङ्ग शरीर में होता है यही तत्वतः भोगायतन है। भूतपंचक का आश्रय षट् कोशिक स्थूल देह है। इस आश्रय सम्बन्ध से ही स्थूल देह को भोगायतन कहा जाता है। यहां विज्ञान भिक्षु तीन देह मानते हैं—

१. लिङ्ग शरीर, २. लिङ्ग शरीर का अधिष्ठानात्मक पंचभूतात्मक सूक्ष्म देह और ३. स्थूल देह।[1] लिङ्ग शरीर और षट्कौशिक स्थूल शरीर के बीच में जो लिङ्गाधिष्ठान भूत शरीर माना गया है उसके बिना शरीर कार्य नहीं कर सकता, जिस प्रकार छाया या चित्त आधार विशेष से बिना नहीं रह सकता।[2]

इस लिङ्ग शरीर का परिमाण है। अणु ऐसा श्रुति कहती है।[3] और यह शरीर अन्नमय है यह भी श्रुति का मत है।[4]

योगदर्शन के अनुसार चित्त का स्थान हृदय है क्योंकि श्रुति के अनुसार चित्त में ही संकल्प विकल्प या वृत्तिमय है।[5] क्योंकि इन्द्रियों के अर्थ की चेष्टा का आश्रय यह शरीर है।[6]

---

२. प्रवचनभाष्य सांख्यदर्शन अ. २, सूत्र ७-६ अनुवादक रामशंकर भट्टाचार्य।

३. सांख्यतत्वकौमुदी : सांख्यकारिका ४१

---

१. प्रवचनभाष्य सां० सू० अ० ३ सू० ११—अनुवादक श्री रामशंकर भट्टाचार्य वाराणसी

२. सांख्यदर्शन, ३, २, अनु० रामशंकर भट्टाचार्य

३. सांख्यदर्शन ३, १४; बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४, २

अतः अन्तःकरण इस शरीर में रह कर ही सारे कार्य करता है अतः कारण लिङ्ग शरीर में प्रतिष्ठित है और लिङ्ग शरीर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है। परन्तु मृत्यु के समय लिङ्ग शरीर को छोड़ देता है और यह लिङ्ग शरीर पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के लिए संसरण करता है।[7]

अन्तःकरण जीव का विशेषण या उपाधि—

सुख दुःख का भोक्ता यह जीव है। अन्तःकरण के द्वारा ही तो जीव सुख दुःख भोगता है। जब मोक्षावस्था में अन्तःकर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरण के सम्पर्क से ही आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व माना गया है। महर्षि वेदव्यास के अनुसार व महर्षि कपिल के अनुसार यह चित्त (अन्तःकरण) "अयस्कान्त मणिकल्पम्" है। जब तक विवेकज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य में सुख दुःख रहता है। मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं परन्तु आत्मा में तो सुख तो दुःख नहीं है। आत्मा तो नित्य कूटस्थ, निर्विकार, अजन्मा है।[1] अतः सुख दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं। सुख दुःख का कारण तो अविद्या है अज्ञान है इस अज्ञान की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से जिस प्रकार एक छोटा-सा बादल का टुकड़ा योजनों फैले हुए बिम्ब को, द्रष्टा के नेत्रों पर आवरण से आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार असीम अज्ञान भी अज एवं नित्य सच्चिदानन्द आत्मा को आच्छादित कर देता है। और

---

४. सांख्यदर्शन ३, १४, छान्दोग्योपनिषद् ६, ५, ४

५. हृदये चित्त संवित्। यो. सू. पा. ३ सू. ३४
छान्दोग्योपनिषद् प्रपा० ७ खण्ड ५

६. न्यायं सू. अ. १ सू० ११

७. सांख्य सू. अ. ३ सू० १६

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता अ. २

अज्ञान ही विक्षेप शक्ति के कारण अज्ञान से आच्छन्न आत्मा में ही आकाशादि सृष्टि प्रपंच की उद्भावना उसी प्रकार करता है जिस प्रकार रज्जु विषयक अज्ञान से अपने से आच्छादित रस्सी में अपनी शक्ति से सर्पादि की (यह पूंछ, यह फन, आदि अंग प्रत्यंगों सहित) उद्भावना करता है। इस शक्ति की ऐसी विशेषता है। इसलिए कहा है—विक्षेप शक्ति ही लिङ्ग शक्ति सृष्टि अर्थात् कारण या सूक्ष्म सृष्टि से लेकर ब्रह्माण्ड[2] पर्यन्त जगत का सृजन करती है। अतः अज्ञान के कारण ही जीव इस शरीर को आत्मा मानकर दुःख से दुःखित होता है। ऐसा श्री आद्यशंकराचार्य ने "आत्मबोध" में व विवेकचूड़ामणि ग्रन्थ में कहा है। कि जिस प्रकार चलते हुए जल में चन्द्रमा बिम्ब हिलता हुआ दिखायी देता है उसी प्रकार यह मनुष्य अज्ञान से आत्मा में कर्तृत्व की भावना करता है। और वैसे ही अज्ञान से रज्जु को सर्प मानता है।[1] महर्षि कपिल, कणाद आदि ऋषि अज्ञान (अविद्या) से बन्धन मानते हैं।[2]

अतः जब तक मनुष्य में अविद्या रहेगी तब तक अन्तःकरण रहेगा और जीव की उपाधि माना जायेगा।

---

२. वेदान्तसार श्री सदानन्द प्रणीत "अज्ञानावरणविक्षेपशक्ति-द्वयम्" प्रकरण।

---

१. अज्ञानान्मानसोपधिः कर्तृत्वादानि चात्मनि।
कल्पयतेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः ॥—आत्मबोध श्लोक-२१
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक-३८८

२. "बन्धो विपर्ययात्" सांख्यदर्शन अ.३ सू०२४ तस्य हेतुरविद्या, वैशेषिक सूत्र १

□ □

अत: अन्त:करण इस शरीर में रह कर ही सारे कार्य करता है अत: कारण लिङ्ग शरीर में प्रतिष्ठित है और लिङ्ग शरीर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है। परन्तु मृत्यु के समय लिङ्ग शरीर को छोड़ देता है और यह लिङ्ग शरीर पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के लिए संसरण करता है ।[7]

अन्त:करण जीव का विशेषण या उपाधि—

सुख दु:ख का भोक्ता यह जीव है। अन्त:करण के द्वारा ही तो जीव सुख दु:ख भोगता है। जब मोक्षावस्था में अन्त:कर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है तब दु:खों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्त:करण के सम्पर्क से ही आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व माना गया है। महर्षि वेदव्यास के अनुसार व महर्षि कपिल के अनुसार यह चित्त (अन्त:करण) "अयस्कान्त मणिकल्पम्" है। जब तक विवेकज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य में सुख दु:ख रहता है। मैं सुखी हूं मैं दु:खी हूं परन्तु आत्मा में तो सुख तो दु:ख नहीं है। आत्मा तो नित्य कूटस्थ, निर्विकार, अजन्मा है ।[1] अत: सुख दु:ख आत्मा के धर्म नहीं हैं। सुख दु:ख का कारण तो अविद्या है अज्ञान है इस अज्ञान की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से जिस प्रकार एक छोटा-सा बादल का टुकड़ा योजनों फैले हुए बिम्ब को, द्रष्टा के नेत्रों पर आवरण से आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार असीम अज्ञान भी अज एवं नित्य सच्चिदानन्द आत्मा को आच्छादित कर देता है। और

४. सांख्यदर्शन ३, १४, छान्दोग्योपनिषद् ६, ५, ४
५. हृदये चित्त संवित्। यो. सू. पा. ३ सू. ३४
छान्दोग्योपनिषद् प्रपा० ७ खण्ड ५
६. न्याय सू. अ. १ सू० ११
७. सांख्य सू. अ. ३ सू० १६

१. श्रीमद्भगवद्गीता अ. २

कार्यों के करने में स्वतन्त्र है ।[1] क्योंकि बिना स्वतन्त्रता के उसका विकास कैसे संभव हो सकता है । यही मत उपनिषदों का भी है । क्योंकि जीवात्मा अविद्या आदि को छोड़ कर अपना विकास कर लेता है । अत: संकल्प स्वातन्त्र्य पर उपनिषदों में अलग से तो विचार नहीं किया परन्तु यह भी कहीं नहीं कहा है कि वह परतन्त्र है । कुछ उपनिषदों के ऐसे स्थल हैं जो उसकी संकल्प स्वातन्त्र्य को सिद्ध करते हैं । जैसे बृहदारण्यक उपनिषद में आया है कि मानव काम संकल्प और समीकरण मात्र हैं, जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे, जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे । ये काम संकल्प और कर्मफल के सम्बन्ध का बड़ा समीचीन विवेचन है । कठोपनिषद् में नचिकेता को यमाचार्य दो मार्ग श्रेय और प्रेय मार्ग बताता है । उनमें से नचिकेता श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, जबकि वह श्रेय को अपनाये या प्रेय को अपनाये । इसी प्रकार ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या एवं सम्भूति इन सभी विकल्पों में से उसे चुनने की स्वतन्त्रता है ।[2] कुच्छ विद्वान् संकल्प स्वातन्त्र्य का अभिप्राय: यह समझते हैं कि कामचारी होना, इसलिए वह कहते हैं कि कामचारी तभी उपनिषदों में माना है जबकि वह आत्मतत्व को समझ लेता है ।[3] सभी संकल्पों की स्वतन्त्रता उसे उपलब्ध होती है परन्तु यह मत उनका इसलिए समीचीन प्रतीत नहीं होता कि नीतिशास्त्र की यह एक बहुत बड़ी ज्वलन्त समस्या है कि वह जीवात्मा किसी ईश्वर या प्रारब्ध आदि में जकड़ा हुआ या, वह करने, न करने, शुभ करने एवं अशुभ

---

१. अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है । अर्थात् जो स्वाधीन है वही कर्त्ता है । स०प्र०पृ०१६०

२. कठो० २।१,२।

३. ई० ६, १०, ११, १२ ।

४. किन्तु उसकी स्वतन्त्रता डोरी में बन्धे हुए पक्षी की स्वतन्त्रता से अधिक नहीं । हम आत्मा ज्ञान प्राप्त लेने पर कोई दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण लेखक–रामचन्द्र रानाडे- पृ० २०८ हिन्दी संस्करण ।

नवम अध्याय

आचार शास्त्र

आचार शास्त्र की समस्यायें प्रमुख रूप में ये मानी जाती हैं कि मनुष्य एक कार्य करता है तो कहा जाता है कि उसने शुभ कार्य किया है। जब वह दूसरा कार्य करता है तो कहा जाता है कि उसने यह अशुभ कार्य किया। यह हम क्यों कहते हैं कि अमुक आर्य शुभ है और अमुक कार्य अशुभ है ? पाश्चात्य विद्वान् इस भावना का प्रादुर्भाव तब से ही मानते हैं जब से दो मनुष्यों ने सम्मिलित होकर कोई कार्य किया होगा। उसी दिन से नीतिशास्त्र का प्रारम्भ स्वीकार किया जाता है इस शुभ और अशुभ के प्रश्न को लेकर आचार-शास्त्र आगे बढ़ता है। ये नैतिक प्रत्यय निम्नलिखित आते हैं। शुभ, अशुभ, उचित, अनुचित, कर्तव्य और अकतव्य शुभ और अशुभ है। आचार शास्त्र परम शुभ का स्वरूप बतला कर उसकी प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

आचार शास्त्र वेत्ताओं के सम्मुख आचार शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्यायें आती हैं, जिनका वे समाधान ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं। उन समस्याओं में प्रमुख समस्या यह है कि मनुष्य किसी भी संकल्प के चुनने में स्वतन्त्र है या नहीं अर्थात् यदि शुभ और अशुभ कर्म करने में मनुष्य स्वतन्त्र है तो वह अपना विकास भी कर सकता है यदि वह उक्त कर्म करने में परतन्त्र है तो उसका विकास उस पर आधारित नहीं होता। आचार्य रामानुज और पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा आदि इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि जीवकर्म में पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं है, जो कुछ है वह ईश्वर की कृपा पर अवलम्बित है। ऋषि दयानन्द यहां पर भी यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, उनका कथन है कि जीव शुभ और अशुभ

कार्यों के करने में स्वतन्त्र है।[1] क्योंकि बिना स्वतन्त्रता के उसका विकास कैसे संभव हो सकता है। यही मत उपनिषदों का भी है। क्योंकि जीवात्मा अविद्या आदि को छोड़ कर अपना विकास कर लेता है। अतः संकल्प स्वातन्त्र्य पर उपनिषदों में अलग से तो विचार नहीं किया परन्तु यह भी कहीं नहीं कहा है कि वह परतन्त्र है। कुछ उपनिषदों के ऐसे स्थल हैं जो उसकी संकल्प स्वातन्त्र्य को सिद्ध करते हैं। जैसे वृहदारण्यक उपनिषद में आया है कि मानव काम संकल्प और समीकरण मात्र है, जैसी उसकी कामना होगी, वैसे ही उसके संकल्प होंगे, जैसे उसके संकल्प होंगे वैसे ही उसके कर्म होंगे। ये काम संकल्प और कर्मफल के सम्वन्ध का बड़ा समीचीन विवेचन है। कठोपनिषद् में नचिकेता को यमाचार्य दो मार्ग श्रेय और प्रेय मार्ग बताता है। उनमें से नचिकेता श्रेय मार्ग का अनुसरण करता है, जबकि वह श्रेय को अपनाये या प्रेय को अपनाये। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या एवं सम्भूति इन सभी विकल्पों में से उसे चुनने की स्वतन्त्रता है।[2] कुच्छ विद्वान् संकल्प स्वातन्त्र्य का अभिप्रायः यह समझते हैं कि कामचारी होना, इसलिए वह कहते हैं कि कामचारी तभी उपनिषदों में माना है जबकि वह आत्मतत्व को समझ लेता है।[3] सभी संकल्पों की स्वतन्त्रता उसे उपलब्ध होती है परन्तु यह मत उनका इसलिए समीचीन प्रतीत नहीं होता कि नीतिशास्त्र की यह एक बहुत बड़ी ज्वलन्त समस्या है कि वह जीवात्मा किसी ईश्वर या प्रारब्ध आदि में जकड़ा हुआ था, वह करने, न करने, शुभ करने एवं अशुभ

---

१. अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। अर्थात् जो स्वाधीन है वही कर्त्ता है। स०प्र०पृ०१६०

२. कठो० २।१,२।

३. ई० ६, १०, ११, १२।

४. किन्तु उसकी स्वतन्त्रता डोरी में वन्धे हुए पक्षी की स्वतन्त्रता से अधिक नहीं। हम आत्मा ज्ञान प्राप्त लेने पर कोई दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण लेखक–रामचन्द्र रानाडे- पृ० २०८ हिन्दी संस्करण।

करने में स्वतन्त्र है । ऋषि दयानन्द यथार्थ रूप में यह स्वीकार करते हैं कि जीव संकल्प या कर्म करने में स्वतन्त्र है जबकि नियतिवादी जीव को कर्म और भोगने में परतन्त्र मानते हैं ।[1]

यदि कर्म स्वातन्त्र्य सिद्धान्त को न माना जाय तो हमारे सम्मुख नियतिवाद का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है । जिसके मानने मनुष्यों में पुरुषार्थ हीनता का आना स्वाभाविक ही है। जबकि सांख्यदर्शन में मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही मानी गई है। उपनिषदों में जो तप का वर्णन हुआ है वह पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है । इसलिए केनोपनिषद् ब्रह्म ज्ञान की प्रतिष्ठा का आधार या स्तम्भ उसकी नींव तीन अर्थात् तप दम और कर्म मानते हैं ।[2] शारीरिक नियन्त्रण को तप कहते हैं । तपरूपी कर्मों के द्वारा हम अपनी इन्द्रियों के मल को दूर करते हैं । मानसिक नियन्त्रण को दम कहा जाता है । इन दोनों का क्रियात्मक रूप हम कर्म के द्वारा ही दे सकते हैं । यहां स्पष्ट कहा है कि यदि मनुष्य चाहता है कि वह अपना विकास करके ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे आलसी-प्रमादी की तरह अपनी नियति पर या भाग्य पर अवलम्बित नही रहना चाहिए अपितु उसकी प्राप्ति के लिये उसे तप, दम कर्म करना प्रारम्भ कर देना चाहिए । इसलिए ही उपनिषदों का सिद्धान्त प्रसिद्ध रूप में माना जाता है कि हमें चरैवेति चरैवेति अर्थात् चलते रहना है । कर्म और ज्ञान को प्राप्त करने के लिये कर्म करते रहने का आदेश दिया था ।[1] भाग्यवाद या नियतिवाद की उपनिषदों गन्ध भी प्रतीत नहीं होती है । दर्शनों में भी कर्म स्वातन्त्र्य के आचार्य-

---

१. पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि संचित प्रारब्ध बनते जिसके सुधारने से सब सुधरते और जिसके बिगाड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है ।
(दयानन्द स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं० २५) ।

२. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठितावेदाः । (केन०खं० ४।८) ॥

शास्त्र के चिन्तकों के सम्मुख यह एक समस्या आती है कि आचार शास्त्र के सिद्धान्तों का आधार क्या हो ? क्योंकि रूढ़ियां, सामाजिक परम्परायें और राजनैतिक नियम आदि, उसके आधार माने जाते हैं। अब यह विचारना अपेक्षित है कि उपनिषद किसको आधार मानती हैं। उपनिषदों में उपर्युक्त आधारों का वर्णन प्रायः मिलता है उपनिषद् के नीतिशास्त्र का आधार निम्नलिखित प्रतीत होता है—

१. आत्मा अभौतिक हैं, असृष्ट और अमर है।
२. यह आत्मा चेतन है इसमें ज्ञान संवेदन और प्रयत्न होते हैं।
३. आत्मा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता इसकी मौलिक सम्पत्ति है।[2] परन्तु इसकी स्पतन्त्रता कर्म करने में हैं फल भोगने में नहीं है।
४. आत्मा असीमित नहीं है, इसका कार्य ज्ञान कार्य सब सीमित है इसकी उन्नति और अवनति दोनों सम्भव हैं। यह उन्नति के लिए प्रयास ब्रह्म की प्राप्ति है। यह उस को कर पाता है तो ठीक है नहीं तो इसकी सबसे बड़ा हानि है।[1]
६. मनुष्य को उच्चतम उद्देश्य तक जाना है, अतः उसके उत्तरदायित्व का क्षेत्र बहुत बड़ा है। अनेक विकल्पों में किसी एक को चुनना है। चुनाव के लिए आचार शास्त्र सहायक है।
६. आत्मा सक्रिय तथा विकासशील है। इसी प्रकार संसार भी विकासशील है, संसार के साथ अपनी गति का मिलना यही नैतिकता सिखाती है।

---

१. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)।
२. स्वतन्त्रः कर्त्ता (अध्याच्यायी)

हैं और अन्य दूसरा कोई अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।[2] पुण्य कर्मों से उत्तम लोक मिलते हैं पाप कर्मों से नीच लोक मिलते है।[3] जो तपस्वी और पवित्र आचरण वाले हैं, जो सत्य पर आरूढ़ हैं उन्हीं के लिए शुद्ध ब्रह्म: लोक है। जिसमें कुटिलता, असत्य और धोखा नहीं है।[4] परन्तु जिनका जीवन पवित्र हो चुका है वे विकसित होकर जिस जिस लोक की प्राप्ति का मन से संकल्प करते हैं और जिन जिन पदार्थों की वाँछा करते हैं उन उन लोकों एवं उन उन पदार्थों को उपलब्ध कर लेते हैं।[1] यहां स्पष्ट रूप में उपनिषद् कर्म स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रही है। इसलिए मुण्डक उपनिषद् में बतलाया गया है जो जिन वस्तुओं को शुभतम एवं पवित्रतम मानता हुआ अभिलाषा करता है वह उन अभिलाषओं के अनुसार वहां वहां जन्म लेता है जहां जहां वस्तुयें उपलब्ध हो सकती हैं।[2] इसी का छान्दोग्य उपनिषद् में समर्थन उपलब्ध होता है। वहां कथन किया गया है कि जो इस लोक में उत्तम कर्म वाले होते है वे निश्चय ही उत्तम योनियों को प्राप्त कर लेते है। ब्रह्म देव आदि योनियों को प्राप्त करते हैं। जो लोग निन्दित कर्म वाले हैं वे निन्दित योनियों को प्राप्त होते हैं जैसे कुत्ता शुक्र और चाण्डालादि योनियां उन्हें मिलती है।[3] ये उपरोक्त योनियां तो तप लक्षण मात्र हैं। असंख्य प्रकार की योनियां कही जा सकती हैं, उनमें से जीवात्मा उसी प्रकार की योनि को प्राप्त करेगा, जैसे उसके कर्म होंगे। उन

२. अविद्यामामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: (कठ० २।५) नसाम्पराय: प्रतिभातिबालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। (कठ० २।६)। एष सुविज्ञो यो वहुधाचिन्त्यमान: (वही २।८)।
३. पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्। प्रश्न ३।७)।
४. प्रश्नोपषिद् १।१५,१६)।

---

१. मु०उ० १।१०।
२. मु०उ० कामन् य: कामयते मन्यमान: स कामभिजायतेतत्र तत्र।
३. तइह्रमणीय चरणा—रमणीयां योनिं कपूयचरणाअभ्यासोहि ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन। (छा० ५।१०।१७)।

योनियों को प्राप्त कर नाना प्रकार के सुख दुःखों को भोगता है।[4]

आत्मा की इस प्रकार की विविध गतियों को जानते हुए ऋषियों और मुनियों ने उपनिषदों के माध्यम से मनुष्यों को शुभ कर्म करने और अशुभ कर्म त्यागने का उपदेश दिया है। शुभ कार्यों के करने से शरीर को कष्ट अनुभव होता है। पाप का पथ स्वार्थमय और भोगमय जीवन हैं। एक को ऋषियों ने प्रिय लगने वाला और दूसरे को श्रेष्ठ मार्ग, परन्तु दुर्गम्य रूप कहा है। हे पूषन् सत्य का द्वार सुवर्ण के ढक्कन से ढका हुआ है, आप इसको हमारे सामने से हटाइये ताकि मैं सत्य और धर्म को देखूं।[4]

उपनिषदों में यद्यपि ज्ञान काण्ड की व्याख्या या आध्यात्मिक मार्ग जिसे मुक्ति या अमृतमय जीवन का अधिक रूप में प्रतिपादन उपलब्ध है तथापि हम साधारण मनुष्य का कर्म करने चाहिए इस का भी उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। यह इस प्रकार का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् में नीति बोध का यह रूप अधिक स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रकृति सचेतन और शिक्षात्मक है! इसमें अनेक सद्गुणों का उपदेश प्राप्त है। हमें धर्म का आदर करने, सत्य बोलने, तप, संयम और शान्ति की साधना करने, नित्य और नैमित्तिक हवन (यज्ञ) करने, अतिथि सत्कार करने, मनुष्यता का पालन करने, एवं सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया है।[2] हमें तीन नीतिकारों के मत को विषय में भी कथन किया गया है जिनमें से प्रत्येक प्रधान सद्गुण को श्रेष्ठ

४. बृ०उ० ४।४।४, ११)।

१. बृहदारण्यक (५।१५।१)।

२. वेदमनूच्या चार्य्योअन्तेवासिनं—सत्यं गृद. धर्मं चर, स्वाध्या-यान्माप्रमदः, स्वाध्याय आचार्याय प्रियं—सत्यान्न प्रमदितव्यम्। (तै० शिक्षा व ११ अनुवाक्)।

मानता था।[3] सत्य वचन राथीतर सत्य गुण का उपदेश देते थे। तपोनिष्ठ पौरुषाष्टि तपोगुण को प्रधान रूप में महत्व देते हैं। नाक मौद्गल्य वेदों के अध्ययन और अध्यापन को सर्वश्रेष्ठ रूप में मानते थे। क्योंकि उनका मत है कि यही सर्वोत्तम तप है। जब स्नातक बनकर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त किया जाता था, उस समय आचार्य द्वारा पुनः नैतिक शिक्षा का सारगर्भित उपदेश दिया जाता था, ऐसा इस उपनिषद् से प्रतीत होता है। उपर्युक्त उपदेश के अतिरिक्त आचार्य शिष्य को कहता था कि देव और पितृ कार्य में से विमुख न होने तथा माता-पिता गुरु और अतिथि को पितृ तुल्य मानने को कहा गया है। सामान्यरूप में स्नातक का वही कर्म करने को कहा जाता है। जो समाज की दृष्टि में निर्दोष हो। आचार्य कहता है कि जो अपने से ज्ञान में श्रेष्ठ हैं उन्हें आसन देकर सम्मान करना चाहिए। अन्त में आचार्य कुछ विकल्प प्रस्तुत करते है। अर्थात् प्रत्येक अवस्था में श्रेष्ठ करना चाहिए चाहे आस्था हो अथवा न हो। दान श्रद्धा से अश्रद्धा से। भय, लज्जा से और उदारता से देना चाहिए। अर्थात् लेने की प्रवृत्ति की अपेक्षा हमेशा देने का ही उपदेश दिया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि इस उपनिषद् में साधारण गुणों का भी उल्लेख प्राप्त है। सद्गुणों का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में भी मिलता है। घोर अंगरिस के और देव की के पुत्र कृष्ण के संवाद में सद्गुणों का एक सूचि के रूप में वर्णन उपलब्ध है। मनुष्य के प्रधान सद्गुण तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य है। घोर अंगरिस के अनुसार ये मनुष्य के प्रधान गुण हैं।[1] भगवान् गीता में भी सद्गुणों को उप-

---

३. सत्यमिति सत्यवचाराथीतरः, तप इति तपोनित्य पौरूशिष्टः स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः (तै०शि०व०६ अनु०)।

---

१. द्रष्टव्य छान्दोग्य का अंगरिस कृष्ण संवाद।

लब्ध सूची का प्रायः इससे साम्य है ।[1] जिसमें अहिंसा, सत्य, त्याग तेजादि सम्मिलित हैं। छान्दोग्य में ही मनुष्य पांच महापातकों का उल्लेख उपलब्ध है। वहां बतलाया गया है कि जो वित्त की चोरी करता है, सुरापान करता है, गुरु पत्नी के साथ गमन करता है, या ब्राह्मण की हत्या करता है, वह नरक में जाता है। उसके साथ सहयोगी वैसी ही अवस्था को प्राप्त होंगे। चोर, मद्यपी, व्यभिचारी, ब्रह्मघाती और उनके सहकारी सब मृत्यु दण्ड के अधिकारी है। यह मनु और याज्ञवल्क्य की परवर्ती स्मृतियों के अनुकूल हैं।[2] वहां पर भी पाँच महापातकों का उल्लेख उपलब्ध है।

बृहदारण्यक में भी सद्गुणों का उल्लेख उपलब्ध है। कथा के द्वारा समझाया गया है कि देव, मनुष्य और असुर सब अपने सामान्य पिता प्रजापति के समीप गये हैं। वहां जाकर उन्होंने आत्माधिगत ज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की। प्रजापति ने देवों के लिए अक्षर दिया और पूछा क्या वे उसका अर्थ समझ गये। उत्तर पाया कि उन्होंने इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। जिससे प्रजापति सन्तुष्ट हो गये। मनुष्य को भी उसने द अक्षर का ही उपदेश दिया। उनसे भी उसी प्रकार पूछा क्या समझ गये। उत्तर मिला उन्हें दान (दत्त) का पालन करना चाहिए। असुरों को भी प्रजापति ने द का ही उपदेश दिया उनसे भी पूछने पर उत्तर मिला कि उन्होंने दया का पालन करना चाहिए।[1] यहां उपनिषद्कार हमें बतलाता है कि आकाश में मेघ गर्जन के रूप में भी ददद की ध्वनि होती है उसका अभिप्राय हमारे लिये दमन, दान

---

१. अहिंसा सत्यमक्रोधः त्यागः शान्तिरपशुनम्। (१६।२)।
तेजः क्षमा मतिः शौचं अद्रोहीनातिमानिता। (१६।३)॥
२. आपस्तम्ब १०, ४॥

---

१. ....तेभ्यो हेतदक्षरमुवाचद् ... होचुर्दाम्यततेति। हैनं मनुष्या......होचुर्दत्तेति। हैनंअसुराऊचुः......हाचुर्दयध्वमिति वदतिस्तति नयित्नु ददद इति दाम्यत, दत्त, दध्य ध्वमिति।
(बृ०अ०५, बा०द्वि० १,२,३)॥

और दया करना है। इन्हीं को सात्विक राज से और तामस् रूप कहा जा सकता है। अर्थात् जो देवों के समान उच्च अवस्था को प्राप्त हैं, उनके लिये इस दिव्य वाणी का आदेश दमन करो नहीं तो अभिमान से मुक्त होकर गर्व वाले बन जाओगे, ऐसे लोग सामर्थ्यवान् होने के कारण क्रूर वर्गों में प्रवृत्त हो सकते हैं। जो सामान्य मनुष्य की अवस्था में हैं, उनके लिये इस, दिव्य वाणी का उपदेश समझना चाहिए कि दानशील बनना है। अर्थात् हमें दान की प्रवृत्ति के द्वारा अपने समाज को समृद्धिशाली बनाना है। जो दानव प्रवृत्ति वाले अर्थात् अनर्थकारी प्रवृत्ति वाले हैं और अपरिमित शक्ति रखते हैं उनके लिए आदेश हैं और दयावान अर्थात् दयालु बनो। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि द दान और दया तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति प्रधान मनुष्यो के लिए तीन अलग–अलग मुख्य गुण हैं।

आचार सम्बन्धी मान्यताओं का दार्शनिक विवेचन करते समय उपनिशदों पर प्राय: आरोप लगाया जाता है कि ये निराशावाद को प्रोत्साहन देती है। परन्तु यह आरोप इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि उपनिषदों का ऋषि भिन्न भिन्न अवस्था वाले व्यक्तियों को भिन्न उपदेश देता है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में हम उपर्युक्त सन्दर्भ में विवेचन कर आये हैं। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे का विचार है कि यह संभाव्य है कि यह सुखनिरपेक्षवाद स होकर परमनिराशावाद के स्वरूप में परिणत हो गया। वे आगे पुनः पूछती हैं—एक अजर और अमर जीवन के शाश्वत् आनन्द का अनुभव कर लेने के वाद कौन क्षमाशील मनुष्य सौन्दर्य और वासना (प्रेम) के क्षणिक सुखों के चिन्तन में आनन्द पा सकेगा।[1] मेरे विचार में निराशावाद नहीं है जिसमें साधक उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेता है क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिये

---

१. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण-पृ०सं० ११३।
लेखक रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे । अनुवादक रामानन्द तिवारी (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी जयपुर)।

आचार्य कठोपनिषद् में स्वयं संसार के पदार्थों के संग्रह का वणन करती हैं परन्तु, नचिकेता आत्म तत्व को जानना चाहता है। इसलिए, उसे संसार सुख और शाश्वत् ब्रह्मानवद्य के सुख विशेष की तुलना उपनिषद् में कार ने की है।[1] मैत्री उपनिषद् में भी वासनाओं की तृप्ति से ऊपर उठने को कहा गया है काम क्रोध लोभादि से ऊपर उठने का उपदेश स्पष्ट रूप में दिया गया है। शोपेनहावर उपनिषदों से अत्यन्त प्रभावित हैं उनका भी यही मत है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छी बात यही हो सकती थी कि वह यहाँ जन्म ही न लेता और उसके बाद दूसरी सर्वोत्तम बात यौवन में ही मरण है।[2] इनका मन्तव्य भी यही प्रतीत होता है, कि यौवन में केवल भौतिक सुख को ही प्रधानता नहीं देनी चाहिए अपितु उससे पर जो आत्म तत्व है उसे जानने का प्रयास करना चाहिए।

उपनिषद् ऐसा मानती प्रतीत नहीं होती हैं कि संसार को छोड़कर कहीं भाग जाओ। अपितु वे तो यहीं रहते हुए सौ वर्ष तक कम करने का उपदेश देती है।[1] जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि श्रद्धा तप श्रद्धा ही तपस्या है।[2] डाक्टर राधाकृष्ण की मान्यता है वाह्य पदार्थों के बन्धन से मुक्त होने के लिए हमें वन में एकान्त में जाने की आवश्यकता नहीं, न एकान्तवास को वढ़ाने की आवश्यकता है[3] और न तपस्या की जिससे कि सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध एक साथ ही छूट जाय।[4] जो उपनिषद् के उत्तरवर्ती काल में जो अन्धाधुन्ध सन्यासवाद का प्रावल्य रहा उसका उपनिषद् काल में समर्थन प्राप्त नहीं होता। यद्यपि जीवन को अमृतमय बनाने की समस्या का समाधान उपनिषदों में क्रान्तिकारी रूप में

---

२. वही पृ० १६२।

---

१. ईशोपनिषद् २।
२. छान्दोग्य—(५-१०)
३. इण्डियन फिलासफी। लेखक—डा० राधाकृष्णन्—अनुवादक—नन्दकिशोर गोमिल। उपनिषदों का दर्शन-पृ० १६६।
४. वही—पृ० १६६।

उपलब्ध होता है तो भी संसार रहते हुए ही त्याग पूर्वक भोग का उपदेश उपलब्ध होता है। आगे डा० राधाकृष्णन् का विचार स्पष्ट है कि उपनिषद्‌काल में इन्द्रियों के अत्याचार के विरोध में प्रबल आवाज सुनाई दी। जिस शरीर को दागना आदि ऐसी ही अत्यन्त क्रियायें प्रचलित हो गई थीं। यूकन के अनुसार उपनिषदों का लक्ष्य अधिकतर संसार में घुसकर उस पर विजय पाना इतना नहीं है जितना कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है। कठोर से कठोर बाधा के विरुद्ध भी स्थिर रखने के लिये जीवन को दीर्घ बनाना नहीं है, वरन प्रत्येक प्रकार की कठोरता को कम करना एवं नरम करना है। तथा एक प्रकार की विहीनता, धीरे-धीरे तिरोधान हो जाना एवं गम्भीर चिन्तन है।[1] गफ के अनुसार—उपनिषदों की व्याख्या के अनुसार भारतीय ऋषि-मुनि दैवीय जीवन में भाग लेने का प्रयत्न केवल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं घोर परिश्रम द्वारा नहीं और न ही सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्य कर्म द्वारा अपितु एकान्तवास अनासक्ति निष्क्रियता एवं समाधि द्वारा भी करते हैं।[2] उपर्युक्त मतों का प्रत्याख्यान करते हुए डा० राधाकृष्णन् की मान्यता समीचीन प्रतीत होती है कि नैतिक जीवन का सार इच्छा को एवं स्वप्न व भ्रान्तिमात्र समझता मिथ्या वैराग्य जो जीवन को एवं स्वप्न व भ्रान्तिमात्र समझता है और जो कुछ भारतीय विचार को एवं यूरोपीय विचारकों के मन में भी बार-बार आता है और उन्हें परेशान करता है उपनिषदों के व्यापक भाव से सर्वथा विपरीत है।[3]

इनका यह मत हमारे उपर्युक्त मत की पुष्टि करता है कि उपनिषद् एकदम संसार को छोड़ कर भाग जाने का उपदेश नहीं देती हैं। जहां ऐसी कुछ भी, लक प्रतीत भी होती है वहां विरक्त हो जाने का तात्पर्य मनुष्य जाति के निराशा एवं ईश्वर का पर

१. मेन करेंट्स पृ० १३।
२. फिलासफी आफ द उपनिषद्—पृ० २६६-२६७।
३. भारतीय दर्शन—डा० राधाकृष्णन् (हिन्दी) पृ० २०१।

नव है। संसार को त्यागने एकमात्र आदेश नहीं हैं अपितु केवल ऐन्द्रियक सुख ही सब कुछ नहीं इससे परे भी कुछ हैं। हमें उपनिषदों के रहस्यवादी परदे के पीछे अवलोकन करके भौतिक संसार एवं मनुष्य के अन्दर व्यापक ब्रह्म को जानने एवं साक्षात्कार करने का उपदेश उपनिषदों में उपलब्ध होता है।[1] भगवत्गीता में भी स्पष्ट इसी प्रकार की मान्यता ही। श्री कृष्ण अर्जुन को सन्यास लेने का उपदेश नहीं देते जो अपितु युद्धस्व अर्थात् कर्म कर अपने कर्त्तव्य पालन पर जोर देते हैं। प्रायः सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि गीता उपनिषद् का एक सरल संस्करण मात्र है अर्थात् उपनिषदों का प्रभाव गीता पर समुचित रूप से दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव में उपनिषद् की यह उद्घोषणा प्रतीत होती है कि जैसा कि उत्तरवर्ती अन्य भारतीय दार्शनिक और नीतिकार सहमत हैं, मन को निर्मल बनाने के लिये भोजन की शुद्धि का होना आश्यक है।[2] इन वासनाओं पर नियन्त्रण अपनी इच्छा से किया जाना चाहिए। जहां ऐसा सम्भव न हो वहां मन को शमन करने अर्थात् मन को ज्ञान पूर्वक परिवर्तन करने का आदेश है। तपस्या अथवा वासनाओं का वशीकरण बलपूर्वक बाह्य साधनों द्वारा किये जाने एवं न्यायास अथवा धार्मिक भावनाओं के द्वारा वासनाओं के त्याग में भेद किया जाता है। तपस्या का विधान भारतीय नीतिशास्त्र वेत्ता मनु आदि ने वानप्रस्थ के लिए किया है सन्यास सन्यासी के लिये है। हमें अपनी वाणी का विलीन मन के अन्दर और मन को बुद्धि के समर्पित करना चाहिए।[3] समाधि एवं ध्यान की अवस्था का विधान मन की शुद्धि के लिए किया गया है। उपनिषदों में जीवात्मा को निर्देश है कि अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके केवल ईश्वर का ध्यान करें। इससे जीवात्मा अपना साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।

---

२. आहारशुद्धौसत्वशुद्धि (मनु०)।

३. अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसश्च परायुद्धिबुद्धेरात्मा...........
(कठ० ३।१०)॥

भारतीय नीतिकारों ने जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास ये चारों आश्रम बनाये हैं उनका तात्पर्य भी केवल यही है कि मनुष्य धीरे-धीरे अपने आपको सांसारिक मल एवं अपवित्रता से शुद्ध कर सकता है। तभी वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

ऋषि दयानन्द इस विषय में कहते हैं कि हम सभी आश्रमों में अपनी पवित्रता रखनी चाहिए। परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और जन्म के सहायतार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाय क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर कर सकता है।[1] आगे वे पुनः लिखते हैं कि सदा दृढ़-कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक क्रूर दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने हारा, धर्मात्मा मन को जीतने और विद्यादि ज्ञान से सुख को प्राप्त होवे।[2]

जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं कि उपनिषद् संसार में रहने को हेय नहीं समझती हैं इसी प्रकार ऋषि दयानन्द गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहस्थ आश्रम धारण करे।[1] आगे ऋषि पुनः अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो कोई प्रशंसा करता है वह प्रशंसनीय है।[2] परन्तु इसके लिए कि गृहस्थाश्रम ज्येष्ठ है और स्वर्ग तुल्य है, उसके लिये स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रेम का होना आवश्यक मानते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इसलिए कहा है कि प्रजातन्तु माव्यवच्छेत्सी अर्थात् सन्तान के

---

१. स०प्र०समु० चतुर्थ, पृ० ११३।
२. वही पृ० ११४।

---

१. वही पृ० २३२
२. वही पृ० २३२। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा। मनु० ३।७७, ७६, स० प्र० में व्याख्या पृ० २३२।

प्रजनन में व्यवधान न आये। यही मन्तव्य प्रतीत होता है कि अपने-अपने स्थान पर समुचित हैं, केवल अपने कर्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक करना हो हम पूर्वापर भाव की तुलना से देखें तो यही पाते हैं कि संसार अपने आप में बुरा या अशुभ नहीं है अपितु हम अपने अशुभ कर्मों द्वारा उसे स्वयं बुरा बना देते हैं। यही कारण है कि हमें ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या सम्बन्धी और असम्भूति का सामंजस्य प्राप्त होता है।[3] मुण्डक उपनिषद् में ज्ञान और कर्म का सामंजस्य है।[4] यद्यपि उच्च अवस्था ज्ञान को महत्व दिया गया है तो निष्क्रियता का प्रतिपादन उस रूप में कहीं भी कथन नहीं किया जिस रूप में मध्यकालीन सन्तों और कवियों की कृतियों में पाते हैं कि अजगर चाकरी नहीं करता पक्षी कोई नौकारी या कार्य नहीं करते, सब के दाता राम है।[5]

उपनिषदों में जहां आध्यात्मिकता का सूक्ष्म रूप में वर्णन उपलब्ध है, वहां साम्राज्य ज्ञान और परिवार सम्बन्धी समाजशास्त्र का वर्णन आता है। जैसे कठोपनिषद् में नचिकेता सर्व प्रथम अपने पिता को शान्त करने ही अपेक्षित समझता है।[1] इसी प्रकार श्वेताश्वेतर उपनिषद् में उसी प्रकार की प्रार्थना का उल्लेख है जैसा कि वेदों में अपने परिवार की सुरक्षा की चिन्ता-पूर्वक प्रार्थना हमें यत्र यत्र प्राप्त होती है।[2] जैसा कि श्वेताश्वेतर उपनिषद् में आया है कि हमें अपने बच्चों और पुत्रों के वियोग से पीड़ित न करो, हमारे बलवान वीरों को मत मारो।[3] जब तक

३. ईशोपनिषद्-२, ६, १०।

४. मुण्डक उ०प्र०मु० प्रथम खण्ड ८, द्वि० खं० १, २, ३ से ६ तक।

५. मगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम ॥ (सन्तवाणी संग्रह से)।

१. यजुर्वेद-अ०१२। मं०७५ से ७९, १०२। १०८। १७. अ० ७। १३ ॥

२. मा न स्तोके तनये—वीरान्मा नो रुद्र—वधीर्हविष्मन्त:
(श्वेताश्वेत० अ० ४। २२)।

३. वृ०अ०२ ब्राह्मण १। म० १ से ३ तक। द्रष्टव्य।

पूर्णरूपेण हम अन्तर्मुखी नहीं होते या हमारे मन की सामान्य स्थिति होती है तो हमें अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को कदापि विस्मरण नहीं करना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर उपनिषदों में आभ्यन्तरिक श्रेय की ओर जाने का उपदेश एवं आदेश सर्वत्र ही कथन किया गया है। सम्भवतः आधिभौतिक श्रेय और आध्यात्मिक श्रेय में कोई जातिभेद नहीं है। हम दोनों को सानुपातिक समझ सकते हैं। महान् आदर्शवादी तत्त्वज्ञ याज्ञवल्क्य ने भी जनक की सभा में उनसे प्रश्न किया गया कि वे सम्पत्ति और गोधन अथवा विजय और विवाद तो उन्होंने यही उत्तर दिया था कि वे दोनों चाहते थे। वे गायो को उनके सुवर्णातसीयों सहित चाहते थे तथा जनक की सभा में अन्य तत्त्वज्ञानियों के साथ विवाद में विजय भी चाहते थे। अतः वे आधिभौतिक और आध्यात्मिक वाद दोनों प्रकार का श्रेय चाहते थे।[3] परन्तु उपनिषदों में आधिभौतिक सुख और आत्मानुभूति या मोक्ष के आनन्द का सानुपातिक भेद का अवश्य उल्लेख किया गया है। जैसे पूर्ण स्वस्थ्य सभी साधन उत्पन्न युवक को इकाई मान कर भेद का उल्लेख किया जाता है। उस युवक से बढ़कर सौगुना आनन्द गान्धर्व का माना गया है। यह तुलना आगे क्रमशः बढ़ते बढ़ते देवगन्धक पितृ, देवताओं, कर्मसिद्ध श्रेष्ठ देवता, इन्द्र, वृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मानन्द की कल्पना की गई है। ब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति विकास की चरम सीमा मानी गई हैं।[1]

वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में भी यही तुलना सूक्ष्म रूप में प्रदर्शित की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मानुभूति के नैतिक तथा रहस्यात्मक पक्षों का उत्तम रीति से समन्वय मिलता है।[2] यह भी

---

१. द्रष्टव्य छान्दोग्य उपनिषद में ब्रह्म के आनन्द का वर्णन।

२. वृहदारण्यक-३।१४, ५ ॥

बतलाया गया है कि मनुष्य को अपना विकास करते समय करते भूमा को प्राप्त करना चाहिए।

उपनिषदों में आत्मा को पाप पुण्य से परे कहा गया है। वास्तव में अज्ञान और अविद्या आदि के कारण उस पर मल विक्षेप और आवरण की परतें आ जाती है। इन परतों को धर्म और अधर्म कृत और अकृत से परे बतलाया गया है इसी प्रकार आत्मा के विषय में भी छान्दोग्य उपनिषद् में प्रतिपादन इसी प्रकार आत्मा के अदेह आत्म प्रिय और अप्रिय से परे है। मुण्डकोपनिषद् में भी बतलाया गया है कि जब नैतिक कर्त्ता एक पर निरंजन प्रभु के दर्शन कर लेता है तो समस्त पाप पुण्यों की कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है कि हृदय गुफा में निवास करने वाला आत्मा जो सब इन्द्रियों पर शासन करने वाला है महान है। केवल अपने स्वरूप को पहचानना अवशिष्ट है। वह पाप पुण्य से परे हो जाता है।

आधुनिक आचारशास्त्र में यह अतीतवाद है। जो पाप पुण्य से परे की अवस्था है। ब्रोडले और नीत्शे का भी अतीतवाद कहलाता है। परन्तु उपनिषदों के अतीतवाद में अन्तर है। नीत्शे का अतिनीतिवाद केवल अतिमानुषिक के अतीतवाद में शक्तियों के विषय में ही लागू होता है। जो एकान्त शक्ति के अधिकारी होने के कारण नीति और अनीति का प्रतिरोध केवल ब्रह्म के विषय में लागू होता है। जिसे उसकी एकान्तता के कारण नीति और अनीति से परे समझना चाहिए। ऋषि दयानन्द की मान्यता है कि मनुष्य का आत्मा सत्य असत्य का जानने वाला है तथापि अपने योजन की सिद्धि के लिए हठ, दुराग्रह और अविद्या आदि दोषों से सत्य को छोड़ के असत्य में झुक जाता है।[1] अर्थात् यदि मनुष्य स्वार्थ का परित्याग कर आत्मा के आदर्शों के अनुकूल आचरण करना ही चाहिए।

---

१. स० प्र० पृ० २ (भूमिका से)।

उपनिषदों में नैतिक धर्म के नियम सर्वत्र बिखरे मिलते हैं। मनु से जो धर्माचरण के दस सद्गुण बतलाये हैं वे उपनिषदों में उपलब्ध हैं। धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय निग्रह धी (बुद्धि, अर्थात् ज्ञान), विद्या, सत्य और क्रोध न करना।[1]

ऋषि दयानन्द इस में अहिंसा को जोड़कर ग्यारह नैतिक धर्म के लक्षण करते हैं। अर्थात् यम, नियम का भी इसी में यथा सम्भव अन्तर्भाव किया जा सकता है। योगदर्शन में धर्मों का वर्णन करते समय अहिंसा को सर्वप्रथम रखा है।[2] स्मृतिकाल बौद्ध और जैन दर्शन के प्रादुर्भाव काल में अहिंसा पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। इस कारण यह प्रतीत होता है, यज्ञों में हिंसा प्रारम्भ होने से उस समय चिन्तकों का ध्यान हिंसा को रोकने की ओर अधिक गया होगा। यह भी संभव प्रतीत होता है कि यज्ञों में पशु आदि की बलि की प्रवृत्ति उत्पन्न होने से मांस खाने की जन साधारण की रुचि कुछ बढ़ने की लगी हो, उस प्रवृत्ति को रोकने के लिए भी अहिंसा का प्रचार आवश्यक हो जाना स्वाभाविक है।

उपनिषदों में सद्गुणों में सत्य पर विशेष जोर दिया गया है। प्रायः सभी उपनिषदों में प्रत्येक स्थान पर सत्य का उल्लेख किसी न किसी रूप में हुआ है। यदि अन्य कोई भी अपराध या अशुभ कर्म हो गया तो परन्तु उस व्यक्ति ने वैसा करके भी सत्य बोला हो तो उसे समाज में या विद्वानों ने हेय दृष्टि से नहीं देखा। छान्दोग्य उपनिषद् का प्रसिद्ध प्रसंग आया है कि जाबाला नाम की एक स्त्री ने यौवन काल में दूसरों के घर सेवा करते हुए एक पुत्र को अवैध रूप में उत्पन्न किया। उसका पुत्र सत्यकाम जब

---

1. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

2. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
(यो० दर्शन सू० २।३०)

वयस्क हुआ तो उसने अपनी माता से अपने पिता का नाम पूछा। जाबाला ने केवल यही उत्तर दिया कि वह इतना जानती है कि वह उसका पुत्र है। पिता का नाम नहीं जानती थी। जब सत्यकाम दीक्षा प्राप्त करने के लिए गया तो आचार्य ने पूछा वह किस वंश से उत्पन्न है उसने कहा मैं केवल अपनी माता का नाम जानता हूं गोत्र और वंश नहीं जानता। मेरी माता का कहना है कि यौवन में उसने दूसरों के यहां सेवा करते हुये मुझे प्राप्त किया। गुरु ने सत्यकाम से कहा- यह वचन किसी अब्राह्मण के मुख से नहीं निकल सकते हैं।[1] आओ मैं दीक्षा दूंगा। क्योंकि तुम सत्य से विचलित नहीं हुए हो। यह कथा हमें बतलाती है कि किसी स्वैरिणी स्त्री का पुत्र भी शुद्ध और यथार्थ सत्य बोलने के कारण ब्राह्मण पद का अधिकारी हो सकता है। पुनः इसी उपनिषद् में आया है कि सत्य किस प्रकार प्रतिरूप माना गया है।

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। ऋषि लोग जिनकी समस्त कामनायें पूर्ण हो चुकी है वे सत्य लोक को प्राप्त होते हैं। प्रश्नोपनिषद् में भी सत्य की महिमा का उल्लेख करते हुए महर्षि भारद्वाज ने भी यह बताया है कि जो सत्य भाषण नहीं करता वह सूख जाता है। इसका अभिप्राय: यही है कि असत्य बोलने का साहस नहीं करना चाहिए।[1]

ऋषि दयानन्द भी सत्य को ही प्रमुखता देते है। आर्यसमाज के तृतीय नियम उन्होंने सत्य को ही रखा है "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए"।[2] मन वचन

१: छान्दोग्य ४।४।१,२,३,४,५।।
२. मुण्डक-२।१।१।।३।१।५,६ पर ।।

---

१. प्रश्नोपनिषद्-१।१५।६।१ पर द्रष्टव्य।
२. आर्यसमाज का तृतीय नियम।

और कर्म से सत्य का पालन करना सबका वास्तविक धर्म है। ऋषि दयानन्द कहते हैं कि ऋत भी इसी का नाम है। तथा सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई नहीं हैं।[3]

भारतीय आचार शास्त्र को उन सर्वभौम नियमों की माला देती है जिनकी न्यूनता को कहीं पर और किसी काल में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। ये नियम भारतीय सांस्कृतिक निधि के अनुपम आती हैं। इन के उपेक्षा कर के मानव परम शुभ कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है।

□ □

३. दयानन्द ग्रंथ माला भाग २ पृ० ३९६ ॥

दशम-अध्याय

कर्मफल निरूपण

मनुष्य ज्यों ही संसार में आकर आंखे खोलता है उसे संसार में विषमता दृष्टिगोचर होती है। इस विषमता को देखकर के भारतीय ऋषियों ने कर्म फल के सिद्धान्त का निरूपण बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से किया है। जैसा कि वेदान्त दर्शन में कहा है कि विश्व में ना-ना प्रकार की विषमता यह दर्शाती है कि इसका कारण हम सब के कर्म हैं।[1]

इसके भाष्य में शंकराचार्यलिखते हैं कि जगत् में किसी-किसी को अत्यन्त सुख भोगी, किसी को अत्यन्त दुःख भोगी और किसी-किसी को मध्यम अवस्था में देखा जाता है सही, किन्तु इससे ईश्वर का पक्षपात अथवा उसकी करुणा का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि भगवान किसी वस्तु को अपेक्षा न करके सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। वे तो जीव के संचित कर्म अथवा भाग्य पर ध्यान रखकर ही विषम सृष्टि करते हैं। अतएव जीवगत कर्म का तारतम्य ही वैषम्य सृष्टि का वास्तविक कारण है; ईश्वर तो निमित्त मात्र है।[2]

---

१. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।

—ब्राह्मन सूत्र, २, १, ३४।

२. सापेक्षो हीश्वरो विषमां निर्म्मिमीते। किमपेक्षते इति चेत्। धर्माधर्मौ अपेक्षते इति वदामः। ......देवमनुष्यादिवैषम्ये तु

इस सूत्र के भाष्य में रामानुजाचार्य ने यह पराशर-वचन उद्धृत किया है कि 'सृज्य पदार्थों की सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त मात्र है; असल में सृज्य जीव की शक्ति ही (कर्म) सृष्टि का प्रधान कारण है'; भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भागवतकार ने सृष्टि के पक्ष में तीन कारण बतलाये हैं—काल, स्वभाव और संस्कार। स्वभाव से मतलब है जगत् का जड़ उपादान-प्रकृति; संस्कार—जीव का अदृष्ट या संचित कर्म। जब प्रलय के अन्त में पर्यायक्रम से सृष्टि का काल उपस्थित होता है तब भगवान् जीव के अदृष्ट को अवलम्बन करके प्रकृति के परिणाम में विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं; अतएव कर्म ही सृष्टि की विषमता का प्रधान है।

मीमांसक लोग भी कर्म की प्रधानता मानते है। उनके मत से भी कर्म ही विषमता का जनक है; किन्तु वे लोग कर्म के ऊपर अधिक जोर देकर ईश्वर तक को उड़ा देना चाहते हैं। उनके मत से कर्म ही स्वतः प्रवृत्त होकर (automatically) फल उत्पन्न करता है। इसमें ईश्वर का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। वे भूल जाते हैं कि कर्म विधाता के विधान बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी कारण ईश्वर को निमित्त कहा गया है। ईश्वर को कर्मफल का विधाता कहने से दण्ड और पुरस्कार या नियंता नहीं कहा गया है। प्रचलित ईसाई धर्म में दण्ड–पुरस्कार (Reward and Punishment) के साथ ईश्वर का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है। ईसाइयों का ईश्वर जो या ईर्ष्यान्वित ईश्वर (Jealous God) है! इस प्रकार ईश्वर को जीव के पाप-पुण्य के निर्णयकर्त्ता के पद पर प्रतिष्ठित कराया जाता है। वह प्रत्येक जीव के और पाप को तौल करके सुख-दुःख विधान करता है।

तत्तज्जीवगतानि एव असाधारणानि। २, १, ३४ सूत्र पर शंकर भाष्य।
कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवं ईश्वरः
सापेक्षत्वात् न वैषम्यनैघृण्यभ्यां दुष्यन्ति।

इस सूत्र के भाष्य में रामानुजाचार्य ने यह पराशर-वचन उद्धृत किया है कि 'सृज्य पदार्थों की सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त मात्र है; असल में सृज्य जीव की शक्ति ही (कर्म) सृष्टि का प्रधान कारण है'; भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भागवतकार ने सृष्टि के पक्ष में तीन कारण बतलाये हैं—काल, स्वभाव और संस्कार। स्वभाव से मतलब है जगत् का जड़ उपादान-प्रकृति; संस्कार—जीव का अदृष्ट या संचित कर्म। जब प्रलय के अन्त में पर्यायक्रम से सृष्टि का काल उपस्थित होता है तब भगवान् जीव के अदृष्ट को अवलम्बन करके प्रकृति के परिणाम में विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं; अतएव कर्म ही सृष्टि की विषमता का प्रधान है।

मीमांसक लोग भी कर्म की प्रधानता मानते है। उनके मत से भी कर्म ही विषमता का जनक है; किन्तु वे लोग कर्म के ऊपर अधिक जोर देकर ईश्वर तक को उड़ा देना चाहते हैं। उनके मत से कर्म ही स्वतः प्रवृत्त होकर (automatically) फल उत्पन्न करता है। इसमें ईश्वर का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। वे भूल जाते हैं कि कर्म विधाता के विधान बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी कारण ईश्वर को निमित्त कहा गया है। ईश्वर को कर्मफल का विधाता कहने से दण्ड और पुस्कार या नियंता नहीं कहा गया है। प्रचलित ईसाई धर्म में दण्ड-पुरस्कार (Reward and Punishment) के साथ ईश्वर का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है। ईसाइयों का ईश्वर जो या ईर्ष्यान्वित ईश्वर (Jealous God) है! इस प्रकार ईश्वर को जीव के पाप-पुण्य के निर्णयकर्त्ता के पद पर प्रतिष्ठित कराया जाता है। वह प्रत्येक जीव के और पाप को तौल करके सुख-दुःख विधान करता है।

तत्तज्जीवगतानि एव असाधारणानि। २, १, ३४ सूत्र पर शंकर भाष्य।
कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवं ईश्वरः
सापेक्षत्वात् न वैषम्यनैघृण्यम्यां दुष्यन्ति।

जगत् में देख पड़ने वाली विषमता का समाधान कर्मवाद को सहायता से किया जाता है सही, किन्तु उससे सृष्टि के आरम्भ में जो विषमता प्रवर्तित थी उसका कारण बतलाया जाना क्या संभव है ? शास्त्र में सृष्टि का जैसा विवरण दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि जगत् में पहले से ही विषमता मौजूद है। उद्‌भिज के पशु, मनुष्य और देव-जीव में भेद आरम्भ से ही थे।[3]

'उससे सृष्टि के आरम्भ में देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी— ये विविध पदार्थ उत्पन्न हुए।[1]

'उस अक्षर (परमेश्वर) से विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते है'। पहले कहा गया है कि कर्म वैचित्र्य ही इस विषमता का कारण है। देहधारी जीव के विना कर्म कौन करेगा ? सृष्टि के पहले तो जीव का देह के साथ संयोग रहता नहीं। तब कर्म आयेगा कहां से ? और कहा यह जाता है कि ईश्वर जीव के कर्म की अपेक्षा करके ही सृष्टि-वैषम्य का विधान करते हैं। इस आपत्ति का उत्तर देना भारतीय दर्शन के लिए बहुत ही सहज है; क्योंकि भारतीय शास्त्र के अनुसार सृष्टि अनादि है और आगे भी यह सिल-सिला जारी रहेगा।[2]

जिस प्रकार अंकुर से बोज और बीज से अंकुर होता है उसी प्रकार कर्म से सृष्टि और सृष्टि के लिए कर्म हैं। इस विषय में ब्रह्मसूत्र का निर्णय इस प्रकार है—

न कर्माविभागत् इति चेच् न अनादित्वात्।[3]

---

२. तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावः
प्रजायन्ते तत्र चैवादि यन्ति। मुण्डक, २।१।१

---

३. निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारवोभूता यतो वे सृज्यशक्तयः॥
१. तस्मात् च देवा वहुधा संप्रसूताः

इस सूत्र के भाष्य में रामानुजाचार्य ने यह पराशर-वचन उद्धृत किया है कि 'सृज्य पदार्थों की सृष्टि में ईश्वर तो निमित्त मात्र है; असल में सृज्य जीव की शक्ति ही (कर्म) सृष्टि का प्रधान कारण है'; भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भागवतकार ने सृष्टि के पक्ष में तीन कारण बतलाये हैं—काल, स्वभाव और संस्कार। स्वभाव से मतलब है जगत् का जड़ उपादान-प्रकृति; संस्कार—जीव का अदृष्ट या संचित कर्म। जब प्रलय के अन्त में पर्यायक्रम से सृष्टि का काल उपस्थित होता है तब भगवान् जीव के अदृष्ट को अवलम्बन करके प्रकृति के परिणाम में विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं; अतएव कर्म ही सृष्टि की विषमता का प्रधान है।

मीमांसक लोग भी कर्म की प्रधानता मानते है। उनके मत से भी कर्म ही विषमता का जनक है; किन्तु वे लोग कर्म के ऊपर अधिक जोर देकर ईश्वर तक को उड़ा देना चाहते हैं। उनके मत से कर्म ही स्वतः प्रवृत्त होकर (automatically) फल उत्पन्न करता है। इसमें ईश्वर का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। वे भूल जाते हैं कि कर्म विधाता के विधान बिना कुछ भी नहीं कर सकता। इसी कारण ईश्वर को निमित्त कहा गया है। ईश्वर को कर्मफल का विधाता कहने से दण्ड और पुस्कार या नियंता नहीं कहा गया है। प्रचलित ईसाई धर्म में दण्ड–पुरस्कार (Reward and Punishment) के साथ ईश्वर का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है। ईसाइयों का ईश्वर जो या ईर्ष्यान्वित ईश्वर (Jealous God) है! इस प्रकार ईश्वर को जीव के पाप-पुण्य के निर्णयकर्त्ता के पद पर प्रतिष्ठित कराया जाता है। वह प्रत्येक जीव के और पाप को तौल करके सुख-दुःख विधान करता है।

तत्तज्जीवगतानि एव असाधारणानि। २, १, ३४ सूत्र पर शंकर भाष्य।

कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवं ईश्वरः

सापेक्षत्वात् न वैषम्यनैघृण्यभ्यां दुष्यन्ति।

जगत् में देख पड़ने वाली विषमता का समाधान कर्मवाद को सहायता से किया जाता है नहीं, किन्तु उससे सृष्टि के आरम्भ में जो विषमता प्रवर्तित थी उसका कारण बतलाया जाना क्या संभव है ? शास्त्र में सृष्टि का जैसा विवरण दिया हुआ है उससे ज्ञात होता है कि जगत् में पहले से ही विषमता मौजूद है। उद्भिज के पशु, मनुष्य और देव-जीव में भेद आरम्भ से ही थे।[3]

'उससे सृष्टि के आरम्भ में देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी—ये विविध पदार्थ उत्पन्न हुए।[1]

'उस अक्षर (परमेश्वर) से विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं'। पहले कहा गया है कि कर्म वैचित्र्य ही इस विषमता का कारण है। देहधारी जीव के बिना कर्म कौन करेगा ? सृष्टि के पहले तो जीव का देह के साथ संयोग रहता नहीं। तब कर्म आयेगा कहां से ? और कहा यह जाता है कि ईश्वर जीव के कर्म की अपेक्षा करके ही सृष्टि-वैषम्य का विधान करते हैं। इस आपत्ति का उत्तर देना भारतीय दर्शन के लिए बहुत ही सहज है; क्योकि भारतीय शास्त्र के अनुसार सृष्टि अनादि है और आगे भी यह सिल-सिला जारी रहेगा।[2]

जिस प्रकार अंकुर से बीज और बीज से अंकुर होता है उसी प्रकार कर्म से सृष्टि और सृष्टि के लिए कर्म हैं। इस विषय में ब्रह्मसूत्र का निर्णय इस प्रकार है—

न कर्माविभागत् इति चेच् न अनादित्वात्।[3]

---

२. तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावः
प्रजायन्ते तत्र चैवादि यन्ति। मुण्डक, २।१।१

---

३. निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारवीभूता यतो वे सृज्यशक्तयः॥

१. तस्मात् च देवा बहुधा संप्रसूताः

पतंजलि ने भी योग सूत्र में यही बात कही है कि हमारे अन्दर वासनाओं का आदि नहीं हैं। ये कर्म के विपाक अनादि काल से हैं। उनका प्रारम्भ नहीं माना जा सकता है। ये कर्म की वासनायें जन्म जन्मान्तर में साथ रहती हैं। जीवात्मा की इच्छा यह रहती है कि वह सदा रहे, वह न रहे, ऐसी इच्छा उसकी कभी भी नहीं रहती है।[1] वह नित्य रहना चाहता है। उसकी यह इच्छा सिद्ध करती है कि वह नाना जन्मों में फल कर्म करता रहा है और उनका फल भोगता रहा है।[2]

कर्म क्या है ? अतंर्दृष्टि करने पर हम देखते हैं कि आत्मा की तीन शक्तियां हैं; ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति।[1]

'इस (आत्मा) की परा शक्ति और विविध माना है; ज्ञान-शक्ति बल (इच्छा) शक्ति और दिव्या शक्ति ये तीनों स्वभाव सिद्ध हैं'।

शक्ति का प्रकाश दिव्या से होता है। आत्मा की ये जो तीन शक्तियां हैं इनका प्रकाश किसमें है ?

ज्ञानशक्ति का क्रिया चिन्तन (Thought) है; इच्छा शक्ति की क्रिया वासना (Desire) हैं; और क्रियाशक्ति की क्रिया चेतना (Action) है। अतएव, आत्मा से जो तीन शक्तियां उद्भूत होती हैं उनका प्रकाश चिंतना, वासना और चेष्टता के द्वारा होता है।

---

१. तासां अनादित्वम् चाशिषोनित्यत्वात्--४,१०

२. इसका भाष्य है—
नैष: दोषः अनादित्वात् संसारस्य। भवेद् एष दोषो यदि आदि-मान् संसार स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् हेतुहेतु मद्र-भावेत कर्मणः सर्गवैषम्यस्य चप्रवृत्तिन विरुध्यते--शकर भाष्य

---

१. परास्य शक्तिर्विविधा च माया,
स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया च। —श्वेताश्वर, ६/८

जगत् सभी जगह नियम के अधीन है। अतः वैज्ञानिक नियम "क्रियाभाव की प्रतिक्रिया है" जैसा प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध में सत्य है वैसा ही आध्यात्मिक जगत् के सम्बन्ध में भी। क्या आध्यात्मिक और क्या प्राकृतिक, क्या चित् और क्या जड़, जगत् में कहीं भी इस नियम का व्यत्यय नहीं है। इस त्रिविध क्रिया—चिन्तन, वासना और चेष्टता का साधारण नाम कर्म है। कर्मफल से कर्म का ही उत्तररूप है और कर्म कमफल का पूर्वरूप है कर्म करने से उसका फल होगा ही, यह स्वयं सिद्ध बात है। अतएव चिन्तन, वासना और चेष्टता का कर्मफल अवश्यंभावी है।

कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। कर्म अपने फलों को भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं चाहे सैकड़ों कल्प क्यों न व्यतीत हो जायें।[1] ब्रह्मवैवर्त में भी इसे स्पष्ट माना गया है कि पाप और पुण्य युक्त कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते बिना भोगे हुए वे नष्ट नहीं होते हैं।

इन कर्मों के भोगने में महाभारत में युक्ति दी गई है कि जिस प्रकार हजारों गौवों के बीच बछड़ा अपनी मां को ढूंढ लेता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता का अनुसरण करता है।[3] यह मानना उचित होगा कि कर्म के पंजे में आने के पश्चात् उसके बचने का कोई उपाय नहीं। अतः कर्म का फल भोगना ही पड़ता है।

---

(१) नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि
(२) अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
शुभाशुभं यत् कर्म विना भोगान्न तत्क्षयः॥
ब्रह्मवैवर्त कृष्ण जन्म खण्ड, ४४
३. यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वं कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥
-महाभा० शान्तिपर्व १८१/१६

एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार जैसा बीज होगा वैसा ही वृक्ष उत्पन्न होगा ।[1] बबूल का बीज बोकर, आम की आशा करना केवल मूर्खता ही कही जा सकती है । अतः पुण्य कर्म का फल सुख है और पाप कर्म का फल दु.ख है । योग दर्शन में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट युक्ति दी गई है कि पुण्य और अपुण्य हेतु होने के कारण उन कर्मों का फल सुखरूप और दूःखरूप ही होता है ।[2]

कर्म विभाजन—इस जन्म में मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म करता है । इसी जन्म में अपितु अनेक जन्मों में और अनेक योनियों में पुन: पुनः लेता हुआ वह विचरना रहता है । वह जीवात्मा अनेक चिन्तन, वासना और चेष्टाओं का कर्त्ता है । हमारे पूर्व जन्म के किये हुये कर्म अथवा इस जन्म के कर्म शुभ या अशुभ होंगे । पुण्य या पापमय होंगे । सुकृत होंगे या दुष्कृत होंगे । जिस जन्म में कर्म किये हैं । उनका फल उसी जन्म में मिले, यह आवश्यक नहीं है । कर्म के विषय में अनेक दार्शनिक शंकायें उत्पन्न होती हैं कि एक कर्म का फल जन्म होता है अथवा एक कर्म का फल अनेक जन्म होता हैं । यदि इन उपर्युक्त दोनों में से किसी अवस्था को स्वीकार किया जाय तो काल के न्यून होने आपत्ति आ खड़ी होती हैं । एक कर्म का फल एक जन्म मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक जन्म के कर्मों का भोगना भी कठिन हो जायेगा । एक जन्म मनुष्य अनेकों कर्मों को करता है । अत: उन कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए वह कितने ही जन्म लेता । अतः समय नहीं होगा और असंख्य कर्मों का फल भोगना शेष रहता रहेगा । अत: इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता है । एक कर्म का फल यदि अनेक जन्म माना जाय तो काल की अत्यधिक न्यूनता होगी । कर्मों का फल भोगना असम्भव हो जायेगा ।

---

(१) As you & sow so you seap.

(२) ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात् (योग० २/१४)

यदि तीसरा सिद्धान्त स्वीकार किया जाय कि अनेक कर्मों का फल अनेक जन्म होता है तो भी पूर्व प्रश्न समुपस्थित होगा अतः काल का अभाव ही कर्मों का फल भोगने नहीं देगा। इस का निष्कर्ष यह मानना उचित होगा कि अनेक कर्मों का फल एक जन्म होता है। जिन कर्मों के कारण विपाक बनाता है वे क्रियमाण कर्म कहे जाते हैं। उन्हीं को वर्तमान कर्म भी कह सकते हैं।[1] योगदर्शन में कहा है कि योगी के कर्म पाप और पुण्य रहित होते हैं योगियों से भिन्न सामान्य मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के हैं।[2] जो सामान्य मनुष्य होते हैं उनके कर्म शुक्ल अर्थात् पुण्य। कृष्ण अर्थात् पापयुक्त और शुक्ल कृष्ण पापयुक्त मिश्रित। इन उक्त तीन प्रकार के कर्मों के प्रधान कर्म ही अगले जन्म को निर्धारित करते हैं। अर्थात् मनुष्य जन्म के फल देने के लिए अभिमुख जो वासनायें हैं उन्हीं की अभिव्यक्ति मनुष्यादि जन्म के लिए होती है।[3]

मनुष्य के असंख्य संचित कर्म पड़े रहते हैं। उनके भोगने का अवसर पता नहीं किस जन्म में आयेगा। उन्हीं कर्मों का भोगने जा जब अवसर आता है तो हम उन्हें प्रारब्ध या भाग्य कहते हैं। प्रारब्ध कर्मो के विषय में भागवत में कहा है कि संचित कर्मों में से जिस निर्दिष्ट अंश को भोगने के नये जन्म से पूर्व काल प्रेरणा करता है वही प्रारब्ध कर्म है।[1] अतः कर्मों का विभाजन इस प्रकार

---

१. क्रियमाणन्च तत्कर्म वर्तमानं तदुच्यते।
अनेकजन्मसंजातं प्राक्तनं सजितस्मृतम्॥ (भागवत ६/१०/९-१२)

(२) कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
(योग कै० पा० ६ सूत्र)

(३) ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्। (यो० ४/८)

---

(१) सचितानां पुनर्मध्यात् समाहृत्य कियत् किल्।
देहारंभे च समये कालः प्रेरयतीव ततः॥
प्रारब्ध कर्म विज्ञेयम्
तदेव संचितेभूयश्च कर्मभ्यः कर्मभिः पुनः
(देवी भागवत–६/१०/९-१२)

हुआ कि संचित प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म को कच्चा फल समझना चाहिए। वह अभी भोग के योग्य नहीं है। प्रारब्ध कर्म पका हुआ फल हैं—वह फल देने योग्य हो गया है.। इस जन्म के जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनको भोगना ही पड़ेगा। बिना भोगे उन का नाश नहीं होता है।[2] जैसे धनुष से छुटा हुआ तीर अपने लक्ष्य तक पहुंचे बिना नहीं रुकता है। उसी प्रकार कर्म का भोगना प्रारम्भ हो गया है, वह भोगे बिना अधूरा नहीं रहता है।

जिस जातीय कर्म का जो विपाक होता उसी के अनुसार वासना का उदय होता है। कर्म फल के सामञ्जस्य के विषय योग दर्शन में स्पष्ट माना गया है कि कर्म और भोग के मध्य सैकड़ों, हजारों जातियों, दूर अति दूर के देशों और करोड़ों कल्प समय का अन्तर रह सकता है। उनके आनन्तर्य में कुछ भी हानि नहीं होती है अपितु पूर्ण समन्वय एवं सामञ्जस्य बना रहता है।[3]

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिन कर्मों का क्रम भोगारूढ़ है वे कर्म किसी कल्प पूर्व भी किये हो सकते हैं। उनका निर्णय करना अत्यधिक दुष्कर माना गया है। सामन्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है। यागी जन भी उस कर्म की विचित्र गति को जानने में असमर्थ हैं। योग दर्शन में व्यास मुनि भाष्य में यह स्पष्ट मानते हैं कि कर्मों की गति अति विचित्र है। योगी भी उसे जानने में असमर्थ हैं ? कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्म वेदनीन होते हैं। सूत्रकार कहता है कि कर्माशय का अर्थ धर्माधर्म है। यह धर्माधर्म मोहादिमूलक हैं। और इन के फल इस जन्म और अगले

---

२. योजत्येव तं काल: (भागवत ४/१२/२२–६०)
प्रारब्ध कर्माणां भोगादेवक्षय: (भा०)

३. जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्य स्मृति संस्कारयो: एक-रूपत्वात्। (यो० ४/६)

---

(१) कर्मणां गतिविचित्रा योगिनाम्यगम्य:
(योग २,१२ व्यास भाष्य)

जन्म में प्रकाशित होते हैं।[1] इस पर योग भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि हमारे इस जन्म के कर्म का मूल काम, क्रोध, लोभ और मोह है इन का फल इस जन्म में या अगले जन्मों उन को भोगता है। उत्कृष्ट पाप या पुण्य का फल सद्य मिलता है। जैसी पीड़ित, भय-भीत, आर्त और शरणागत पर अत्याचार ऋषि तपस्वी को पीड़ित करना इत्यादि ऐसे कर्म हैं जिनका फल या कर्माशय तुरन्त फल देने में समर्थ हो जाता है। इस सम्बन्ध में व्यास भाष्य में दो उदाहरण प्राप्त होते हैं। नहुष और नंदीश्वर नहुष इन्द्र का पद पाकर इतने अभिमानी हो गये कि उन्होंने अगस्त जैसे मुनियों को सताना प्रारम्भ कर दिया। उसका फल मिला अजगर का जन्म। इसी प्रकार नन्दीश्वर ने देव की इतनी आराधना की कि उन्हें मनुष्य शरीर के बदले इसी जन्म में देवत्व मिल गया था। इसी प्रकार पुराणों और अन्यत्र इस प्रकार के दृष्टान्त दिये जाते हैं। उन कथाओं की सत्यता पर सन्देह किया जा सकता है परन्तु युक्ति से यह सिद्ध होता है कि तीव्र पाप और पुण्य कर्मों से सद्य फल की प्राप्ति हो सकती है।

कर्मफल विपाक—

कर्म का फल तभी मिलता है जब उसका विपाक हो जाता है। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करके उस को पकाता अर्थात् रंगता है, उसे अग्नि में रख कर पाक करता है। ऐसे जब मनुष्य कर्म करता तो उसके बाद उस को वासनायें चित्त में अविशिष्ट रहती हैं वे वासनायें ही कर्म विपाक में मुख्य भूमिका निभाती हैं।

---

(१) क्लेशमूलकर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः (यो० २/१२)
इस पर व्यास भाष्य—तत्र पुण्यापुण्य कर्माशयः
कामलोभमोह क्रोधप्रभवः स दृष्ट जन्म वेदनीय......तथा तीव्र क्लेशेन भीत व्याधिकृपणेषु विश्वासोपगतेषु—तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकार। स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिच्यते।
—योग दर्शन २-१२

जैसा कि वृहदारण्यकोपनिषद् में इस कर्म विपाक को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह जीवात्मा काममय है। उसी की जैसी कामना होती है, वैसा वह चिन्तन करता है, जैसा चिन्तन करता है, उसके अनुसार कर्म करता है। जैसा कर्म करता है वैसा ही हो जाता है अर्थात् फल मिलता है।[1] इस प्रकार जन्म की कामना और चिन्तन द्वारा अगला जन्म निश्चित हो जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि पहले कामना होती है या वासना? एक जन्म की वासना आगे आने वाले जन्म को किस तरह निश्चय करती है? इसके उत्तर में वृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट किया है कि जहां पर काम्यता होती है वहां पर जीव जाता है। इस विषय में मुण्डकोपनिषद् भी बत-लाती है कि यह जीवात्मा जिन काम्य वस्तुओं की कामना करता है, वहीं पर कामना के फल से उसका जन्म निश्चित हो जाता है।[2] इसी मान्यता को वृहदारण्यक में कहा है कि जिसका मन जिस में आसक्त है, उसी स्थान में उसे कर्म ले जाता है।[3]

गीता में भी कहा है कि जो स्वर्ग लोक में जाने के कर्म करता है, वह स्वर्ग में अवश्य जाता है क्योंकि वह उसकी काम्य वस्तु है।[1] कर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालते वृहदारण्यक ने माना है कि कर्म के फल स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति और वहाँ से पुनः आना ये सभी कर्म की महिमा का ही परिणाम है। बौद्ध दर्शन में इस कामना या काममय को, तृष्णा नाम से कहा है। अपभ्रंश पाली

---

१. काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति
तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। यत् कर्म कुरुते तत्
अभिसम्पद्यते। (वृ० ४,४,५)

(२) कामन् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
तदेव सक्तः अह कर्मणेति। (३, २, २)

(३) लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। (वृ० ४, ४, ६)

---

(१) ते पुण्य मासाद्य सुरेन्द्रलोक—(गीता ६-२०)
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—(गीता ६-२१)

में तृष्णा को तन्हा कहा जाता है यही तृष्णा ही संस्कार और जन्म का कारण बनती है।

इन कर्मों का विपाक जहां पर बनता है योग दर्शन में उसे कर्माशय कहा गया है। यह कर्माशय जब तक अपना कार्य करता रहता है जब तक इस के मूल कारण अविद्या आदि क्लेशों का नाश नहीं होता और विवेक ज्ञान के द्वारा उक्त क्लेशों का नाश हो जाने से नष्टमूल हुआ कर्माशय अनन्त होने पर भी उक्त फलों का आरम्भ नहीं कर सकता है, क्योंकि मूल के कट जाने पर शाखा का फली-भूत होना सम्भव नहीं है। अत: अपने मूलभूत अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान होने पर ही धर्माधर्म का रूप कर्माशय जाति आदि फल के देने वाले हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

भाष्यकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे तण्डुलतुषों के विद्यमान होने पर अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार कर्माशय में अज्ञान होने तक ही कर्मों का विपाक जाति आयु और भोग का देने वाला है। जाति का अभिप्रायः यहां जन्म से है।[2] बृहदारण्यक भी इसी मान्यता को स्वीकार करती है।[3]

मध्यकाल या पौराणिक मान्यता के अनुसार कर्मविधाता या भाग्यवाद को स्वीकार किया जाता है। वह एक विश्वास कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त में दार्शनिक तर्क का अभाव प्रतीत होता है। जो कर्मों का नियत विपाक है, फल भोगने के अवसर को ही भाग्य कहना उचित है। कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार दैव की कल्पना की गई है कि दैव ही सब करता है। वास्तव में वह हमारे सञ्चित कर्मों का भोगारूढ़ फल है। दैव वास्तव में होता

---

(२) सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा, (योग० २-१३)

(३) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (बृ० ४,४,६)

जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में इस कर्म विपाक को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह जीवात्मा काममय है। उसी की जैसी कामना होती है, वैसा वह चिन्तन करता है, जैसा चिन्तन करता है, उसके अनुसार कर्म करता है। जैसा कर्म करता है वैसा ही हो जाता है अर्थात् फल मिलता है।[1] इस प्रकार जन्म की कामना और चिन्तन द्वारा अगला जन्म निश्चित हो जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि पहले कामना होती है या वासना ? एक जन्म की वासना आगे आने वाले जन्म को किस तरह निश्चय करती है ? इसके उत्तर में बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट किया है कि जहां पर काम्यता होती हे वहां पर जीव जाता है। इस विषय में मुण्डकोपनिषद् भी बतलाती ह कि यह जीवात्मा जिन काम्य वस्तुओं की कामना करता है, वहीं पर कामना के फल से उसका जन्म निश्चित हो जाता है।[2] इसी मान्यता को बृहदारण्यक में कहा है कि जिसका मन जिस में आसक्त है, उसी स्थान में उसे कर्म ले जाता है।[3]

गीता में भी कहा है कि जो स्वर्ग लोक में जानें के कर्म करता है, वह स्वर्ग में अवश्य जाता है क्योंकि वह उसकी काम्य वस्तु है।[1] कर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालते बृहदारण्यक ने माना है कि कर्म के फल स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति और वहाँ से पुनः आना ये सभी कर्म की महिमा का ही परिणाम है। बौद्ध दर्शन में इस कामना या काममय को, तृष्णा नाम से कहा है। अपभ्रंश पाली

---

१. काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भतति तत्क्रतुर्भवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते। यत् कर्म कुरुते तत् अभिसम्पद्यते। (बृ० ४,४.५)

(२) कामन् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायिते तत्र तत्र। तदेव सक्तः अह कर्मणेति। (३, २, २)

(३) लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। (बृ० ४, ४, ६)

---

(१) ते पुण्य मासाद्य सुरेन्द्रलोक—(गीता ६-२०)
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—(गीता ६-२१)

में तृष्णा को तन्हा कहा जाता है यही तृष्णा ही संस्कार और जन्म का कारण बनती है।

इन कर्मों का विपाक जहां पर बनता है योग दर्शन में उसे कर्माशय कहा गया है। यह कर्माशय जब तक अपना कार्य करता रहता है जब तक इस के मूल कारण अविद्या आदि क्लेशों का नाश नहीं होता और विवेक ज्ञान के द्वारा उक्त क्लेशों का नाश हो जाने से नष्टमूल हुआ कर्माशय अनन्त होने पर भी उक्त फलों का अरम्भ नहीं कर सकता है, क्योंकि मूल के कट जाने पर शाखा का फली-भूत होना सम्भव नहीं है। अत: अपने मूलभूत अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान होने पर ही धर्माधर्म का रूप कर्माशय जाति आदि फल के देने वाले हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

भाष्यकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे तण्डुलतुषों के विद्यमान होने पर अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, इसी प्रकार कर्माशय में अज्ञान होने तक ही कर्मों का विपाक जाति आयु और भोग का देने वाला है। जाति का अभिप्राय: यहां जन्म से है।[2] बृहदारण्यक भी इसी मान्यता को स्वीकार करती है।[3]

मध्यकाल या पौराणिक मान्यता के अनुसार कर्मविधाता या भाग्यवाद को स्वीकार किया जाता है। वह एक विश्वास कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त में दार्शनिक तर्क का अभाव प्रतीत होता है। जो कर्मों का नियत विपाक है, फल भोगने के अवसर को ही भाग्य कहना उचित है। कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार दैव की कल्पना की गई है कि दैव ही सब करता है। वास्तव में वह हमारे सञ्चित कर्मों का भोगारूढ़ फल है। दैव वास्तव में होता

---

(२) सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा, (योग० २-१३)

(३) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।। (बृ० ४,४,६)

हो नहीं है, केवल कल्पना मात्र है। योगवाशिष्ठ में स्पष्ट किया गया है कि मन्द बुद्धि के लोगों ने दैव की कल्पना की है।[1] इस बात को स्पष्ट करते हुए मीमांसा की गई है कि जो लोग कर्म न करके भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं वे अपना धर्म अर्थ और काम सभी नष्ट कर देते हैं।[2] वे दैव को सब कुछ मान कर ही पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं। ऐसे लोगों के यहां से लक्ष्मी भी वापिस लौट जाती है अर्थात् वे निर्धन बन जाते हैं।[3] इसलिए पौरुष दो प्रकार का माना गया है। प्राक्तन और अद्यतन। इसे ही आमुष्मिक और ऐहिक। पिछले जन्म का और इस जन्म का किया हुआ कर्म। वास्तव में पौरुष ही सर्वत्र कर्म करता है, दैव नहीं[4] वास्तव में पिछले जन्म का किया हुआ कर्म, या इसी जन्म का कर्म भी भोगते समय अदृष्ट कहाता है। अदृष्ट कोई दैव नहीं है। वह प्राक्तन कर्म ही है। हां यह अवश्य तथ्यपूर्ण है कि किस कर्म का फल क्या होगा? यह निश्चित रूप में कहना बड़ा ही कठिन है। क्योंकि कर्मों के फल का निर्धारण जानना दुष्कर है।

कर्म का प्रारम्भ कब से हुआ? इस का उत्तर प्रायः भारतीय दर्शनों में अनादि मान कर दिया गया है। क्योंकि यदि कर्म का प्रारम्भ माना जाय और जीवात्मा का कोई भी जीवन का प्रारम्भ या आदि माना जायेगा तो न किये हुए कर्म का भोग और किये गये कर्म विनाश मानना पड़ेगा।[1] अतः इसलिए योग दर्शन में

---

(१) कल्पितं मोहितैर्मन्दै दैवं किञ्चन्न विद्यते।
(यो० वा० मु० प्र० ४/१०)
२. ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशयत्यात्मविद्विषः (वही० १६-३)
३. अदृष्टश्रेष्ठ्य बुद्धीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते (वही ५-२०)
(४) पौरुषं सर्व कर्माणां कर्तृ राघव नेतरत्। नदैवं तत्र कारणम्।
(वही ० ६-१)
५. कर्मणां गति दुर्विज्ञेयः (योग०)

---

(१) कर्म प्रणाशाकृत कर्म भोगः (जैन दर्शन सर्वदर्शन संग्रह)

स्पष्ट रूप में बतलाया गया है कि कर्मों की वासना या कर्म विपाक अनादि है।[2] जब जोवात्मा नित्य है और संसार भी प्रवाह से अनादि है तो कर्म भी अनादि स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

निष्काम कर्म—

वैदिक साहित्य से लेकर समस्त भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में कर्मों का अनिवार्य बतलाया गया है। इस सिद्धान्त का विरोधाभास भी उक्त साहित्य में प्राप्त होता है । अर्थात् आत्मा या मन के विकास की वह चरम स्थिति जिसमें कर्म करता है, परन्तु उस का फल उसे नहीं मिलता अर्थात् वह कर्म उस, मन की उच्च स्थिति में करता है, जिसमें कर्म के पीछे वासना या लगाव (मोहादि) आदि का संक्रमण नहीं होने देता है। यजुर्वेद या ईशोपनिषद् ने इस मन्तव्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि मनुष्य को सौ वर्ष और उससे भी अधिक समय तक कर्म हुए जीने का संकल्प करना चाहिए, परन्तु यदि लोभादि के कारण कर्म किये जायें[3] केवल कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म किये तो पूर्ण आयु भर कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता,[4] अर्थात् उसके कर्म फल देने वाले नहीं होंगे अपितु वे विपाक रूप में परिणत नहीं होते, क्योंकि वे कर्म वासना रहित किये गये हैं। जैसे कि बीज को दग्ध किया जाय तो उस बीज से अंकुर प्रस्फुटित नहीं होते हैं।[5] इस स्थिति के बिना मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गीता भी इसको स्वीकार करती है। जो विद्वान ज्ञानाग्नि से कर्मों को दग्धबीज भाव रूप में कर लेते हैं वे ही सच्चे पण्डित हैं।[6] यही तभी सम्भव है जब जीवात्मा

(२) तासां अनादित्वं......नित्यत्वत् (योग सूत्र—४-१०)
(३) तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्य स्विद्धनम् । (ईशो०-७)
(४) दग्धबीजभावः (यो० द० व्यास भाष्य २।।२) ।
(५) एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते ।

(६) ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणां तमाहुः पण्डितं बुधा ।। गीता ४, १९-२०

कर्म फल के प्रति आसक्ति हटा कर नित्यतृप्त और लगाव रहित हो गया है।[2] इसी को गीताकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि कर्मों के पीछे अहं भाव को छोड़ देना चाहिये। जो व्यक्ति ईश्वर में कर्म अर्पण करके आसक्ति रहित होकर कर्म करता है, वह उस के फल में लिप्त नहीं होता है।[3] वेदान्त दर्शन भी यही मानता हैं कि तत्त्वज्ञान की स्थिति उत्पन्न हो जाने के बाद न केवल क्रियमाण पाप का ही अपितु क्रियमाण पुण्य का भी अश्लेष हो जाता है।[4] इसी प्रकार उपनिषद् भी कहती है कि तत्त्वज्ञानी पाप और पुण्य दोनों से बच कर अमृत को प्राप्त कर लेता है।[5] सांख्यदर्शन में विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा का वर्णन करते हुए कहा है कि सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने के बाद धर्मादिक सात बन्धन दग्ध बीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि अग्नि से दग्ध किया हुआ बीज, प्ररोह शक्ति को प्राप्त नहीं होता ऐसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म फल देने में समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि समाधि प्राप्त सम्यक् ज्ञान से कर्म क्षीण हो जाते हैं।[6] आचार्य शंकर भी इन कर्मों को भस्म हुआ मानते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि भस्मान्त संचित कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता है। उसके

---

(६) सम्यक् ज्ञानाधिगमात् उत्पन्न सम्यक् ज्ञानस्य:.....एतानि सप्तरूपाणि बन्धन भूतानि सम्यक् ज्ञानेन दग्धानि।
(साँख्य कारिका भाष्य)

(७) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (मु० २/२/८)

---

(२) त्यक्त्वा कर्म फलासंग नित्यतृप्तो निराश्रय—वही

(३) ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति य.। (वही ५/१०

(४) तदाधेगम्य उत्तरपूर्वाधयो: अश्लेपविनाशौ। ब्रह्मसूत्र ४,१,१३,४१

(५) सर्वे पाप्मानोऽतः निवर्तन्ते। उभे उ हैव एौ रतोपतेत।

दूसरे जन्म का भय नहीं रहता है। यह तभी सम्भव है कि जब सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है।[1] हां इतना अवश्य है कि जो कर्म भोगारूढ़ हो गये हैं वे अवश्य भोगे जाते हैं। प्रवृत्त कर्मों का ज्ञानाग्नि से दग्ध किया जा सकता है। इसलिए सांख्यदर्शन में कहा है कि कर्म नष्ट होने पर भी भोगारूढ़ कर्म फल भोगने तक शरीर रहता है, उस के बाद पुरुष की मुक्ति हो जाती है।[2]

□।□

(१) यानि अप्रवृत्त फलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि अज्ञान सहभावीनि च.........सर्वाणि कर्माणि भस्मसात् कुरुते।

(शांकर भाष्य, गीता पर)

(२) तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः।

(सांख्य कारिका ६७)

एकादश-अध्याय

प्रामाण्यवाद

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों एवं सभी प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है। ज्ञानमीमांसा क्षेत्र में इस के बाद यह समस्या उत्पन्न होती है कि ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है, वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ है। उस ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा कैसे की जाय ? इस प्रकार की अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा-वेदान्त के भाष्यकारों एवं टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। इस विषय में न्याय और वैशेषिक दर्शन का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं उन सब को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं। यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान का साधन ही प्रमाण है। इसे ही प्रमा एवं विषयादि नामों से पुकारा जाता है। हमें जो ज्ञान प्राप्त हो रहा है उस का प्रामाण्य या अप्रामाण्य का साधन कोई अन्य प्रमाण है, या वही प्रमाण जिसके द्वारा वह ज्ञान प्राप्त हो रहा है। यह प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही व्यवसाय के आश्रयभूत बनते हैं। यह व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होता है। इन दोनों का अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान अनु व्यवसाय गृहीत हो कर अनुमान से ग्रहण किया जाता है जैसे तालाब का जल-ज्ञान प्राप्त होता है, हम वहां जाकर जल पीते हैं। जब जल से प्यास बुझ जाती है तो सन्तोष होता है कि जो जल ज्ञान हमें हुआ था, वह प्रामाण्य से युक्त अर्थात् यथार्थ रूप है। यह यथार्थ रूप हमने अनुमान से जाना है। जो जल ज्ञान

हुआ था, वह यथार्थरूप ठीक निकला है। परन्तु इससे विपरीत दशा भी हो सकती है। जब कोई व्यक्ति रेगिस्तान में जल ज्ञान प्राप्त करता है, वह अपनी प्यास बुझाने के लिए वहाँ जाता है परन्तु वहां जल प्राप्त नहीं होता वह निराश लौटता है। वह उस समय विचारता है, जो जल ज्ञान प्राप्त हुआ था वह अयथार्थ अर्थात् अप्रामाण्य युक्त हैं।

इस प्रकार जल का ज्ञान जो प्रमात्मक हो और चाहे अप्रमात्मक है, वह स्वयं तो अनु व्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है।

प्रामाण्यवाद की समस्या पर जिन दार्शनिकों ने विचार किया है, उन्हें हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) साँख्य का मत स्वतः प्रामाण्याप्रमाण्य है। (२) नैयायिकों का पक्ष परतः प्रामाण्याप्रामाण्य है। (३) स्वतः प्रामाण्य, परतः अप्रामाण्य का पक्ष मीमाँसक एवं वेदान्तियों का पक्ष है। (४) बौद्ध दार्शनिकों का पक्ष स्वतः अप्रामाण्य तथा परतः, प्रामाण्य है।[1] इन मतों सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मत न्याय और मीमांसा दर्शनों के माने जाते हैं। ये दोनों मत शास्त्रार्थ का विषय रहे हैं।

इन मतों में न्याय दर्शन के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतो ग्राह्य नहीं हैं, अपितु परतो ग्राह्य होते। इसका अभिप्रायः है कि जिन कारणों से प्रामाण्यः है कि जिन कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, केवल वे ही

---

१. प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः,
नैयायिकस्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।
प्रथमं परतः प्राहुः, प्रामाण्यं वेदवादिनः,
प्रमाण त्वमस्वतः प्राहुः परतश्चाऽप्रमाणताम्॥
(सर्वदर्शन संग्रह, जैमिनि दर्शन संग्रह)

एकादश-अध्याय

प्रामाण्यवाद

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों एवं सभी प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है। ज्ञानमीमांसा क्षेत्र में इस के बाद यह समस्या उत्पन्न होती है कि ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है, वह यथार्थ है अथवा अयथार्थ है। उस ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा कैसे की जाय ? इस प्रकार की अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक. सांख्य-योग और मीमांसा-वेदान्त के भाष्यकारों एवं टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। इस विषय में न्याय और वैशेषिक दर्शन का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं उन सब को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं। यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान। यथार्थ ज्ञान का साधन ही प्रमाण है। इसे ही प्रमा एवं विषयादि नामों से पुकारा जाता है। हमें जो ज्ञान प्राप्त हो रहा है उस का प्रामाण्य या अप्रामाण्य का साधन कोई अन्य प्रमाण है, या वही प्रमाण जिसके द्वारा वह ज्ञान प्राप्त हो रहा है। यह प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही व्यवसाय के आश्रयभूत बनते हैं। यह व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होता है। इन दोनों का अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान अनु व्यवसाय गृहीत हो कर अनुमान से ग्रहण किया जाता है जैसे तालाब का जल ज्ञान प्राप्त होता है, हम वहां जाकर जल पीते हैं। जब जल से प्यास बुझ जाती है तो सन्तोष होता है कि जो जल ज्ञान हमें हुआ था, वह प्रामाण्य से युक्त अर्थात् यथार्थ रूप है। यह यथार्थ रूप हमने अनुमान से जाना है। जो जल ज्ञान

हुआ था, वह यथार्थरूप ठीक निकला है। परन्तु इससे विपरीत दशा भी हो सकती है। जब कोई व्यक्ति रेगिस्तान में जल ज्ञान प्राप्त करता है, वह अपनी प्यास बुझाने के लिए वहाँ जाता है परन्तु वहां जल प्राप्त नहीं होता वह निराश लौटता है। वह उस समय विचारता है, जो जल ज्ञान प्राप्त हुआ था वह अयथार्थ अर्थात् अप्रामाण्य युक्त हैं।

इस प्रकार जल का ज्ञान जी प्रमात्मक हो और चाहे अप्रमात्मक है, वह स्वयं तो अनु व्यवसाय नाम के मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है।

प्रामाण्यवाद की समस्या पर जिन दार्शनिकों ने विचार किया है, उन्हें हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) साँख्य का मत स्वतः प्रामाण्याप्रमाण्य है। (२) नैयायिकों का पक्ष परतः प्रामाण्याप्रामाण्य है। (३) स्वतः प्रामाण्य, परतः अप्रामाण्य का पक्ष मीमाँसक एवं वेदान्तियों का पक्ष है। (४) बौद्ध दार्शनिकों का पक्ष स्वतः अप्रामाण्य तथा परतः, प्रामाण्य है।[1] इन मतों सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मत न्याय और मीमांसा दर्शनों के माने जाते हैं। ये दोनों मत शास्त्रार्थ का विषय रहे हैं।

इन मतों में न्याय दर्शन के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतो ग्राह्य नहीं हैं, अपितु परतो ग्राह्य होते। इसका अभिप्रायः है कि जिन कारणों से प्रामाण्यः है कि जिन कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, केवल वे ही

---

१. प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः,
नैयायिकस्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः।
प्रथमं परतः प्राहुः, प्रामाण्यं वेदवादिनः,
प्रमाण त्वमस्वतः प्राहुः परतश्चाऽप्रमाणताम् ॥
(सर्वदर्शन संग्रह, जैमिनि दर्शन संग्रह)

कारण प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान करने में समर्थ नहीं है। अपितु उस ज्ञान के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा होगी।[2]

वह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि प्रामाण्य ज्ञान के लिए सफल प्रवृत्ति जनक हेतु, अनुमानरूप अन्य कारण की अपेक्षा होती है। अप्रामाण्य के लिए विफल प्रवृत्तिजनकत्व हेतु अनुमान रूप अन्य कारण की अपेक्षा है। इन दोनों के आश्रयभूत नहीं होती, अपितु वे तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त ही हैं। न्याय की इस मान्यता का मतलब सीधा सा यह है कि किसी भी वस्तु का ग्रहण या त्याग करने के लिए जो प्रवृत्ति मनुष्य की होती है, उस के लिए वस्तु का ज्ञान मात्र होना ही पर्याप्त है। उस में प्रमात्व और अप्रमात्व का होना अपेक्षित नहीं है।[1]

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा दर्शन के तीन आचार्यो, में प्रथम श्री प्रभाकर द्वितीय कुमारिल भट्ट और तृतीय मुरारीमिश्र के मत अधिक विख्यात हैं। मीमांसा दर्शन की मान्यता के अनुसार प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है, और अप्रामाण्य परतोग्राह्य है। प्रामाण्य स्वतोग्राह्य का अर्थ है कि जिस कारण सामग्री से प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उसी कारण सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। उस के लिए कि अन्य ज्ञान सामग्री की आवश्यकता नहीं हैं। अतः उसमें किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है। प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वप्रकाश है। वह अपने जन्म के क्षण में भी अज्ञात नहीं रहता है। यह उन के मत तभी सम्भव है जब ज्ञान की उत्पादक सामग्री को ज्ञान का ग्राह्य माना जाय।[2] यदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री और ज्ञान की ग्राहक सामग्री को भिन्न–भिन्न माना जायेगा तो ज्ञान की इस

(२) न्याय मन्जरी में विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य है। पृ० १६०-१७४।

१, कन्दली टीका में वर्णन द्रष्टव्य है। पृ० २१३-२२०

(२) 'ज्ञान जब स्वयं अपने को स्वयं प्रकाशित करता है तो उस के प्रामाण्य में भी अन्य किसी कारण की कल्पना व्यर्थ है।' तर्कभाषा में द्रष्टव्य है।

लिये इस मत में घट ज्ञान की सामग्री का सन्निधान होने पर उत्पन्न होने वाले ज्ञान का "अयं घटः" यह आकार नहीं होता किन्तु "घटमहं जानामि" यह आकार होता है। क्योंकि घट ज्ञान में, उस ज्ञान में घट ज्ञान और घट ज्ञाता मनुष्य को इन तीन वस्तुओं का ज्ञान होता है। अतः इस मत को त्रिपुटीविषयक मानने वाला मत कहा जाता है।

कुमारिल भट्ट की मान्यता के अनुसार ज्ञान स्वयं अतीन्द्रिय होता है। किन्तु प्रामाण्य को जानने के लिये उस घट ज्ञान में ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्षगम्य भी होता है। उसी से उस के कारभूत का ज्ञान अनुमान होता। यह ज्ञातता ही लिङ्ग बन कर, उस का अनुमान कराती है, उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान होता है। इस मत के अनुसार प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य। अप्रामाण्य परतोग्राह्य है। श्री मुरारी मिश्र के अनुसार अनुव्यवसाय से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। न्याय मत के अनुसार प्रामाण्य का ग्रहण अनुव्यवसाय नहीं होता है।

इस प्रकार प्रभाकर कुमारिल भट्ट और मुरारी मिश्र इन तीनों प्रसिद्ध मीमांसाचार्यों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य। अप्रामाण्य का ज्ञान परतोग्राह्य हैं।

सांख्य मत के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतोग्राह्य हैं। इन के अनुसार यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य न माना जाय और परतोग्राह्य माना जायेगा तो उन के ग्रहण के लिए कल्पना करनी होगी। यह अतिरिक्त कल्पना करने का गौरव होगा। यदि वह परतोग्राह्य माना जायेगा तो में लाघव है। अतः स्वतोग्राह्यत्व का पक्ष ही उचित है। अतः अप्रामाण्य ज्ञान के उत्पन्न होते ही उस का ज्ञान और उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होगा, किन्तु जब ज्ञान ग्राहक सामग्री का सन्निधान होगा तभी उसका और उसके अप्रामाण्य का भी ज्ञान होगा।[1]

१. केचिद्-आहुर्द्वयं स्वतः—श्लोक वार्तिक सूत्र श्लोक [illegible]

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। कुछ बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते है। उन का कहना है कि कोई भी ज्ञान तब तक अप्रामाण्य ही माना जाता है जब तक उस से प्रेरणा पाकर मनुष्य ज्ञात वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रमाण ज्ञान तभी समझा जाता है जब वह विषय का प्रापक हो जाता है।[1] अन्य शान्तिरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों का मत इस उक्त मान्यता के विपरीत है, उन का कहना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।[2]

जैन दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः ज्ञप्ति में स्वतः स्वीकार किया गया है। इन के अनुसार प्रमाणभूत ज्ञान और अप्रमाणभूतज्ञान दोनों हो उत्पत्ति के लिए ज्ञान सामान्य के कारण के अतिरिक्त कारण की आवश्यकता होती है। अतः उत्पत्ति अवस्था में दोनों परतः है। अतः उन्हें अन्य कारणों की अपेक्षा है। यदि दोनों को परापेक्ष न माना जायेगा तो दोनों में ज्ञान सामान्य के कारणों की अपेक्षा होने में कोई अन्तर नहीं होगा। अतः दोनों उत्पत्ति में परतः हैं। परन्तु उस के ज्ञान ग्राहक कारणों के अतिरिक्त कारणों की आवश्यकता नहीं होती अतः ज्ञात-अवस्था में दोनों स्वतोग्राह्य हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा और न्याय की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की जाती है, न्यायदर्शन में वस्तु स्थिति यह मानी जाती हैं कि कोई मनुष्य तो घट आदि में प्रामाण्य का निश्चय होने पर उस के ग्रहण या छोड़ने आदि के लिए प्रयत्न करता है और अन्य मनुष्य घटादि के ज्ञान में प्रामाण्य के सन्देह की अवस्था में भी उस के ग्रहणादि के निमित्त प्रयत्नशील होता है। वहाँ प्रामाण्य का निश्चय तो तब होता घटादि के ग्रहण

---

१. सौगताश्चरमं स्वतः—सर्वदर्शन संग्रह बौद्ध दर्शन।
२. तत्त्वसंग्रह में यह संकेत प्राप्त होता है।

का लाभ होने पर, उस ज्ञान के आधार पर किया गया प्रयास सफल हो जाता है।

न्याय भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने न्यायभाष्य में कहा है कि प्रमाण से अर्थ प्रतिपति और प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाण अर्थ-वत् होता हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति सामर्थ्य से ही प्रमाण में अर्थवत्ता आती है उस अर्थवत्ता के आने पर अर्थात् सार्थक होने पर ही प्रमाण सही रूप में होता हे इसी सन्दर्भ में न्यायवार्तिकार उद्योगकर का मत है कि रागादि युक्त मनुष्यों की समर्थ और असमर्थ दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं जब व्यक्ति इष्ट प्राप्ति की भावना से प्रवृत्त होकर उसे प्राप्त कर लेता है तब वह समर्थ प्रवृत्ति कहलाती है और जब व्यक्ति उसे त्यागने में प्रवृत्त होता है तब अस्मर्थ प्रवृत्ति होती है। प्रमाण के द्वारा अर्थ निश्चय करके प्रवृत्ति होने पर समर्थ प्रवृत्ति और प्रमाणाभास के कारण विषय का निश्चय करके प्रवृत्ति होने पर असमर्थ प्रवृत्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि सार्थक प्रवृत्ति प्रमाण को अर्थवाला बनाती है। अर्थवत् होने का अभिप्राय है कि प्रवृत्ति में बाध न होना अर्थात् सही ज्ञान का ही अर्थवत्ता और वही उस का प्रमाण भी है।[2] न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयन ने प्रामाण्य की परतः उत्पत्ति का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उत्पत्तिगत परतस्तव अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया जाता है—प्रमा, ज्ञान उत्पादक हेतु से अति-रिक्त हेतु के आधीन है, क्योंकि वह न्यायदर्शन और मीमांसा-दर्शन के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी शास्त्रार्थ के विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। न्यायमत के अनुसार वास्तविक

---

१. अर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात् अर्थवत् प्रमाणम्।

(न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य, वार्तिक)

२. न्यायवार्तिक पृष्ठ तीन।

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। कुछ बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते है। उन का कहना है कि कोई भी ज्ञान तब तक अप्रामाण्य ही माना जाता है जब तक उस से प्रेरणा पाकर मनुष्य ज्ञात वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेता। प्रमाण ज्ञान तभी समझा जाता है जब वह विषय का प्रापक हो जाता है।[1] अन्य शान्तिरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों का मत इस उक्त मान्यता के विपरीत है, उन का कहना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।[2]

जैन दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः ज्ञप्ति में स्वतः स्वीकार किया गया है। इन के अनुसार प्रमाणभूत ज्ञान और अप्रमाणभूतज्ञान दोनों हो उत्पत्ति के लिए ज्ञान सामान्य के कारण के अतिरिक्त कारण की आवश्यकता होती है। अतः उत्पत्ति अवस्था में दोनों परतः है। अतः उन्हें अन्य कारणों की अपेक्षा है। यदि दोनों को परापेक्ष न माना जायेगा तो दोनों में ज्ञान सामान्य के कारणों की अपेक्षा होने में कोई अन्तर नहीं होगा। अतः दोनों उत्पत्ति में परतः हैं। परन्तु उस के ज्ञान ग्राहक कारणों के अतिरिक्त कारणों की आवश्यकता नहीं होती अतः ज्ञात-अवस्था में दोनों स्वतोग्राह्य हैं।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा और न्याय की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की जाती है, न्यायदर्शन में वस्तु स्थिति यह मानी जाती हैं कि कोई मनुष्य तो घट आदि में प्रामाण्य का निश्चय होने पर उस के ग्रहण या छोड़ने आदि के लिए प्रयत्न करता है और अन्य मनुष्य घटादि के ज्ञान में प्रामाण्य के सन्देह की अवस्था में भी उस के ग्रहणादि के निमित्त प्रयत्नशील होता है। वहाँ प्रामाण्य का निश्चय तो तब होता घटादि के ग्रहण

१. सौगताश्चरमं स्वतः—सर्वदर्शन संग्रह बौद्ध दर्शन।
२. तत्वसंग्रह में यह संकेत प्राप्त होता है।

का लाभ होने पर, उस ज्ञान के आधार पर किया गया प्रयास सफल हो जाता है।

न्याय भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने न्यायभाष्य में कहा है कि प्रमाण से अर्थ प्रतिपति और प्रवृत्ति सामर्थ्य से प्रमाण अर्थवत् होता हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि प्रवृत्ति सामर्थ्य से ही प्रमाण में अर्थवत्ता आती है उस अर्थवत्ता के आने पर अर्थात् सार्थक होने पर ही प्रमाण सही रूप में होता हे इसी सन्दर्भ में न्यायवार्तिकार उद्योगकर का मत है कि रागादि युक्त मनुष्यों की समर्थ और असमर्थ दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं जव व्यक्ति इष्ट प्राप्ति की भावना से प्रवृत्त होकर उसे प्राप्त कर लेता है तव वह समर्थ प्रवृत्ति कहलाती है और जव व्यक्ति उसे त्यागने में प्रवृत्त होता है तव अस्मर्थ प्रवृत्ति होती है। प्रमाण के द्वारा अर्थ निश्चय करके प्रवृत्ति होने पर समर्थ प्रवृत्ति और प्रमाणाभास के कारण विषय का निश्चय करके प्रवृत्ति होने पर असमर्थ प्रवृत्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि सार्थक प्रवृत्ति प्रमाण को अर्थवाला वनाती है। अर्थवत् होने का अभिप्राय है कि प्रवृत्ति में बाध न होना अर्थात् सही ज्ञान का ही अर्थवत्ता और वही उस का प्रमाण भी है।[2] न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयन ने प्रामाण्य की परतः उत्पत्ति का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उत्पत्तिगत परतस्तव अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया जाता है—प्रमा, ज्ञान उत्पादक हेतु से अतिरिक्त हेतु के आधीन है, क्योंकि वह न्यायदर्शन और मीमांसादर्शन के प्रामाण्यवाद सम्वन्धी शास्त्रार्थ के विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। न्यायमत के अनुसार वास्तविक

---

१. अर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यात् अर्थवत् प्रमाणम्।

(न्यायदर्शन वातस्यायन भाष्य, वार्तिक)

२. न्यायवार्तिक पृष्ठ तीन।

स्थिति यह है कि कोई मनुष्य घटादि के ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय होने पर उसके लेने या त्यागने में यत्नशील होता है। दूसरा अन्य कोई व्यक्ति घटादि के ज्ञान में प्रामाण्य के सन्देह की अवस्था में भी उस वस्तु ग्रहण आदि के लिए यत्न करता है। उसके ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय तब होता है जब घटादि का लाभ होने पर उस ज्ञान के आधार पर किया गया प्रयत्न सफल हो जाता है।[1]

इस के विपरीत मीमांसक का मत है कि ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय सदा प्रवृत्ति से पूर्व ही होता है। इस का अभिप्राय है कि जिस साधन से जो ज्ञान जाना जाता है उसी प्रमाणादि साधन से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उपलब्ध होता है इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रामाण्य का ग्राहक (साधन) ज्ञान के ग्राहक से पृथक् नहीं होता। प्रामाण्य के ज्ञान में ज्ञान ग्राहक से पृथक् ज्ञान की आवश्यकता न होना ही प्रामाण्य का स्वतो ग्राह्यत्व है। अयः ज्ञान प्रवृत्ति से पूर्व ही ज्ञात होता है। अन्यथा प्रवृत्ति से पूर्व उसमें प्रामाण्य का जो सन्देह होता है वह भी कैसे होगा। अज्ञातधर्मी में सन्देह उत्पन्न नहीं होता है। अतः यह मानना समीचीन है कि ज्ञातता कि अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति से प्रवृत्ति के पूर्व ज्ञान का ज्ञान होता है और उसी समय उस अर्थापत्ति से ही ज्ञान के प्रामाण्य का भा निश्चय हो जाता है। इसके पश्चात् ज्ञाता अपने ज्ञान के विषयभूत पदार्थ के ग्रहण अथवा ज्ञान के लिए प्रवृत्त होता है। मीमांसक के अनुसार ज्ञानगत प्रामाण्य के निश्चय और ज्ञानाधीन पुरुष प्रवृत्ति का सदा यही क्रम है। यह क्रम कभी नहीं होता कि पहले वस्तु का ज्ञान मात्र ही होता है, उसी से ज्ञात विपय के लिए मनुष्य की प्रवृत्ति होती है'।

---

१. जलादि ज्ञाने तस्य जलादि ज्ञाने ज्ञाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिद् जलादौ प्रवर्तते। कश्चित्तु सन्देहादेव प्रवृत्त......... वस्तु गतिः। (तर्कभापा प्रामाण्यवाद प्रकरण)।

ज्ञातता कि अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति से ज्ञान और उसके प्रामाण्य का ज्ञान होता है—यह मान्यता सभी मीमांसकों की नहीं हैं किन्तु यह कुमारिल भट्ट और उसके अनुयायी आचार्यो की ही मान्यता है। इसका अभिप्राय यह है जब किसी मनुष्य को घटादि किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब उसे सीधे उस ज्ञान के होने का पता नहीं लगता, परन्तु पहले घटादि में उसें ज्ञातता नाम के नए धर्म का दर्शन होता है। जिसे वह "मया घटो ज्ञात:"—मुझे घट ज्ञात हो गया हैं" यह कह कर प्रकट करता है। बाद में उसके कारण रूप में ज्ञान का अधिज्ञान होता हैं। इसका क्रम यह कहा जा सकता है कि जब मनुष्य को ज्ञातता का दर्शन हो जाता है। तब वह विचार करता है कि घटादि में जो ज्ञातता उसे दिखलाई दे रही है वह किसी अन्य कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यदि उसे घटादि का स्वाभाविक धर्म या अकारण ज्ञान धर्म माना जायेगा तो घटादि में उसके सदा ही दृष्टिगत होने की आपत्ति होगी।[1]

कुमारिल भट्ट की इस मान्यता के विपरीत नैयायिक की मान्यता है कि यह नहीं हो सकता कि ज्ञान का ज्ञान ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से होने वाली अर्थापत्ति से होता है। फिर उस अर्थापत्ति से ज्ञान के प्रामाण्य का होना तो बहुत ही असम्भव है क्योंकि नैयायिक मानते हैं कि ज्ञान विषयता से भिन्न ज्ञातता नामक कोई धर्म ही प्रामाणिक नहीं हो सकता है। अत: अर्थापत्ति द्वारा उपर्युक्त मत सिद्ध करने का प्रयास करना निराधार है। क्योंकि घट ज्ञान के जन्म होने पर "मया घटो अयं ज्ञात" इस रूप में जो ज्ञातता अवगत होती है वह कोई नया धर्म नहीं है। अपितु

---

१. तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतम्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्ति प्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते।

वह ज्ञान विषयता रूप है। मुझे घट ज्ञात हो गया इस कथन का यही अभिप्राय है कि घट मेरे ज्ञान का विषय बन गया।

ज्ञान विषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नामक किसी धर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसकी अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान की अर्थापत्ति या अनुमिति का उत्पन्न होना नहीं माना जा सकता। यहां पर कुमारिल भट्ट यह कह सकता है कि यदि ज्ञान द्वारा विषय के ऊपर ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति न मानी जायेगी तो कौन वस्तु किस ज्ञान का विषय हो इस बात की व्यवस्था न हो पायेगी। यह कहा जा सकता है ज्ञान से भिन्न विषय का अस्तित्व नहीं होता। अर्थात् ज्ञान और विषय में तादात्म्य होता है, जो ज्ञान जिस वस्तु के साथ ज्ञात होता है उस वस्तु में उस ज्ञान का तादात्म्य होता है। वह वस्तु ज्ञान का विषय होता है घट ज्ञान के साथ ही ज्ञान होता, पट ज्ञान के साथ ज्ञान नहीं होता है। अतः घट ज्ञान में ही घट ज्ञान का तादत्म्य होता है पट में नहीं होता। और इसलिए घट ही घट ज्ञान का विषय होता है। यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान की उत्पत्ति से ज्ञान विपयता का नियमन हो सकता है। अथवा यह नियम माना जा सकता है कि तत्तद् ज्ञान के उत्पादकत्व से तत्तद् ज्ञान के विषयत्व का नियमन हो सकने के कारण विषयता के नियमनार्थ ज्ञातता की कल्पना उचित नहीं है। इस पर कुमारिल भट्ट कहता है कि जो पदार्थ जिस ज्ञान का उत्पादक होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है तो घट के चाक्षुष ज्ञान का उत्पादक होने से जैसे घट उस ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार चक्षु और प्रकाश को भी उस ज्ञान का विषय होना चाहिए। इस पर नैयायिक कहता है कि ज्ञान स्वभावतः निराकार होता है फिर भी विषय के आकार से आकारवान् हो जाता है इसलिए वह कभी घटाकार कभी पटाकार आदि आकारों में जाना जाता है। इस विपय में यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान जिस वस्तु के आकार से आकारवान् होता है, वह वस्तु उस ज्ञान का विपय होता है। अतः

घट ज्ञान पट ज्ञान के आकार से भिन्न हो जाता है। अतः तत्तद् ज्ञान के आकार में तत्तद् ज्ञान के विषयत्व का नियमन हो सकने से ज्ञानविषयता में नियमनार्थ की कल्पना निरर्थक है।

इस पर कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि ज्ञान विषयता का कोई अन्य नियामक ज्ञात न होने का कारण यह अनुमान कर लिया जाता है घट आदि पदार्थों के ज्ञान से उन वस्तुओं में किसी धर्म की उत्पत्ति माननी होगी। तभी वस्तु उस ज्ञान का विषय होती है। यही धर्म ज्ञातता भले ही प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती हो तो अर्थापत्ति से उसे मानना चाहिए। अतः ज्ञातता का खण्डन नहीं किया जा सकता है।

इस मान्यता के विरुद्ध नैयायिक का मत है कि अर्थ और ज्ञान का सम्बन्ध विषय विषयिभाव स्वाभाविक है। उन ऐसा स्वाभाविक सम्बन्ध है कि जिस के कारण उनमें विषयविषयिक भाव होता है। अन्यथा यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जायेगा तो भूत और भविष्यत कालिक पदार्थ ज्ञान के विषय नहीं हो सकेंगे। यह सम्भाव नहीं हो सकेगा अविद्यमान धर्मी में धर्म उत्पन्न हो सके। अतः अतीत और भविष्यत कालिक पदार्थों में ज्ञातता नामक वस्तु कैसे उत्पन्न होगी। क्योंकि ज्ञान का विषय न हो सकेंगे, क्योंकि उन में ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न न हो सकेगा।

जब विषय और ज्ञान के सहज स्वभाव को ज्ञानविषयता का नियामक माना जा सकता है तब ज्ञातता की कल्पना व्यर्थ ही होगी। तब ज्ञातता के बिना भी ज्ञानविषयता की उपपत्ति हो जाने से ज्ञानविषयत्व अन्यथानुपपत्ति एवं तन्मूलक अर्थापत्ति या अनुमान से ज्ञातता की सिद्धि सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि यदि ज्ञातता से ज्ञानविषयता को स्वीकार किया जायेगा तो, वह ज्ञातता भी एक ज्ञान होने से अन्य ज्ञातता का विषय होगी। वह दूसरी ज्ञातता भी ज्ञान ही है. अतः उसके

लिए तीसरी ज्ञातता की आवश्यकता पड़ेगी । इस तरह अनेक ज्ञातता की कल्पना से अनवस्था दोष की आपत्ति आ जायेगी ।[2]

इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ज्ञातता के ज्ञानविषयत्व को ज्ञातता से नियम्य न मान कर स्वभाव से नियम्य मानना उचित होगा । इस प्रकार ज्ञातता के विषय में अनवस्था दोष से वचा जा सकता है । इस पर नैयायिक का कहना है कि यदि ज्ञातता स्वभावत ज्ञान का विषय बन सकती है तो घटादि वस्तुओं का क्या अपराध है ? वे ज्ञान के स्वभावतः विषय क्यों नहीं बन सकते हैं । अतः ज्ञातता मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । अपने मत को सिद्ध और स्पष्ट करने के लिए नैयायिक ने कहा है कि ज्ञातता ज्ञानविषयता का नियामक नहीं हो सकती क्योंकि उसके स्वयं का ही कोई नियामक नहीं है । जब तक यह सिद्ध नहीं जाए कि अमुक ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार कौन है तब तक यह व्यवस्था कैसे की जा सकती है । क्योंकि ज्ञान जन्य ज्ञातता का कोई आधार अवश्य होगा, तब उसका नियामक मानना भी अनिवार्य है ।

ज्ञातता से ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों का साथ ही ज्ञान होता है अतः प्रामाण्य के ज्ञान में ज्ञानग्राहक से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा न होने से ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है कुमारिल भट्ट को इस उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए नैया-यिक कहते हैं कि यदि दुर्जनतोष न्याय से ज्ञातता का अस्तित्व मान भी लिया जाये तब भी ज्ञानगत प्रामाण्य के स्वतः ग्रहण का अर्थ है ज्ञानग्राहक सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण होना और यह

---

१. स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः । अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वभाविका विशेषयेनानयोर्विषयविषयिभावः इतरथा-अतीता नागतयोर्विषयत्वं न स्यात्...... । (तर्कभाषा प्रामाण्यवाद प्रकरण)

२. ज्ञाततायाः अपि स्वज्ञान विषयत्वात् तत्रापि ज्ञाततान्तर प्रसङ्गस्तया च अनववस्था—वही ।

तभी सम्भव हो सकता है जब प्रामाण्य का ज्ञान केवल उसी साधन से हो, जिससे ज्ञान का ज्ञान सम्पन्न हो सकता है।

यदि यह माना जाये कि अप्रामाण्यभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अप्रामाण्यभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता प्रमाण्यभूत ज्ञान की व्यभिचारिणी होने से प्रामाण्य ज्ञान का सम्पादन यदि नहीं कर सकती—तो न करे,—पर प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली प्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता तो प्रमाणभूत ज्ञान की अव्यभिचारिणी होने से प्रामाण्य ज्ञान का सम्पादन कर ही सकती है। इसके अन्तर में नैयायिक कहते हैं कि इस रीति से यदि प्रामाण्य के स्वत: ग्रहण का समर्थन किया जायेगा तब इसी रीति से अप्रामाण्य के भी स्वत: ग्रहण का समर्थन किया जा सकता है।

नैयायिक मानते हैं कि ज्ञाय का ज्ञान तो मानस प्रत्यक्ष से ही होता है।[1]

किन्तु उसके प्रामाण्य का ज्ञान अनुमान से होता है। नैयायिक इसको इस प्रकार समझाते हैं कि जल का ज्ञान होने के बाद जलादि को चहाने वाले मनुष्य की प्रवृत्ति होती है कि वह जल को ग्रहण करे। वह प्रवृत्ति को समर्थ प्रवृत्ति कहा जा सकता है। उस प्रवृत्ति से उसके कारणभूत ज्ञान में याथार्थ्य प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है। वह अनुमान इस प्रकार होगा विवादाध्यासित जल ज्ञान प्रामाण्य है, क्योंकि वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक है, जो प्रमाण नहीं होता वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होता जैसे प्रामाण्याभास मरुमरीचिका में जल ज्ञानादि जो जल ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक है वही इस अनुमान में पक्ष है। इस अनुमान से जिस प्रामाण्य का साधन करना है वह याथार्थ्य रूप में है। इस केवल व्यतिरेकी अनुमान से अभ्यास दशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का अववोध हो जाने पर उसी दृष्टान्त में तज्जातीयत्वहेतुक अन्वय व्यतिरेकी अनुमान से अनभ्यास दशापन्न ज्ञान में भी प्रामाण्य का

---

१. ज्ञान हि मानस प्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन (वही)

लिए तीसरी ज्ञातता की आवश्यकता पड़ेगी । इस तरह अनेक ज्ञातता की कल्पना से अनवस्था दोष की आपत्ति आ जायेगी ।[2]

इस मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ज्ञातता के ज्ञानविषयत्व को ज्ञातता से नियम्य न मान कर स्वभाव से नियम्य मानना उचित होगा । इस प्रकार ज्ञातता के विषय में अनवस्था दोष से बचा जा सकता है । इस पर नैयायिक का कहना है कि यदि ज्ञातता स्वभावत ज्ञान का विषय बन सकती है तो घटादि वस्तुओं का क्या अपराध है ? वे ज्ञान के स्वभावत: विषय क्यों नहीं बन सकते हैं । अत: ज्ञातता मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । अपने मत को सिद्ध और स्पष्ट करने के लिए नैयायिक ने कहा है कि ज्ञातता ज्ञानविषयता का नियामक नहीं हो सकती क्योंकि उसके स्वयं का ही कोई नियामक नहीं है । जब तक यह सिद्ध नहीं जाए कि अमुक ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का आधार कौन है तब तक यह व्यवस्था कैसे की जा सकती है । क्योंकि ज्ञान जन्य ज्ञातता का कोई आधार अवश्य होगा, तब उसका नियामक मानना भी अनिवार्य है ।

ज्ञातता से ज्ञान और उसके प्रामाण्य दोनों का साथ ही ज्ञान होता है अत: प्रामाण्य के ज्ञान में ज्ञानग्राहक से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा न होने से ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है कुमारिल भट्ट को इस उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि यदि दुर्जनतोष न्याय से ज्ञातता का अस्तित्व मान भी लिया जाये तब भी ज्ञानगत प्रामाण्य के स्वत: ग्रहण का अर्थ है ज्ञानग्राहक सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण होना और यह

---

१. स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्ते: । अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वभाविका विशेषयेनानयोर्षियविषयिभाव: इतरथा-अतीता नागतयोर्विषयत्वं न स्यात्...... । (तर्कभाषा प्रामाण्यवाद प्रकरण)

२. ज्ञातताया अपि स्वज्ञान विषयत्वात् तत्रापि ज्ञातताऽन्तर प्रसङ्गस्तथा च अनववस्था—वही ।

द्वादश अध्याय

मोक्ष निरूपण

मोक्ष धारा—

विश्व में दो प्रकार की प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रथम दुःखों को दूर करने की प्रवृत्ति, द्वितीय सुखों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति। भारतीय-साहित्य में मुक्ति की धारणा का आधार इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को शातिशयता है। हम साधारणतः दुःखों की इच्छा न तरते हुये अपने सुख की वृद्धि करना चाहते हैं। जो संसार में प्राप्त होने वाले शब्द स्पर्शादि के विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले सुख हैं वे प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु उनकी अन्तिम अवधि ज्ञात नहीं है। जो प्राप्त सुख अनुभव किये जा रहे हैं उन में भी न्यून-अधिक का निर्णय करना भी कठिन सा है। कोई शब्द में सुख, कोई रूप में सुख अधिक अनुभव करता है। अतः लोक में रुचियां विभिन्न प्रकार की हैं।[1] हम इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सुख विशेष का न्यून या अधिक होना भोक्ता पर ही अवलम्बित है।

इसी प्रकार दुःख निवृत्ति भी दो प्रकार की है। प्रथम वर्त-मान दुःख की निवृत्ति, द्वितीय भावी दुःख की निवृत्ति। इन दोनों में भी भावी दुःख की निवृत्ति अधिक बलवान होती है क्योंकि भावी दुःख इस वर्तमान कालिक दुःख की अपेक्षा अधिक बलशाली दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि वर्तमान कालिक दुःख तो भोगारूढ़ होता है इसलिए सह लिया जाता है। अतः महर्षि पतंजलि ने कहा

१. भिन्नरुचिर्हिलोकाः।

अधिज्ञान होता है और जल प्रवृत्ति के पूर्व भी हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण्य ज्ञान का अववोध सदैव परतः ही होता है स्वतः कभी नहीं होता क्योंकि वह कभी भी केवल ज्ञान ग्राहक से ही सम्पन्न नहीं होता किन्तु उसके लिए उस प्रकार के प्रमाण को आवश्यकता सदैव होती है।

इसलिए अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने से पूर्व ही उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ के सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, परन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान से प्रामाण्य का अवधारण होने के बाद प्रवृत्ति होती है। क्योंकि उसमें प्रामाण्य का निश्चय करना सुलभ रहता है।[1]

वास्तव में न्याय के अनुसार ज्ञान एक गुण है। गुण सदा द्रव्याश्रयी ही होता है।[1] इस निष्कर्ष यह निकलता है कि वह परतन्त्र होता है। वास्तव में ज्ञान अपने में किसो न किसी विषय को प्रतिबिम्वित करता हैं। विषय के बिना ज्ञान खोखला होता है। अतः ज्ञान और उसके विषय प्रतिबिम्ब का होना आवश्यक है। तभी ज्ञान भी प्रामाणिकता आ सकती है।

अन्य दार्शनिक न्याय के मत में भी अनेक दोष देखते हैं। अतः इसे भी पूर्ण दोष रहित नहीं कहा जा सकता है।

□□

---

१. अनेन तु केवलव्यतिदेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्थज्ञानस्यप्रामाण्ये अववोधिते तदृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि......ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यम्।
(तर्क भाषा वही प्र०)

---

१. द्रव्याश्रयी गुणाः - (न्याय दर्शन)।

अनुसन्धान अर्थात् संस्मरण आदि से उत्पन्न जो चित्त की विकलता को करने वाली चित्तवृत्ति विशेष हुआ करती है। अल्प दुःख होने से भय होता है। अतः प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के भयों का न होना निरतिशय दुःख निवृत्ति में ही सम्भव है। अतः अभयं गतो भवति—इस वाक्य में निरतिशय दुःख निवृत्ति ही कही गई है।

मोक्ष एवं विभिन्न दार्शनिक—

चार्वाक् तथा अन्य जड़वादी दार्शनिक केवल लौकिक सुखों को ही अन्तिम मान उनकी प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं।[5] परन्तु यह अनुभव मानता है कि आत्मा नित्य होने के कारण सांसारिक सुखों से भी आगे जो सबसे बड़ा जन्म-मरण का दुःख है, उससे छुटना चाहते हैं। क्योंकि सांसारिक भोगों में तो अन्त में दुःख ही छिपा रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त जीवात्मा अपना विकास करके मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहती हैं। यहां विकास से अभिप्राय भौतिक विकास से नहीं है अपितु संसार के संसर्ग से रागद्वेष आदि दोष आ जाते हैं-३ उनसे छुटकारा पाकर ब्रह्म की प्राप्ति करनी है। इसी को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवात्मा स्वतन्त्र होना चाहता है। इस स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा का नाम ही मोक्ष, अथवा अमृत हो जाता है। इसे ही गीता में परमधाम या परमपद कहा है। इस परमपद का अभिप्राय भौतिक अर्थ में नहीं, यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा हो जाती है। सांसारिक समस्त बन्धन छूट जाते हैं और समस्त

---

५. अथत्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सां० सू० १/१
"दुःखत्राभिघाताज्जिज्ञासातदवघातके हेतौ"— सां० कारिका-३

है कि जो दु:ख भविष्यत् काल में आते हैं वे त्याज्य हैं।[2] इसमें युक्ति यही देते हैं कि जो दु:ख अतीत अर्थात् हम भोग चुके हैं, और जो भोगे जा रहे हैं, उनका उपाय करने से क्या ? वे भोगारूढ़ हैं ही, भविष्यत्काल में दु:ख न आये, उनका उपाय करना चाहिए[3] उपाय भी ऐसा जो आत्यन्तिक रूप दु:खों की निवृत्ति कर सके।

ये उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां ही मोक्ष की विचारधारा को जनक कहलाती हैं। यह उक्त धारणा कि हमें सातिशय सुख प्राप्त हो और दु:खों की निवृत्ति हो, वेदों के काल से ही प्राप्त होती है। उपनिषदों के युग में तो इसकी हमें पराकाष्ठा उपलब्ध है। यजुर्वेद और ईशोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि वहां अर्थात् मोक्षावस्था में मोह अर्थात् शोक नहीं रहता।[1] तत्तिरीय उपनिषद् में भी इन उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं की सातिशयता को दर्शाया गया है। वह सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है।[2] वह निर्भय हो जाता है।[3] अमृत को प्राप्त कर लेता है।[4]

उपनिषदों में यह विचारधारा है कि इन उपर्युक्त वाक्यों में "सर्वान् कमान् अश्नुते" यह कह कर निरतिशय सुख की उपलब्धी दर्शायी है। चतुर्थ वाक्य में भी (रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति) सातिशय आनन्द की प्राप्ति की ओर संकेत है। "सो-भयं गतो भवति" यह कह कर दु:खों की ओर संकेत मिलता है। इस पर अभ्यंकर शास्त्री का मत है कि जो भय है वह भावी दु:ख के

---

२. हेयं दु:खमनागतम (योग० सा० पा० १६)

३. दु:खमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते, वर्तमान च स्वक्षणे भोगारूढमिति... तस्यमादेव अनागतं दु:खं...हेयतामापद्यते। —व्यासभाष्य २,१६ पर।

---

१. तत्र को मोह: क: शोक:। (ईशो० ७ मं०)

२. सोऽश्नुते सर्वान्कमान्। (तैत्तिरीय उ०ब्र०व०। अनुवाक-२)

३. सो-भयं गतो भवति। (वह ब्र०व०। अनुवाक-१५)

४. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। (वही ब्र०तै०। अनु० १५)

अनुसन्धान अर्थात् संस्मरण आदि से उत्पन्न जो चित्त की विकलता को करने वाली चित्तवृत्ति विशेष हुआ करती है। अल्प दुःख होने से भय होता है। अतः प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के भयों का न होना निरतिशय दुःख निवृत्ति में ही सम्भव है। अतः अभयं गतो भवति—इस वाक्य में निरतिशय दुःख निवृत्ति ही कही गई है।

मोक्ष एवं विभिन्न दार्शनिक—

चार्वाक् तथा अन्य जड़वादी दार्शनिक केवल लौकिक सुखों को ही अन्तिम मान उनकी प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं।[5] परन्तु यह अनुभव मानता है कि आत्मा नित्य होने के कारण सांसारिक सुखों से भी आगे जो सबसे बड़ा जन्म-मरण का दुःख है, उससे छुटना चाहते हैं। क्योंकि सांसारिक भोगों में तो अन्त में दुःख ही छिपा रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त जीवात्मा अपना विकास करके मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहती हैं। यहां विकास से अभिप्राय भौतिक विकास से नहीं है अपितु संसार के संसर्ग से रागद्वेष आदि दोष आ जाते हैं-३ उनसे छुटकारा पाकर ब्रह्म की प्राप्ति करनी है। इसी को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवात्मा स्वतन्त्र होना चाहता है। इस स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा का नाम ही मोक्ष, अथवा अमृत हो जाता है। इसे ही गीता में परमधाम या परमपद कहा है। इस परमपद का अभिप्राय भौतिक अर्थ में नहीं, यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा हो जाती है। सांसारिक समस्त बन्धन छूट जाते हैं और समस्त

---

५. अथत्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सां० सू० १/१
"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ"— सां० कारिका-३

है कि जो दुःख भविष्यत् काल में आते हैं वे त्याज्य हैं।[2] इसमें युक्ति यही देते हैं कि जो दुःख अतीत अर्थात् हम भोग चुके हैं, और जो भोगे जा रहे हैं, उनका उपाय करने से क्या ? वे भोगारूढ़ हैं ही, भविष्यत्काल में दुःख न आये, उनका उपाय करना चाहिए[3] उपाय भी ऐसा जो आत्यन्तिक रूप दुःखों की निवृत्ति कर सके।

ये उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां ही मोक्ष की विचारधारा को जनक कहलाती हैं। यह उक्त धारणा कि हमें शातिशय सुख प्राप्त हो और दुःखों की निवृत्ति हो, वेदों के काल से ही प्राप्त होती है। उपनिषदों के युग में तो इसकी हमें पराकाष्ठा उपलब्ध है। यजुर्वेद और ईशोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि वहां अर्थात् मोक्षावस्था में मोह अर्थात् शोक नहीं रहता।[1] तत्तिरीय उपनिषद् में भी इन उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं की सातिशयता को दर्शाया गया है। वह सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है।[2] वह निर्भय हो जाता है।[3] अमृत को प्राप्त कर लेता है।[4]

उपनिषदों में यह विचारधारा है कि इन उपर्युक्त वाक्यों में "सर्वान् कमान् अश्नुते" यह कह कर निरतिशय सुख की उपलब्धी दर्शायी है। चतुर्थ वाक्य में भी (रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति) सातिशय आनन्द की प्राप्ति की ओर संकेत है। "सो-भयं गतो भवति" यह कह कर दुःखों की ओर संकेत मिलता है। इस पर अभ्यंकर शास्त्री का मत है कि जो भय है वह भावी दुःख के

---

२. हेयं दुःखमनागतम (योग० सा० पा० १६)
३. दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते, वर्तमान च स्वक्षणे भोगारूढ़मिति... तस्यमादेव अनागतं दुःखं...हेयतामापद्यते। —व्यासभाष्य २,१६ पर।

---

१. तत्र को मोहः कः शोकः। (ईशो० ७ मं०)
२. सोऽश्नुते सर्वान्कमान्। (तैत्तिरीय उ०ब्र०व०। अनुवाक-२)
३. सो-भयं गतो भवति। (वह ब्र०व०। अनुवाक-१५)
४. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। (वही ब्र०तै०। अनु०१५)

अनुसन्धान अर्थात् संस्मरण आदि से उत्पन्न जो चित्त की विकलता को करने वाली चित्तवृत्ति विशेष हुआ करती है। अल्प दुःख होने से भय होता है। अतः प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के भयों का न होना निरतिशय दुःख निवृत्ति में ही सम्भव है। अतः अभयं गतो भवति—इस वाक्य में निरतिशय दुःख निवृत्ति ही कही गई है।

मोक्ष एवं विभिन्न दार्शनिक—

चार्वाक् तथा अन्य जड़वादी दार्शनिक केवल लौकिक सुखों को ही अन्तिम मान उनकी प्राप्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं।[5] परन्तु यह अनुभव मानता है कि आत्मा नित्य होने के कारण सांसारिक सुखों से भी आगे जो सबसे बड़ा जन्म-मरण का दुःख है, उससे छुटना चाहते हैं। क्योंकि सांसारिक भोगों में तो अन्त में दुःख ही छिपा रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त जीवात्मा अपना विकास करके मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाहती हैं। यहां विकास से अभिप्राय भौतिक विकास से नहीं है अपितु संसार के संसर्ग से रागद्वेष आदि दोष आ जाते हैं-३ उनसे छुटकारा पाकर ब्रह्म की प्राप्ति करनी है। इसी को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जीवात्मा स्वतन्त्र होना चाहता है। इस स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा का नाम ही मोक्ष, अथवा अमृत हो जाता है। इसे ही गीता में परमधाम या परमपद कहा है। इस परमपद का अभिप्राय भौतिक अर्थ में नहीं, यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोगक्तृत्व शक्तियों की पराकाष्ठा हो जाती है। सांसारिक समस्त बन्धन छूट जाते हैं और समस्त

---

५. अथत्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सां० सू० १/१
"दुःखत्राभिघाताज्जिज्ञासा तदवघातके हेतौ"— सां० कारिका-३

संशय समाप्त हो जाते हैं ।[1] तथा जन्म-मरण का चक्र छूट कर वह परमधाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं। इस मोक्ष की धारणा से कुछ चिन्तक इस भ्रम मे ग्रस्त हो जाते हैं कि मोक्ष कोई स्थान विशेष है जहां जीवात्मा को भेज दिया जाता है। परन्तु उपनिषदों में या भारतीय षड्दर्शन और वैदिक साहित्य में भी मुक्ति कोई स्थान विशेष पर जाना नहीं है अपितु जीवात्मा की स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा है। वह ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी है उसको प्राप्त करके, जन्म-मरण के बन्धनों से छूट कर के जीवात्मा स्वतन्त्र विचरता है। उस अवस्था का नाम वेद में अमृत कहा गया है। भारतीय नास्तिक दार्शनिकों में जैन और बौद्ध जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, वे भी मोक्ष को स्वीकार करते हैं। जैनों के यहां मिथ्या दर्शन बन्ध के कारण हैं। उनका निरोध संवर कर लेने पर तथा नये कर्मो का अभाव होकर निर्जरा रूपी कारण के सम्पर्क से पूर्वाजित कर्मों का विनाश हो जाता है। तब सब प्रकार के कर्मो से मुक्ति उपलब्ध हो जाती है। बस इनके यही मोक्ष कहलाता है। जैन आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि सूर्य-चन्द्रादि ग्रह तो जाकर लौट आते हैं परन्तु लोक से परे जो आकाश है उस में गये हुये मोक्षात्मा आज तक नहीं लौटे ।[2]

बौद्ध दर्शन भी मोक्ष को स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन में मुक्ति के लिये निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है बुझा हुआ। परन्तु यह विचार भ्रामक प्रतीत होता है। क्योंकि ऐसा होता तो महात्मा बुद्ध मृत्यु से पूर्व निर्वाण पद कैसे प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः निर्वाण शब्द का अर्थ वासना की अग्नि बुझ जाना प्रतीत होता है। इनके अनुसार जब हमारे अन्दर से कामासव, भावासव और अविद्यासव आदि की अशुद्धियाँ समाप्त

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। —मु०उ०द्वितीय मुण्डक-८

२. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयोग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः ॥ —प०न०आ०

हो जाती हैं तब पुनर्जन्म नहीं होता। निर्वाण को बौद्ध दर्शन में शीतीभाव अथवा शीतलता की अवस्था कहा है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के दो रूप बतलाये गये हैं। सोपाचीन और अनुपाधि निर्वाण। प्रथम पुनर्जन्म के कारण कुछ अवशिष्ट रहते हैं द्वितीय में पूर्ण बुझा हुआ माना गया है। परन्तु जीवात्मा का अभाव नहीं होता है।

कुछ मीमांसकों के अनुसार मोक्षावस्था में धर्म और अधर्म इन दोनों का सम्बन्ध नहीं रहता। इस पर दूसरे विचारकों की आपत्ति है कि मुक्तावस्था में जब सब धर्म नष्ट हो जाते हैं तो मुक्त व्यक्ति को किसी प्रकार के आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। इसका उत्तर ये इस प्रकार देते हैं कि—मुक्तावस्था में न आनन्द का अनुभव होता है न ज्ञान का। आनन्द का अनुभव करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है, परन्तु इन्द्रियां मोक्षावस्था में नहीं रहती। निषिद्ध और काम्य दोनों प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

न्याय दर्शन में भी मोक्ष को दुःख के पूर्ण अभाव की अवस्था माना है। भाष्यकारों ने कहा हैं कि दुःख से मनुष्य तभी छूटता है जबकि वह ग्रहण किये हुए जन्म को छोड़ देता है। सुख की अवस्था मुक्ति में ये युक्तियुक्त नहीं मानते हैं। वहां नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। नित्य सुख की अभिव्यक्ति में कोई हेतु होना चाहिए।[2] यदि वह सुख नित्य होगा तो सदैव प्राप्त हमें भी होना चाहिए। यदि अनित्य होगा तो मुक्तावस्था में भी नहीं होगा। इस प्रकार भाष्यकार मोक्ष में सुख का प्रत्याख्यान करते हैं।

---

१. मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र निषिद्धयोः।

२. नित्यं सुखमात्मनो महत्ववन्मोक्षेव्यज्यते, तेनअभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तःसुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते। तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानम्।"

—द्रष्टव्य न्या० वात्स्यायन भाष्य अ०१ आ० १ सू०२२पर

संशय समाप्त हो जाते हैं ।[1] तथा जन्म-मरण का चक्र छूट कर वह परमधाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं। इस मोक्ष की धारणा से कुछ चिन्तक इस भ्रम से ग्रस्त हो जाते हैं कि मोक्ष कोई स्थान विशेष है जहां जीवात्मा को भेज दिया जाता है। परन्तु उपनिषदों में या भारतीय षड्दर्शन और वैदिक साहित्य में भी मुक्ति कोई स्थान विशेष पर जाना नहीं है अपितु जीवात्मा की स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा है। वह ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी है उसको प्राप्त करके, जन्म-मरण के बन्धनों से छूट कर के जीवात्मा स्वतन्त्र विचरता है। उस अवस्था का नाम वेद में अमृत कहा गया है। भारतीय नास्तिक दार्शनिकों में जैन और वौद्ध जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, वे भी मोक्ष को स्वीकार करते हैं। जैनों के यहां मिथ्या दर्शन बन्ध के कारण हैं। उनका निरोध संवर कर लेने पर तथा नये कर्मो का अभाव होकर निर्जरा रूपी कारण के सम्पर्क से पूर्वाजित कर्मों का विनाश हो जाता है। तब सब प्रकार के कर्मो से मुक्ति उपलब्ध हो जाती है। बस इनके यही मोक्ष कहलाता है। जैन आचार्य पद्मनन्दी कहते हैं कि सूर्य-चन्द्रादि ग्रह तो जाकर लौट आते हैं परन्तु लोक से परे जो आकाश है उस में गये हुये मोक्षात्मा आज तक नहीं लौटे ।[2]

वौद्ध दर्शन भी मोक्ष को स्वीकार करता है। वौद्ध दर्शन में मुक्ति के लिये निर्वाण शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है बुझा हुआ। परन्तु यह विचार भ्रामक प्रतीत होता है। क्योंकि ऐसा होता तो महात्मा बुद्ध मृत्यु से पूर्व निर्वाण पद कैसे प्राप्त कर लेते हैं। वस्तुतः निर्वाण शब्द का अर्थ वासना की अग्नि बुझ जाना प्रतीत होता है। इनके अनुसार जब हमारे अन्दर से कामासव, भावासव और अविद्यासव आदि की अशुद्धियाँ समाप्त

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। —मु०उ०द्वितीय मुण्डक-८

२. गत्वा गत्वा निवर्तन्ते चन्द्रसूर्यादयोग्रहाः।
अद्यापि न निवर्तन्ते त्वलोकाकाशमागताः॥ —प०न०आ०

हो जाती हैं तब पुनर्जन्म नहीं होता। निर्वाण को बौद्ध दर्शन में शीतीभाव अथवा शीतलता की अवस्था कहा है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के दो रूप बतलाये गये हैं। सोपाधीन और अनुपाधि निर्वाण। प्रथम पुनर्जन्म के कारण कुछ अवशिष्ट रहते हैं द्वितीय में पूर्ण बुझा हुआ माना गया है। परन्तु जीवात्मा का अभाव नहीं होता है।

कुछ मीमांसकों के अनुसार मोक्षावस्था में धर्म और अधर्म इन दोनों का सम्बन्ध नहीं रहता। इस पर दूसरे विचारकों की आपत्ति है कि मुक्तावस्था में जब सब धर्म नष्ट हो जाते हैं तो मुक्त व्यक्ति को किसी प्रकार के आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। इसका उत्तर ये इस प्रकार देते हैं कि—मुक्तावस्था में न आनन्द का अनुभव होता है न ज्ञान का। आनन्द का अनुभव करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है, परन्तु इन्द्रियां मोक्षावस्था में नहीं रहती। निषिद्ध और काम्य दोनों प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं।

न्याय दर्शन में भी मोक्ष को दुःख के पूर्ण अभाव की अवस्था माना है। भाष्यकारों ने कहा हैं कि दुःख से मनुष्य तभी छूटता है जबकि वह ग्रहण किये हुए जन्म को छोड़ देता है। सुख की अवस्था मुक्ति में ये युक्तियुक्त नहीं मानते हैं। वहां नित्य सुख की प्राप्ति होती है, यह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। नित्य सुख की अभिव्यक्ति में कोई हेतु होना चाहिए।[2] यदि वह सुख नित्य होगा तो सदैव प्राप्त हमें भी होना चाहिए। यदि अनित्य होगा तो मुक्तावस्था में भी नहीं होगा। इस प्रकार भाष्यकार मोक्ष में सुख का प्रत्याख्यान करते हैं।

---

१. मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र निषिद्धयोः।

२. नित्यं सुखमात्मनो महत्ववन्मोक्षेव्यज्यते, तेनअभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तःसुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते। तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः। न प्रत्यक्षं नानुमानम्।"

—द्रष्टव्य न्या० वात्स्यायन भाष्य अ०१ आ० १ सू०२२पर

सांख्य दर्शन के अनुसार जब तीनों दु:खों का अत्यन्त नाश हो जाता है तो आत्मा की कृतकृत्यता होती है।[3] इसके अनुसार आत्मा को प्रकृति के सम्पर्क में आना शरीरादि का धारण करना भोग और अपवर्ग के लिए होता है। भोगों का उपभोग कर्त्ता आत्मा अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होने पर जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तो कृतार्थ हो जाता है। प्रकृति से आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर प्रकृति से आत्मा का सम्बन्ध छूट जाता है। जब दु:खों का भी आना-जाना हमेशा के लिए छूट जाता है। इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि दु:खनिवृत्ति के साथ सुख भी चला जाता है। तब दु:ख निवृत्ति को मुक्ति न मान कर सुख की प्राप्ति को मोक्ष क्यों न माना जाये।[4] इस आक्षेप का उत्तर यह दिया जा सकता है कि जिस प्रकार व्यक्ति को दु:ख से द्वेष होता है उसी प्रकार अभिलाषा सुख को पाने की नहीं होती।[1] संसार में चारों ओर दु:ख ही दु:ख पाते हैं, अत: मनुष्य चाहता है कि दु:ख दूर हो जाये।

योग दर्शन में बुद्धि और पुरुष के शुद्ध होने पर मोक्ष होता है। जब बुद्धि तीनों गुणों के सम्पर्क से छूट जाती है अथवा छूट कर पवित्र हो जाती है उस समय पुरुष में अपने स्वरूप में ठहरने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही कैवल्य है।[2] यह लक्षण जीवनमुक्त का प्रतीक होता है। जब योगी के सत्व, रजस् और तमस् आदि गुण अपने कारणों में लीन हो जाते हैं अथवा पुरुषार्थ-हीन हो जाते हैं तब चित्तिशक्ति अपने स्वरूप में स्थिर होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाती है। यही मोक्ष है।

---

३. अत्यन्तदु:खनिवृत्या कृतकृत्यता।—सां० द० ६/५।
४. यथा दु:खात् क्लेशः पुरुषस्य न सुखादभिलाष:—सां० ६/६।

---

१. असंगो हि अयं पुरुष: साक्षी चेत: केवलोनिर्गुणश्च।
२. तदाद्रष्टुस्वरूपेऽवस्थानम्—यो०द० १/३-सां० कारिका

इन उक्त दर्शनों में मोक्ष का जो स्वरूप, चाहे वह नास्तिक दर्शनों में (जैन और बौद्ध) हो या आस्तिक दर्शनों में उपलब्ध होता है, इन सबका एक ही प्रधान भाव दिखलाई देता है, वह है दुःखों से छूटना। इसलिए योग दर्शनकार ने योगी को अक्षि-कल्प कहा है और परिणाम में सब विवेकियों को बतलाया कि समस्त संसार दुःखमय है।

उपनिषदों के आलोडन-विलोडन करने से ज्ञात होता है कि दर्शनों में यह जो दुःखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करने की भावना प्राप्त होती है, उस प्रकार से उपनिषदों में संसार को अधिक दुःखमय सम्भवतः न समझा गया हो क्योंकि मोक्ष शब्द का निर्माण "मुच् विमोचने" से हुआ है। जिसका अर्थ है छूट जाना। संभवतः यही कारण रहा है कि मोक्ष शब्द का प्रयोग उपनिषदों में कम मिलता है।

वैदिक कालीन भावना में इसी मोक्षानन्द के लिए अमृत होना माना जाता था। मोक्ष की भावना वेदों में उपलब्ध अमृत-रूप में प्राप्त है। यद्यपि उपनिषदों में संसार के पदार्थों से तृप्ति अन्तिम रूप से नहीं मानी है। नचिकेता यमाचार्य को स्पष्टरूप में कहता है कि मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता, धन की इच्छा तो बढ़ती ही रहती है।[3] ये विश्व के समस्त भोग्यपदार्थ तो चिर-स्थायी नहीं हैं कल तक रहने वाले हैं।[4] दूसरा हेतु यह देता है कि ये भोग भोगी लोगों की इन्द्रियों के तेज को समाप्त कर देते हैं-३ यह आयु तो अल्प है। अतः वह आत्मतत्व क्या है, यह मुझे समझाओ।[1]

---

३. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं-विवेकिनः (योग० २/१५)

४. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—कठ० १ व २७।

---

१. श्वोभावाः—वही १/२६

उपनिषदों में आत्मतत्व को जानने की जिज्ञासा अधिक प्रतीत होती है । अतः स्पष्ट हो जाता है कि संसार से परे आत्म-तत्व को खोजने का कार्य अति प्राचीन काल से है परन्तु उपनिषदों में अमृतमय होने की भावना अधिक रूप में दिखलाई देती है।

आचार्य रामानुज के अनुसार मोक्ष का स्वरूप—

कर्म वन्धन के हेतु हैं। अज्ञान प्रेरित अविरत कर्म परम्परा ही जीवन को बांधती हैं। उन कर्मों का क्षय ही मोक्ष हो सकता है। और वह क्षय तब होता हैं जब जीव अपने यथार्थ हो समझ कर उन कर्मों के अनित्यत्व को समझता है। ऐसा जीव ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान द्वारा ही कर पाता है। ब्रह्म के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पणत्व ही ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान है : ऐसी अवस्था में सभी संचित कर्मों का विनाश स्वतः ही हो जाता है, और जो क्रियमाण कर्म हैं वे उसे बांधने में असमर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उन कर्मो के प्रति जीव का वास्तविक कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल जल से भीगता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता । प्रारब्ध कर्मो की प्रविष्टि जीवन को हेतु रह जातीं है जो विनष्ट हो जाने पर जीव को स्वतन्त्र कर देती है और जीव अपने लक्ष्यभूत मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जब तक जीव अनासक्ति रूप से शरीर को धारण किये रहे, तो उसे नित्य-नैमित्तिक कर्मो को अवश्य करना चाहिए, अन्यथा, विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनके न करने से प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होंगे और वे (पाप) अपने विपाकों से जीवात्मा को पुनः संचरण के लिए बाध्य करेंगे।

रामानुज के अनुसार मोक्ष शरीरपातान्तर ही सम्भव है। शरीर-पातासन्न (मुमुक्षु) की वाकशक्ति का मन में लय होता है, उसी प्रकार समस्त ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ मन के साथ अविभक्त

२. कठ० १/२६

हो जाती हैं । इन सबसे संयुक्त मन प्राण में, और सर्वयुक्त प्राण आत्मा में समाविष्ट हो जाते हैं और आत्मा पंचमहाभूत में । मुमुक्षु की आत्मा सुषुप्ना नाड़ी से होती हुई शरीर का परित्याग कर देती है और अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त करके अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक एवं ब्रह्मलोकों से होता हुआ शाश्वत वैकुण्ठ लोक में पहुंच जाती है ।[1] यहां पर परमात्मा अपनी श्री के साथ वास करते हैं ।

ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ में आत्मा पंचरूप मोक्ष को प्राप्त करती है । रामानुज ने श्रीमद्भागवतपुराण–उक्त मोक्ष को स्वीकार किया है ।[2] पंचरूप मोक्ष भागवतपुराण में इस प्रकार बताया गया है—१. सालोक्य मुक्ति, २. सार्दिष्ट मुक्ति, ३. सामीप्य मुक्ति, तथा ४. सायुज्य मुक्ति । वस्तुतः पांचों रूपों का भागवतपुराण में क्रमिक विकास माना गया है । किन्तु, विशिष्टाद्वैत में प्रथम चारों से सम्बन्धित सायुज्य को ही मोक्ष की संज्ञा दी गई है, पृथक्-पृथक् या क्रमिक या भेदरूपों को नहीं ।

रामानुज शंकर की भांति जीव और ब्रह्म का पूर्ण निलय स्वीकार नहीं करते, क्योंकि रामानुज की दृष्टि में जीव ब्रह्मांश होकर भी ब्रह्म नहीं है, अतः उसका निलय संभव ही नहीं है । निलय सर्वथा तदाकार का हुआ करता है; न्यूनाधिक सदृश या विसदृश पदार्थों का निलय संभव नहीं ।

वस्तुत: सायुज्य शब्द को ऋग्वेद से ग्रहण किया प्रतीत होता है, वहां पर जीव और ब्रह्म को दो परम मित्रों के रूप में

---

१. क. न्यायसिद्धान्त, पृ० ३२८

ख. कौषीतकी—भाष्य में उद्धृत— स एतं देवयान पन्थानमाद्याऽग्निलोकमागच्छति वायुलोकं, स वरुण लोकं, स आदित्यलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकं—इत्यादि ।

२. श्रीमद्भागवतपुराण —३, २९, १३

देखा गया है जो (मोक्ष की अवस्था में) एक स्थान पर बैठकर परस्पर सापेक्षिक आनन्द को प्राप्त करते हैं और एक दूसरे के आनन्द का आस्वादन करते हैं।[3] मैत्रायणी संहिता में भी सायुज्य-शब्द इसी तात्पर्य में प्रयुक्त हुआ है।[4]

रामानुज का मत है कि मुक्त आत्मा ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है, यद्यपि उसके साथ तद्रूपता को नहीं।[5]

न्यायसिद्धान्तकार ने सायुज्य शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है कि समान गुणों को प्राप्त करना ही सायुज्य है।[6] जीवात्मा भी मोक्ष की अवस्था में परमात्मा के सायुज्य को ही अर्थात् उसकी समानता को प्राप्त करना है। अपना सायुज्यमुक्ति के समर्थन में विशिष्टाद्वैतवादी "परमसायुज्यमुपैति" तथा "मम साधर्म्य-भोक्ता" आदि श्रुतियों को भी उद्धृत करते हैं।[1] इन श्रुतियों में तथा अन्यत्र भी स्पष्ट रूप से निलय की नहीं अपितु सायुज्य या साधर्म्य कही गई है। इसी प्रकार गीता में भगवान कृष्ण साम्य का ही कथन करते हैं।[2] वृहदारण्यकोपनिषद में भी सायुज्यमुक्ति का वर्णन मिलता है।—व्यवहार में जिस प्रकार अपनी पत्नी को आलिंगित करने वाले पुरुष को न बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का. इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मा के द्वारा आलिंगित

३, द्वा सुपर्णासयुजा स खाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
ऋग्वेद १, १६४,२०

४. ब्रह्म चैव च क्षेत्रं च सयुजा अकः।

५. ब्रह्मणोभावः न तु स्वरूपैक्यम्—ऋ० १,१,१,

६. समानात्मगुणयोगित्यम्। —न्यायसिद्धान्त० पृ० ३३३

---

१. क-मुण्डकोपनिषद्—३, ३. ३ ख-श्रीमद्भगवद्गीता-१४, २

२. मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजो मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः॥ ६, ३४ गीता

होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का। यह उसका आप्तकाम, अकाम और शोकाशून्य रूप होता है। इसके अतिरिक्त समृद्धि और विष्णुपुराणादि में ऐसे वचन मिलते हैं जिन्हें विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्म के साथ ऐक्यभाव का खण्डन करके समता के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये प्रस्तुत करते हैं।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मुक्त आत्मा कर्म के आधीन नहीं रहती। इसी अर्थ में उसे स्वराट् कहा गया है।[3] रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा में, सांसारिकता का उच्छेद हो जाने पर, ब्रह्म के केवल गुणों का समावेश होता है। वह अपने पूर्ववत् यथार्थ स्वरूप में ही रहता है, उसमें किसी प्रकार का नया विकास नहीं होता।[4]

गीता का कथन है कि कर्मो की उन्नति से प्राप्त स्वर्ग जोवात्मा के कर्म फलों के नष्ट हो जाने पर छूट जाता है और पुन: इस साँसारिक व्यूह में फंसना पड़ता है।[5] किन्तु जो भक्ति से ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करता, उसे ब्रह्म प्राप्त हो जाने पर न केवल ब्रह्म का मैत्रभाव (भोग) की उपलब्ध होता है प्रत्युत उसका पुनः जागतिक संसरण भी नष्ट हो जाता है।[6]

रामानुज के अनुसार मुक्तात्मा सत्यसंकल्प बन जाता है।[1]

३. कर्मवश्यो न भवतीत्यर्थः। श्रीभाष्य—श्रुतप्रकाशिका १,१,१ पृ.४०

४. अयं प्रत्यगात्मा अर्चिरादिना परं ज्योतिरूपसंपद्य यं दशाविशेषमापद्यते, स स्वरूपाविर्भावः, नापूर्वाकारोत्पत्ति रूपः ॥

श्रीभाष्य ४, ४, १

५. अल्पस्थिरस्वर्गादीयनुभूयः पुनः पुनर्निवर्तन्ते।

गीता रामानुज भाष्य ६, २१।

६. तेषांनित्यमुक्तानाँ मत्प्राप्तिलक्षणं योगमपुनरावृत्ति रूपं क्षेमं वहामि च। पूर्वोक्तेन—६.२२

१. अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुषः साम्यश्च।

—श्री भाष्य ४, ४, २०

किसी पदार्थ को वह संकल्प मात्र से ही प्राप्त कर सकता है वह ब्रह्मानन्द के भोगार्थ इच्छानुसार अनेक शरीर धारण करने में सक्षम होता है और उनका त्याग करने में भी ।[2] इस प्रकार जीवात्मा मोक्ष की अवस्था में स्वशासी हो जाता है । राजानुज का मत है कि मुक्तात्मा दो अंशो को छोड़कर प्राय: अन्य सभी रूपों में ब्रह्म के समान हो जाता है, मुक्ति की अवस्था मे ब्रह्म के दो गुणों को जीवात्मा नहीं प्राप्त कर पाता, जैसे हैं—प्रथमत: जीवात्मा ब्रह्मवत् विभु नहीं हो पाता, वह अणु परिमाण वाला ही रहता है । दूसरे जीवात्मा को, ब्रह्म का जो विशेष शक्ति है, जगत् सृजनात्मिका रूप वह शक्ति प्राप्त नहीं हो पाती ।[3]

मोक्षावस्था में रामानुज आत्माओं की अनेकता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके अनुसार आत्माओं का यह आनेक्य गुणात्मक न होकर गणनात्मक ही होता है। गुणात्मक दृष्टि से सभी आत्मायें ब्रह्मानन्द का समान रूप में भोग करने के कारण समान हैं ।

आचार्य रामानुज द्वारा जीवनमुक्ति का निरास—

सांख्य-वेदान्त प्रभृति दर्शनों द्वारा स्वीकृत सशरीर जीवन-मुक्ति की अवधारणा को आचार्य रामानुज मान्यता नहीं देते। रामानुज के अनुसार शरीर ही बन्धन का कारण है ।[4] अत: सशरीर मोक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता। कर्मरूप अविद्या का हेतु सशरीरत्व ही है, अत: कर्मरूप अविद्या की निवृत्ति के लिये शरीर-

---

२. अतएव संकलपात् उभयविषयम् सशरीरंमशरीरं च मुक्तिं ।
—पूर्वोक्तेव ४, ४, १२

३. जगत्व्यापारो निखिल चेतनाचेतन स्वरूपस्थितिपूर्वातिभेदनियम-सेपु, तद्वर्ण निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याज ब्रह्मानुभयरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम् । —पूर्वोक्तेव । ४,४,१७

४. यत: सशरीरत्वं बन्ध:—पूर्वोक्तेव १, १, ४

पात् आवश्यक है। रामानुज के अनुसार सशरीरमुक्त हो जाने की बात कहना "मेरी माता बन्ध्या है" कहने के समान सर्वथा अविश्वसनीय है एवं उपहास्य है।[5] वे अपने मत की पुष्टि में ऐसे युक्ति-वचनों को भी उद्धृत करते हैं जिनमें जीवन्मुक्ति का स्पष्टरूप से निषेध किया गया है।[6]

पंचाग्नि ज्ञाताओं के जिस ज्ञानमार्ग को आचार्य रामानुज ने कैवल्य की संज्ञा दी है, उसे कुछ विचारकों ने कैवल्यरूप मोक्ष माना है।[1] उनके अनुसार कैवल्यमोक्ष को परमपदवत् स्वीकार किया गया है, किन्तु ब्रह्मापेक्षित न मानकर स्वात्मानुभावमात्र माना है और और उस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति को इस प्रकार बताया है, जिस प्रकार मानों पति (ब्रह्म) द्वारा त्यक्ता कोई भार्या हो।[2]

किन्तु विशिष्टाद्वैत के मूर्धन्य विद्वान् वेदान्तदेशिक ने ऐसी धारणाओं का प्रबलरूप से खण्डन किया है और बताया है कि यह मोक्ष रामानुजानुमोदित नहीं है।[3] वरदविष्णु मिश्र ने भी कहा है कि भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के अभाव से स्वात्मानुभव मात्र मोक्ष कवल्य मोक्ष नहीं माना जा सकता।[4] अत: जीवन्मुक्तिरूप या ब्रह्मासम्पृक्त रूप स्वात्मानुन्दानुभवमात्र कैवल्य–मोक्ष नहीं है।

वेदान्तादि दर्शनो द्वारा विहित जीवन्मुक्त आत्मा को रामानुज गीता के आधार पर स्थित प्रज्ञ की संज्ञा देते हैं। ऐसी अवस्था में जीव सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है तथा आत्मलाभ होकर स्वात्मानन्द का उपयोग करता है।[5]

---

५. सशरीरस्यैव मुक्ति इतिचेत् माता मे वन्ध्येतिवत् असंगतार्थ वच:
—पूर्वोक्तेव

६. "तस्य तावदेद चिरं यावन्न विमोक्षये अथ संपत्स्ये"
छान्दो० ६, १४, २

आचार्य रामानुज द्वारा स्वीकृत मोक्ष के साधन—

रामानुजाचार्य ने अद्वैतवाद के ज्ञानशास्त्रीय मोक्ष साधन-सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कर भक्ति को मोक्ष का साधन स्वीकार किया है। उनती भक्ति केवल भावुकता नहीं है प्रत्युत वह ज्ञान व कर्म का संवलित रूप है। कदाचित् रामानुजीय सम्पूर्ण-दर्शन भक्ति को भित्ति पर ही अलवम्बित है। इसलिए भक्ति का उनके दर्शन में विशेष रूप से निरूपण हुआ है। जैसा कि कहा गया है कि मात्र भावुक भक्ति ही उनके लिये मोक्ष का साधन नहीं है। उसका ज्ञान और कर्म योग से संवलित होना आवश्यक है।[6] अद्वैतवादी दर्शन में कर्म और भक्ति अविद्या प्रेरित तथा अपरमार्थिक सगुण ब्रह्म की अनित्य प्राप्ति के साधन कहे गये हैं। किन्तु रामानुज के दर्शन में भक्ति का सम्पूर्ण महत्व है। कर्म सम्बन्धो मीमांसा भी मोक्ष के लिये उतनी ही परमावश्यक है जितना कि ज्ञानयोग। रामानुजीय दर्शन में भक्ति का ज्ञान और कर्म से समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। ज्ञान परमोत्कृष्टता ही भक्ति का उपादान है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्ति ज्ञानावस्था-विशेष ही है।

मोक्ष की प्राप्ति हेतु किये गये प्रयासों में कर्मों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि ये जीवात्मा में गुणों के संसर्गों से कर्तृत्व प्रकाशित करते हैं किन्तु स्वफलाधान के कारण ये जीवात्मा के वन्धन के हेतु वनते हैं। इसलिए, रामानुज के अनुसार वे भी वन्धन से मुक्ति प्राप्त करने में विशेष स्थान रखते हैं। यद्यपि जीवन कर्म किये विना साध्य नहीं है तथापि मोक्ष के साधनभूत ज्ञान

---

१. वलदेव उपाध्याय—संपादित न्याय सिद्धान्तांजलि की भूमिका —पृष्ठ—१८

और भक्ति के लिए कर्मों में परिष्कार परमावश्यक है। गीता में निष्काम कर्म-भाव पर बल दिया गया है। रामानुज के अनुसार निष्काम कर्म ज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। क्योंकि असम्यक् रूप से किये गये कर्म जीवात्मा के बन्धन हेतु बनते हैं। इसलिये प्रत्येक साधक को निष्काम भाव से कर्मों को करना चाहिए। यद्यपि मात्र निष्काम कर्म के द्वारा मोक्ष संभव नहीं है, क्योंकि—"तमेव-विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय"-आदि श्रुतियों में (ब्रह्म) ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है। किन्तु जैसा कि अभी कहा गया कि निष्काम कर्मों के द्वारा, रामानुज के अनुसार ज्ञान हेतु पृष्ठभूमि तैयार होती हैं।[1] विशिष्टाद्वैत के अनुसार ज्ञानोद्भव तभी संभव है, जबकि चित्त में सत्वगुण की अभिवृद्धि हो। क्योंकि रज और तमोगुण की अवस्था में परम साक्षात्कार-रूप ज्ञान असम्भव है। पूर्णकृत पाप-पुण्यों के भोग रूप के कारण जीवात्मा में रज और तमो गुण की परिवृद्धि रहती है, जो निष्काम कर्मों से ही नष्ट हो पाती है। इस प्रकार निष्काम कर्म सत्वगुणोद्रेक कर चित्त शुद्ध करते हैं, जिसमें ज्ञान का स्फुरण संभव होता हैं। रामानुज कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा समस्त इद्रियों तथा मन के शब्दादि विषयरूप से बने व्यापारों के परित्याग से ही सिद्ध होती है।[2] विविध सकाम व्यापारों का त्याग निष्कामभाव है। निष्काम भाव की उद्भावना के लिए प्रकृति-जन्य अहंकार से निवृत्ति परमावश्यक है। अहंकार के कारण ही जीवात्मा अपने को सम्पूर्ण सांसारिक

ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम्—पूर्वोक्तेव भूमिका।

१. कर्मयोगे ज्ञानास्येव प्राधान्यं चोच्यते। —पूर्वोक्तेव भूमिका १.४०

२. ज्ञाननिष्ठासकलेन्द्रियमनसां शब्दादिविषयव्यापारोपरति निष्पाद्यः —पूर्वोक्तेव ३.३

३. प्रकृतेगुर्णैसत्वादिभिः स्वानुरूपं क्रियमाणानि कर्माणि प्रति अहंकारविमूढ़ात्माहं कर्त्तेति मन्यते—पूर्वोक्तेव ३.२७

क्रिया कलापों का कर्त्ता एवं भोक्ता समझता है।[3] इसलिए कर्तृत्व में निष्कामभाव लेने के लिये अहंकारत्याग अपरिहार्य है। निष्काम कर्मों के द्वारा शुद्ध किये हुए चित्त से जीवात्मा के साथ अपने परमार्थ संबंध को देखता है। निष्काम कर्मयोगी के—जो केवल नित्य-नैमित्तिक और फलसंगरहित काम्य कर्मों को करता है—पूर्वकृत रूप सचित रूप नष्ट हो जाते हैं। और प्राब्ध के नष्ट होने तक वह देह को धारण किये रहता है। क्रियमाण कर्म फलनिस्संगता के कारण निष्प्रभावी हो जाते हैं—तस्मात् भावी वन्धन के हेतु नहीं बनते। मुमुक्षु तब ही कर्मयोगी बनता है जब वह सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजय में समत्व भाव वाला हो जाता है। ऐसे जी को गीता के आधार पर रामानुज स्थितप्रज्ञ की संज्ञा देते हैं।

सत्वोद्रेकित अन्तःकरण के द्वारा जीव सर्व प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त करता है अपने अणुत्व एवं अल्पज्ञत्वादि को समझता है, और विभु ईश्वर की अपरिसीमता एवं अनन्तता को जानकर अपने का उसी पर निर्भर मानता है और उसके प्रति आसक्ति भाव से परिपूर्ण हो उठता है।

कर्मों के प्रति अनासक्तिभाव ज्ञान की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में साधक आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों से व्यतिरिक्त अनुभव करता है और अपने गंतव्यरूप ईश्वर को समझने लगता लगता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह परमात्मा ही उसका आधार है। इसी के साथ उसका नित्य एवं पारमार्थिक सम्बन्ध है—यह प्रकृति उसका आधार नहीं है या शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध अनित्य एवं गुण प्रेरित हैं। अत. यह सम्बन्ध त्याज्य है। ऐसा ज्ञान जागत् की—निस्सारता को परिपुष्ट कर साधक को विषयोपभोग एवं सकामता से विमुख करता है। इस प्रकार प्रकृति के साथ अपने औपाधिक सम्बन्ध की तथा परमात्मा के साथ सत्य सम्बन्धों की—जो भिन्न-भिन्न रूपों में हैं—शरीर-शरीरी, प्रकार-प्रकारी एवं शेषशेषी इत्यादि—अनुभूति होने लगती है। उस अनुभूति के अनन्तर जीवात्मा को—अहं ब्रह्म-अस्मि" रूप अक्षय ज्ञान होने लगता है और इसके पश्चात् वह स्व-आधारभूत परमात्मा के प्रति स्नेहस्निग्ध हो समर्पित हो उठता है और उसका निरन्तर ध्यान-मनन करने लगता है। उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। उसे ब्रह्मरूप भासने लगता है। उसके सारे कार्य परमात्मा को समर्पित होकर होते हैं। उसमें वैराग्य व्यापक जाता है। ऐसा होना वहां ज्ञान का उत्तम रूप है यही उच्चतम भक्ति का भी स्वरूप यही है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति का और भक्ति ज्ञान के सहायक होते हैं।

जब साधक सर्वज्ञविशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ अपने नित्य और आधाराधेय-सम्बन्ध को जान लेता है, तो उसके

क्रिया कलापों का कर्त्ता एवं भोक्ता समझता है।[3] इसलिए कर्तृत्व में निष्कामभाव लेने के लिये अहंकारत्याग अपरिहार्य है। निष्काम कर्मों के द्वारा शुद्ध किये हुए चित्त से जीवात्मा के साथ अपने परमार्थ संबंध को देखता है। निष्काम कर्मयोगी के–जो केवल नित्य–नैमित्तिक और फलसंगरहित काम्य कर्मों को करता है—पूर्वकृत रूप सचित रूप नष्ट हो जाते हैं। और प्राब्ध के नष्ट होने तक वह देह की धारणा किये रहता है। क्रियमाण कर्म फलनिस्संगता के कारण निष्प्रभावी हो जाते हैं—तस्मात् भावी बन्धन के हेतु नहीं बनते। मुमुक्षु तब ही कर्मयोगी बनता है जब वह सुख-दु:ख, हानि-लाभ, और जय-पराजय में समत्व भाव वाला हो जाता है। ऐसे जीव को गीता के आधार पर रामानुज स्थितप्रज्ञ की संज्ञा देते हैं।

इस प्रकार कर्मयोग जीव के कल्मष को प्रक्षालित करता हुआ ज्ञानयोग के द्वारा साक्षात् रूप से भक्ति का उत्पादक होता है।[1] इसलिए कर्मयोग भक्ति का ज्ञान से कहीं भी विरोध या प्रतिकुल्य नहीं रखता।

ज्ञानयोग भक्ति का परम साधन एवं मूल है। सभी शास्त्रों में उस परम सत्ता को निदिध्यासित ध्यातव्य कहा है। किन्तु रामानुज उसकी एकान्त साधनता को अस्वीकार कर उसे मुख्य-साधनभूता भक्ति का सहायक स्वीकार करते हैं।

कर्मयोग से निर्मल हुए अन्त:करण द्वारा ईश्वर को अपना शेप (आधार) रूप जान लेने पर प्रकृति से व्यतिरिक्त होकर आत्मचिंतन ही ज्ञानयोग है।[2]

---

१. अयं तु जीवगतकल्मपापनयन द्वारा ज्ञानयोगमुत्पाद्य तद्द्वारा साक्षाद्वाभक्ति–उत्पादको भवति। (यतीन्द्रमत० पृ० ६२)

सत्वोद्रेकित अन्तःकरण के द्वारा जीव सर्व प्रथम आत्मज्ञान प्राप्त करता है अपने अणुत्व एवं अल्पज्ञत्वादि को समझता है, और विभु ईश्वर की अपरिसीमता एवं अनन्तता को जानकर अपने का उसी पर निर्भर मानता है और उसके प्रति आसक्ति भाव से परिपूर्ण हो उठता है।

कर्मों के प्रति अनासक्तिभाव ज्ञान की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में साधक आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों से व्यतिरिक्त अनुभव करता है और अपने गंतव्यरूप ईश्वर को समझने लगता लगता है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि वह परमात्मा ही उसका आधार है। इसी के साथ उसका नित्य एवं पारमार्थिक सम्बन्ध है—यह प्रकृति उसका आधार नहीं है या शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध अनित्य एवं गुण प्रेरित हैं। अत. यह सम्बन्ध त्याज्य है। ऐसा ज्ञान जागत् की—निस्सारता को परिपुष्ट कर साधक को विषयोपभोग एवं सकामता से विमुख करता है। इस प्रकार प्रकृति के साथ अपने औपाधिक सम्बन्ध की तथा परमात्मा के साथ सत्य सम्बन्धों की—जो भिन्न-भिन्न रूपों में हैं—शरीर-शरीरी, प्रकार-प्रकारी एवं शेषशेषी इत्यादि—अनुभूति होने लगती है। उस अनुभूति के अनन्तर जीवात्मा को—अहं ब्रह्म-अस्मि" रूप अक्षय ज्ञान होने लगता है और इसके पश्चात् वह स्व-आधारभूत परमात्मा के प्रति स्नेहस्निग्ध हो समर्पित हो उठता है और उसका निरन्तर ध्यान-मनन करने लगता है। उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। उसे ब्रह्मरूप भासने लगता है। उसके सारे कार्य परमात्मा को समर्पित होकर होते हैं। उसमें वैराग्य व्यापक जाता है। ऐसा होना वहो ज्ञान का उत्तम रूप है यही उच्चतम भक्ति का भी स्वरूप यही है। इस प्रकार ज्ञान भक्ति का और भक्ति ज्ञान के सहायक होते हैं।

जब साधक सर्वज्ञविशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा के साथ अपने नित्य और आधाराधेय सम्बन्ध को ज्ञान लेता है, तो उसके

हृदय में तदाश्रय (मोक्ष) पाने की कामना बलवती हो उठती है। उस अपने परम गन्तव्य का अनुरागाप्लावित होकर निरन्तर ध्यान रूप सेवन अर्थात् भक्ति करता है।[1] उस ध्यान से न केवल परमात्मा हो प्रसन्न होता है, अपितु साधक की भी एक अनिवर्चनीय सुख की प्राप्ति होती है।[2] उसका यह ध्यान या स्मृति रूप मनन तेल धारा की भांति अविच्छिन्न और अबाधगति वाला होता है।[3] ऐसी अवस्था में परमात्मप्रति एकाग्रीकृत ध्यान वाले उस साधक को अन्य कोई भी विचार बाधा नहीं देता। समस्त कर्मों को बिना फल को कामना किये परमात्मा को समर्पित करके वह साधक सम्पन्न करता है। और आत्मानुभव रूप आनन्द का पान करता है तथा उसके साथ अपने सम्बन्ध का परोक्षानुभव करता है।

आचार्य रामानुज के द्वारा भक्ति के सात साधन माने गये हैं, जिनके द्वारा मन निर्मल होकर परमात्मा का ज्ञान करने में सक्षम होता है।[4]

१. **विवेक**— शारीरिक शुद्धता हेतु जाति, आश्रय और निमित्त दुष्टभव्य पदार्थों का त्याग कर सात्विक पदार्थों का भक्षण विवेक रूप साधन है।

२. **विमोक**— काम क्रोधादि अर्थात् दुर्विकारों का परित्याग विमोक है।

---

१. स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते। —गीता–रामानुजभाष्य ७.११

२. परमपुरुषः स्वेनेव स्वयमनवधिकातिशयसुखस्सन् परस्यापि सुखं भवति। ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति स सुखी भवतीत्यर्थः।
(वेदार्थसंग्रह पृ० ६१)

३. तेलधारावद्—भविच्छिन्नस्मृतिसन्तानस्यम्।
(श्रीभाष्य १, १, १, पृ० ५५-५६)

४. विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतपरमात्मीयासननिर्मलीकृतेन हि मनसा गृह्यते। —पूर्वोक्तेव १,२१।

३. अभ्यास— कल्याण गुणपरिकर परमात्मा रूप आश्रय का पुनपुन: संशीलन अभ्यास कहाता है।

४. क्रिया— यथाशक्ति पंच महायज्ञों का अनुष्ठान भक्ति का क्रिया-रूप साधन है।

५. कल्याण— नैतिक और परहितकारी सत्यार्जव, दया, दान, अहिंसा रूप सदगुणों का आत्मस्थापन कल्याण साधन है।

६. अनवसाद— दैन्यादि हीन भावों का परित्याग अनवसाद कहलाता है।

७. अनुद्धर्ष— सुख-दु:ख की अतिशयानुभूति का परित्याग भक्ति का अनुद्धर्ष रूप साधन है।

इन सात साधनों से सम्पन्न साधक ब्रह्म का अपरोक्षानुभव करने में सक्षम होने लगता है।

भक्ति की क्रमिकावस्था को दृष्टिपथ में रखकर भक्ति को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, साधन भक्ति या उपाय भक्ति, द्वितीय, पराभक्ति, तथा तृतीय, परमभक्ति।

साधन भक्ति में मुमुक्षु शमदमादि के द्वारा अपने मन और बुद्धि को निर्मल करने का प्रयास करता है क्योंकि चित्त के द्वारा भी उसे वह ज्ञान उपलब्ध हो सकता है, जो उसकी आत्मा के स्वरूप की और परमात्मा के स्वरूप की तथा उस परमानन्द के साथ उस के यथार्थ सम्बन्ध को उद्घाटित करने में सक्षम होता है।

इस प्रकार की भक्ति में अनुरक्ति और अभिलाषा की अपेक्षा ज्ञान का आधिक्य होता है, यह कहा जा सकता है कि साधक

विवेकोन्मुखी होता है अर्थात् जिसमें साधक अपने और ईश्वर के मध्य के सम्बन्ध के यथार्थ्य एवं प्रकृति और अपने मध्य के सम्बन्ध का अयाथार्थ्य है, उसे समझता है। ऐसा भगवदनुरक्ति की अवस्था को साधन या उपाय भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की भक्ति में साधक परमात्मा के अस्तित्व में एक दृढ़ आस्था रखता है। यह आस्था तब और अधिक प्रबल हो उठती है, जब साधक वैदिक यज्ञों के प्रभावों सहित सभी प्रकार के पदार्थों की तथा अन्य सभी प्रकार के पदार्थों की नश्वरता को समझ लेता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि साधन भक्ति में ज्ञानातिशय ही होता है। तथापि इसमें साधक उस परमसत्ता को सन्धान के प्रति और अधिक जिज्ञासु होकर शमदमादि के द्वारा उसका याथाथ्य अनुभव करने का प्रयत्न करता है। तो भी, अपने और परमात्मा के मध्य के पदार्थ सम्बन्ध के उदित हो जाने पर उसके प्रति अनुरक्त हो उठता है। इसलिए इसे भक्ति की भी संज्ञा दी जाती है। अर्थात् कहा जा शकता है कि ज्ञानातिशय प्रधान भगवदनुरक्ति ही साधन या उपाय भक्ति है।

भक्ति योगों के लिए परमात्मा प्रत्येक अवस्था में सर्वोच्च माना जाता है, तथा आत्मज्ञान को परमात्मज्ञान का एक साधन स्वीकार किया जाता है। क्योंकि आत्मज्ञानान्तर और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध की प्रतीति हो जाने पर परमात्मा आराध्य हो जाता है। यह एक अलग बात है कि उसकी आराधना साधक निर्लिप्त कर्मों के द्वारा करता है अथवा एक दिव्य ज्ञान के अन्वेषण के लिए प्रयास करता है। दोनों अवस्थाओं में वह भक्ति ही है। क्योंकि भक्ति का अभिप्राय या शाब्दिक अर्थ है—सेवन या आराधन करना। वस्तुतः आत्मज्ञानान्वेषण और परमात्मज्ञानान्वेषण भक्ति के दो रूप हैं, क्योंकि साधक के शमदमादि के निरन्तर अभ्यास से उसका चित्त निर्मल होता है और उस निर्मल चित्त के द्वारा तेलधारवत् अपरिच्छिन्न चिन्तन या मनन के द्वारा परमात्मा का अन्तःदमन या अन्तः अनुभव करता है। और उसी अवस्था में साधक को परमात्मा के प्रति आस्था और प्रबल रूप से दृढ़ होती

है, जो उसके प्रेम, समादर तथा गुणकीर्तन से अभिव्यक्ति भी पाती है। इसी अवस्था में उपाय भक्ति पराभक्ति में परिणत हो जाती है। तदनन्तर पराज्ञानावस्था को प्राप्त होकर आत्मज्ञान और परमात्वज्ञान के समन्वय से परमाभक्ति की गहनता को प्राप्त कर लेती है। इस अन्तरावस्था में साधक परमात्प्रेम तथा पद-भिलाषा से आप्लावित हो उठता है, और समस्त जगत् के पदार्थ या विषयों से उदासीन होकर एक-मात्र परमात्मा की अनुकम्पा और सान्निध्य प्राप्ति के लिए समुत्सुक हो उठता है।

परमाभक्ति की आवस्था में भक्त अपने सभी कर्मों को परमात्मा को अर्पित करके अपने हृदय को उसमें सन्यस्त कर देता है।[1] तभी अतिरिक्त विचारों का त्याग कर एकमात्र उसी की शरण में अपने को अर्पित कर देता है और यह परमात्मा उन सभी व्यवधानों को नष्ट कर देता है जो भक्तिकाल में सत्यविरोधी होते हैं।[2]

प्रपत्ति रूप भक्ति---

रामानुजीय दर्शन की प्रपत्ति को एक अमूल्य देन समझा जाता हैं। यतीन्द्र मतदीपिकाकार ने न्यासविद्या एवं शरणागति प्रभृति इसके पर्याय रूप बताये हैं।[3] शाब्दिक रूप से प्रपत्ति का अर्थ दुःखत्रय के एकमात्र उद्धारक परमात्मा के संरक्षण में जाना है। रामानुज ने श्रीभाष्य में परमात्मानुभूति किंवा प्राप्ति करने वाली विभिन्न विद्याओं का कथन किया है। प्रपत्ति किंवा न्यास विद्या भी उनमें से एक हैं, जो उस परमात्मानुभूति एवं प्राप्ति का साधन करती है।

---

१. चेतसा सर्वं कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः
बुद्धियोगमुपाश्रित्यमन्वितः सततं भव ॥ गीता-१८, ५६

२. अहं त्वं सर्वपापेभ्यो यथादित-स्वरूपभक्त्यारम्भेविरोधिभ्यः।
—गीता-१८,६६

वस्तुत: मोक्षसाधिका प्रपत्ति का सन्धान रामानुजदर्शन में उन लोगों के लिये किया गया है जो भाक्ति योग को विभिन्न अवस्थाओं को स्वीकार करने में या अपनाने में असमर्थ होते हैं और जो कर्मयोग और ज्ञानयोग के जटिलतओं को समझने में समर्थ नहीं होते। दूसरे प्रपत्ति उन लोगों के लिये भी जो विभिन्न जातीय या सामाजिक संविधानों (मनुस्मृति आदि) के द्वारा शास्त्राध्ययन आदि या ज्ञानकर्मयोगादि के कार्यक्षत्रों से निषिद कर दिये गये हैं। किन्तु प्रपत्ति का "मार्ग उन सब के लिए खुला है अर्थात् विद्वान् के लिए भी,, मूख के लिए भी, उच्च श्रेणी वालों के लिए भी तथा निम्न श्रेणी वालों के लिए भी। जबकि भक्ति का मार्ग, जिसके अन्दर ज्ञान तथा कर्म आ जाते हैं केवल ऊपर के तीन वर्गों तक ही सीमित हैं।"[4] प्रपत्ति में कोई भी व्यक्ति अपने गुरु से दीक्षा लेकर अपने को उस परमात्मा के प्रति समर्पित कर सकता है, उसके अन्दर आश्रय पा सकता है। श्री निवास दास ने प्रपत्ति के पांच अंग बताये हैं।[5]

१. आनुकूल्य का संकल्प—	साधक के द्वारा ऐसे सद्गुणों का संग्रह जो ईश्वर को आमोदित कर सके।
२. प्रातिकूल्य का निषेध—	ऐसे गुणों का परित्याग, जो ईश्वर को प्रिय न हों।

---

३. सर्वेभ्य: पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। गीता—रामानुजभाष्य १८,६६

४. भारतीय दर्शन—डा० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ७०७

५, आनुकूल्यस्य संकल्प: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षस्तति इति विश्वासो गोप्तृत्व वरणं तथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्यम्, इत्याद्यगंपचकयुक्ता।—यतीन्द्रमत० पृष्ठ ६४

३. संरक्षा का आपूर्ण विश्वास—	अपनी रक्षा का ईश्वर हर आपूर्ण विश्वास ।
४. गोप्तृत्ववरण—	रक्षा के लिए आवेदन अथवा ईश्वर पर मोक्ष-प्रदान का विश्वास ।
५. कार्पण्य एवं आत्मनिक्षेप—	ईश्वर के प्रति अपने को किंकर मानना कार्नण्य हैं तथा उसके प्रति सर्वांगसपेण आत्मसमर्पण आत्मनिक्षेप होता है।

प्रपत्ति में जीवात्मा अपने को सवथा अयोग्य एवं असहाय किंकर मानकर एकमात्र ईश्वर इच्छा से मोक्ष प्राप्ति का अभिलाषी होता है। साधक अपने को उस शुष्क पाते की भांति समझता है, जिसका समस्त अस्तित्व एवं अवस्थाभार परमात्मा रूपी पवन की अनुकम्पा पर अवलम्वित है। समस्त कामनायें, कर्म और कर्म-फलों को ईश्वर के प्रति समर्पित करना ही उसके लिए उपलब्ध जीवन का शरीरपातान्ता ध्येय रह जाता हैं।[1] इस प्रकार का साधक परमात्मा के द्वारा सभी पापों एवं दुराभिवातों से निर्मुक्त कर दिया जाता है। अर्थात् रामानुज के अनुसार परमात्मा भक्त की या साधक की उत्कट भक्ति से प्रसन्न होकर उसके पापों को क्षमा कर देता है।

ईश्वर का शेष और जीव का शेषी भाव वस्तुतः इसी अवस्था में आकर अपनी अभिव्यक्ति पाता है। जब जीव आत्मा का अखिल सांसारिकत्व, अहं, अस्मद् और मदीय भावत्व पूर्णरूपेण परमात्मा

---

१. सर्वस्य लोकिकस्व वैदिकस्य च कर्मणः कर्तृत्वं भोक्तृत्वमारा, ध्यत्वं अथवा मयि सर्वं समर्हितं भवति तथा कुरु।

—गीता रामानुजभाष्य ६,२७

के प्रति समर्पित हो जाता है, तो वह पूर्ण प्रपत्ति की अवस्था कहलाती है। जीवात्मा में कोई आकांक्षा स्फुरित नहीं होती परमात्मा की अनुकम्पा-प्राप्ति ही एकमात्र लक्ष्य होता है। सम्पूर्ण अहंभाव एवं जगत्सम्बन्धी भाव उपशमित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में साधक को ऐसा बना देती है कि वह परमात्मेच्छा के अनुकूल कार्य करे और उन सभी कार्यों एवं भावों का परित्याग कर दें जो परमात्मा के प्रतिकूल थे। सर्वांगरूपेण समर्पण ही पूर्ण प्रपत्ति है और जब पूर्ण प्रपत्ति की अवस्था होती है तो साधक को सुख-दु:ख-कारी विषय न खेद पहुंचाते है और न हर्ष देते है। इति।

महर्षि दयानन्द के अनुसार मोक्ष का स्वरूप और उसके साधन—

प्राय: सभी दर्शनों की भाँति दयानन्द भी दु:खों से निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं।[1] इस मत की पुष्टि के लिए वे सांख्यसूत्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि आध्यात्मिक अर्थात् शरीर पीड़ा, आधिभौतिक—जो दूसरे प्राणियों से दु:खित होता है, और आधिदैविक—जो अतिवृष्टि, अतिताप, एवं अतिशीत तथा मनादि इन्द्रियों चाञ्चल्य से होता है—ऐसे त्रिविध दु:खों को छुड़ा कर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है।[2] क्योंकि दु:ख अविद्या के कारण होते हैं, अत: प्रकारान्तर से अविद्या से परिनिवृत्ति ही मोक्ष है। अविद्या ही जीव के बन्धन का हेतु है।

दयानन्द के अनुसार भौतिक सूक्ष्म शरीर का संग मात्र मृत्यु

---

१. सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास, पृष्ठ १६५

२. क-अथत्रिविधदु:खात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुपार्थ:। (सां०सू०१/१)
ख-सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास पृ० १६६

तक ही रहता है। अपने मत की पुष्टि के मत शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए[3] कहते हैं—"मोक्ष में भौतिक शरीर का इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्पमात्र से चक्षु, स्वाद हेतु रसना, गन्ध हेतु घ्राण, संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरणार्थ चित्त और अहंकार के लिए अहंकार-स्वरूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्पमात्र शरीर होता है, जैसे शरीर के आधार इन्द्रियों के गोलक द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।[4]

कहने का अभिप्राय यह है कि सत्य-संकल्पादि स्वाभाविक गुण समर्थ्य (जीवात्मा) में रहते हैं, भौतिकता नहीं रहती।[5] इसी परम्परा में वे अपने मत के पोषणार्थ-जैमिनी, बादरायण, कठोपनिषद् तथा छान्दोग्य आदि को उद्धृत करते हैं, जिसमें मुक्ति में में जीव की शुद्ध सामर्थ्य की स्थिति का कथन किया गया है।[6]

मुक्ति में जीवात्मा का अभौतिक सूक्ष्म शरीर, जो पाँच, प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि सत्रह तत्वों का समुदाय रूप होता है। इनके द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति करता है।[7] दयानन्द के अनुसार—"जब जीव के हृदय की अविद्या रूपी

---

३. शतपथ ब्राह्मण। १४, ४, २, १७।

४. सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास, पृष्ठ १५६–५७।

५. पूर्वोक्तेव पृ० १५६।

६. स०प्र०, न०समु०पृ० १५७ पर उद्धृत :—
अ–भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् जै०सू३ ४. १४-१०।
ब–द्वादशाऽवदुभयविधं बादरायणो-अत: (उक्त ४,४,१२)
स-कठो० का २.६.१० । द–छा६ ८.१२.५

७. यह दूसरा अभौतिक (सूक्ष्म) शरीर मुक्ति में भी रहता है।
(स० प्र० पृ० १६०)

के प्रति समर्पित हो जाता है, तो वह पूर्ण प्रपत्ति की अवस्था कहलाती है। जीवात्मा में कोई आकांक्षा स्फुरित नहीं होती परमात्मा की अनुकम्पा-प्राप्ति ही एकमात्र लक्ष्य होता है। सम्पूर्ण अहंभाव एवं जगत्सम्बन्धी भाव उपशमित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में साधक को ऐसा बना देती है कि वह परमात्मेच्छा के अनुकूल कार्य करे और उन सभी कार्यों एवं भावों का परित्याग कर दें जो परमात्मा के प्रतिकूल थे। सर्वांगरूपेण समर्पण ही पूर्ण प्रपत्ति है और जब पूर्ण प्रपत्ति की अवस्था होती है तो साधक को सुख-दुःख-कारी विषय न खेद पहुंचाते है और न हर्ष देते है। इति।

महर्षि दयानन्द के अनुसार मोक्ष का स्वरूप और उसके साधन—

प्राय: सभी दर्शनों की भाँति दयानन्द भी दुःखों से निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं।[1] इस मत की पुष्टि के लिए वे सांख्यसूत्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि आध्यात्मिक अर्थात् शरीर पीड़ा, आधिभौतिक—जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होता है, और आधिदैविक—जो अतिवृष्टि, अतिताप, एवं अतिशीत तथा मनादि इन्द्रियों चाञ्चल्य से होता है—ऐसे त्रिविध दुःखों को छुड़ा कर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है।[2] क्योंकि दुःख अविद्या के कारण होते हैं, अत: प्रकारान्तर से अविद्या से परिनिवृत्ति ही मोक्ष है। अविद्या ही जीव के बन्धन का हेतु है।

दयानन्द के अनुसार भौतिक सूक्ष्म शरीर का संग मात्र मृत्यु

---

१. सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास, पृष्ठ १६५

२. क-अथत्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुपार्थः। (सां०सू०१/१)
ख-सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास पृ० १६६

तक ही रहता है। अपने मत की पुष्टि के मत शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए[3] कहते हैं—"मोक्ष में भौतिक शरीर का इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्पमात्र से चक्षु, स्वाद हेतु रसना, गन्ध हेतु घ्राण, संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरणार्थं चित्त और अहंकार के लिए अहंकार-स्वरूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और संकल्पमात्र शरीर होता है, जैसे शरीर के आधार इन्द्रियों के गोलक द्वारा जीव स्वकार्यं करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।[4]

कहने का अभिप्राय यह है कि सत्य-संकल्पादि स्वाभाविक गुण समर्थ्य (जीवात्मा) में रहते हैं, भौतिकता नहीं रहती।[5] इसी परम्परा में वे अपने मत के पोषणार्थ—जैमिनी, बादरायण, कठोपनिषद् तथा छान्दोग्य आदि को उद्धृत करते हैं, जिसमें मुक्ति में में जीव की शुद्ध सामर्थ्य की स्थिति का कथन किया गया है।[6]

मुक्ति में जीवात्मा का अभौतिक सूक्ष्म शरीर, जो पाँच, प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि सत्रह तत्वों का समुदाय रूप होता है। इनके द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति करता है।[7] दयानन्द के अनुसार—"जब जीव के हृदय की अविद्या रूपी

---

३. शतपथ ब्राह्मण। १४, ४, २, १७।
४. सत्यार्थप्रकाश—नवम समुल्लास, पृष्ठ १५६–५७।
५. पूर्वोक्तेव पृ० १५६।
६. स०प्र०, न०समु०पृ० १५७ पर उद्धृत :—
अ–भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् वै०सू३ ४, १४-१०।
ब–द्वादशाऽवदुभयविद्ये बादरायणो-अत: (उक्त ४,४,१२)
स-कठो० का २.६.१० । द–छा९ ८.१२.५
७. यह दूसरा अभौतिक (सूक्ष्म) शरीर मुक्ति में भी रहता है।
(स० प्र० पृ० १६०)

गांठ कट जाती है सब छिन्न होते हैं और दुष्ट कर्मत्रय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा, जो अपने आत्मा के भीतर और बाहर जाता है उसमें निवास करता है"।[8]—आदि मुण्डकोपनिषद् के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[9]

जीव और ईश्वर को दयानन्द स्वरूपतः भिन्न मानते हैं अतः मुक्तिरूप आनन्द की उपलब्धि के लिए उनका पारस्परिक विलय स्वीकार नहीं करते। क्योंकि, दयानन्द के अनुसार मुक्ति में यदि जीव और ब्रह्म मिल जायें तो मुक्ति का सुख कौन भोगे; और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जायें।[10] यदि मुक्ति में जीव का विलय स्वीकार किया जायेगा तो तो वह जीव का स्वास्तित्व—तिरोधायक अर्थात् स्वरूपनाश ही माना जायेगा क्योंकि आनन्द की उपलब्धि तो अपने पृथक् अस्तित्व के द्वारा ही भोग सकता है। जबकि निलय में तद्रूप होकर अनुभूति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, जो पृथक् रूप के द्वारा ही ग्राह्य है।

महर्षि दयानन्द पुनः तैत्तिरीयोपनिषद् का उद्धरण देकर वे पुनः अपने इस मत की पुष्टि करते हैं कि मोक्षावस्था में जीवात्मा ब्रह्म से संयुक्त होता है और अपने पूर्णास्तित्व के साथ आनन्द भोगता है। "—जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक ब्रह्म में स्थित होकर उस "विपश्चित्" अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त करता है।[1]

---

८. पूर्वोक्तेव नवम समु० पृ० १६५, ९. मुण्ड० २.२.८।
१०. स० प्र० नवम समुल्लास पृ० १६५।

---

१. स०प्र०, नवम समुल्लास पृ० १६६।

मोक्ष में जीवात्मा की अवस्था के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि "वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्धज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते हैं, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को जो उसके ज्ञान में आते हैं, सब को देखता है।[2]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मोक्ष की दशा में जीवात्मा ब्रह्म में विलीन नहीं होता अपितु समग्र सृष्टि में, जिसमें कि परमात्मा व्याप्त है, सत्य संकल्प होकर भ्रमण करता है। इसमा अभिप्राय यह हुआ कि महर्षि दयानन्द कुछ अर्थों में, सत्यसंकल्प होने के, ब्रह्म के साम्य या संयोग को मुक्ति मानते हैं। जिसकी पुष्टि में वे मुण्डकोपनिषद् के उस ही वचन को वे प्रस्तुत करते हैं जिसे आचार्य रामानुज ने किया है।[3]

इसी संदर्भ में महर्षि दयानन्द वैष्णवाचार्यों के उस मन्तव्य का भी खण्डन करते हैं जिसमें सालोक्य, सायुज्य आदि रूपापन्नता को मोक्ष माना गया है। दयानन्द का कथन है कि "ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं, इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिए सालोक्य मुक्ति प्राप्त है।" ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिए सामीप्य मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। सायुज्य जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है। इससे सायुज्य मुक्ति भी बिना प्रयत्न के सिद्ध और सब जीव सर्व व्यापक परमात्मा में व्याप्त होने से संयुक्त हैं। इससे सायुज्य मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है।[3] दयानन्द के अनुसार उक्त चारों प्रकार का तथाकथित मोक्ष रूप आनन्द तो जीव सामान्य जीवन में ही भोग लेता है। तस्मात् तादृश सायुज्य आदि मोक्षों का उनके मत में कोई तात्पर्य नहीं रह जाता है।

---

२. परमसाम्यमुपैति—मुण्डकोपनिषद् ३, १, ३

३. स०प्र० नवम समुल्लास पृ० १६२-६३

गांठ कट जाती है सब छिन्न होते हैं और दुष्ट कर्मत्रय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा, जो अपने आत्मा के भीतर और बाहर जाता है उसमें निवास करता है" ।[8]—आदि मुण्डकोपनिषद् के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है ।[9]

जीव और ईश्वर को दयानन्द स्वरूपतः भिन्न मानते हैं अतः मुक्तिरूप आनन्द की उपलब्धि के लिए उनका पारस्परिक विलय स्वीकार नहीं करते । क्योंकि, दयानन्द के अनुसार मुक्ति में यदि जीव और ब्रह्म मिल जायें तो मुक्ति का सुख कौन भोगे; और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जायें ।[10] यदि मुक्ति में जीव का विलय स्वीकार किया जायेगा तो तो वह जीव का स्वास्तित्व—तिरोधायक अर्थात् स्वरूपनाश ही माना जायेगा क्योंकि आनन्द की उपलब्धि तो अपने पृथक् अस्तित्व के द्वारा ही भोग सकता है । जबकि निलय में तद्रूप होकर अनुभूति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, जो पृथक् रूप के द्वारा ही ग्राह्य है ।

महर्षि दयानन्द पुनः तैत्तिरीयोपनिषद् का उद्धरण देकर वे पुनः अपने इस मत की पुष्टि करते हैं कि मोक्षावस्था में जीवात्मा ब्रह्म से संयुक्त होता है और अपने पूर्णास्तित्व के साथ आनन्द भोगता है । "—जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक ब्रह्म में स्थित होकर उस "विपश्चित्" अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त करता है ।[1]

---

८. पूर्वोक्तेव नवम समु० पृ० १६५, ६. मुण्ड० २.२.८ ।
१०. स० प्र० नवम समुल्लास पृ० १६५ ।

---

१. स०प्र०, नवम समुल्लास पृ० १६६ ।

मोक्ष में जीवात्मा की अवस्था के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि "वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्धज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते हैं, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को जो उसके ज्ञान में आते हैं, सब को देखता है।[2]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि मोक्ष की दशा में जीवात्मा ब्रह्म में विलीन नहीं होता अपितु समग्र सृष्टि में, जिसमें कि परमात्मा व्याप्त है, सत्य संकल्प होकर भ्रमण करता है। इसमा अभिप्राय यह हुआ कि महर्षि दयानन्द कुछ अर्थों में, सत्यसंकल्प होने के, ब्रह्म के साम्य या संयोग को मुक्ति मानते हैं। जिसकी पुष्टि में वे मुण्डकोपनिषद् के उस ही वचन को वे प्रस्तुत करते हैं जिसे आचार्य रामानुज ने किया है।[3]

इसी संदर्भ में महर्षि दयानन्द वैष्णवाचार्यों के उस मन्तव्य का भी खण्डन करते हैं जिसमें सालोक्य, सायुज्य आदि रूपापन्नता को मोक्ष माना गया है। दयानन्द का कथन है कि "ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं, इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिए सालोक्य मुक्ति प्राप्त है।" ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिए सामीप्य मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। सायुज्य जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है। इससे सायुज्य मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध और सब जीव सर्व व्यापक परमात्मा में व्याप्त होने से संयुक्त हैं। इससे सायुज्य मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है।[3] दयानन्द के अनुसार उक्त चारों प्रकार का तथा-कथित मोक्ष रूप आनन्द तो जीव सामान्य जीवन में ही भोग लेता है। तस्मात् तादृश सायुज्य आदि मोक्षों का उनके मत में कोई तात्पर्य नहीं रह जाता है।

---

२. परमसाम्यमुपैति—मुण्डकोपनिषद् ३, १, ३

३. स०प्र० नवम समुल्लास पृ० १६२-६३

मोक्ष के साधन—

महर्षि दयानन्द के अनुसार उपासना को, जो योगदर्शन-समस्त है, को मोक्ष का प्रधान साधन स्वीकार किया गया है। किन्तु उससे पूर्व दयानन्द चार साधन और अनुबन्ध-चतुष्ट्यादि को मोक्ष की पृष्ठभूमि निर्मित करने में सहयोगी साधन स्वीकार करते हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार चार साधन और अनुबन्ध-चतुष्ट्यादि से सम्पन्न व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है।[1]

दयानन्द के अनुसार प्राथमिक चार साधन विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्वादि हैं।

इनमें विवेक के अन्तर्गत मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को सर्व प्रथम सत्पुरुषों के साहचर्य से सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्यादि का निश्चय करना होता हैं। साधक को स्वगत यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हेतु *अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमयादि* पांच कोशों को जानना चाहिए, क्योंकि "इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।" अनन्तर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं को जानने का प्रयत्न चाहिए। इन सभी को जानकर साधक सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर, कारण शरीर और तुरीय शरीरादि के भेद का ज्ञान करना चाहिए।

दूसरा साधन वैराग्य है, जिसमें साधक सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करके पदार्थों के नित्यानित्य प्रकार-भेद को जानता हुआ परमात्मा के अनुकूल आचरण करता है।

---

१. चार साधन, और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये (श्रवण-चतुष्ट्य) कर्म करने होते हैं। इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है।
—स० प्र० नवम समुल्लास पृ० १६१

तीसरा साधन शमदमादि छः प्रकार के कर्म करना षट्कः सम्पत्ति है। आत्मा और अन्तःकरण को धर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना शम कहलाता है। श्रोत्रादि इन्द्रियां और शरीर को व्याभिचारादि बुरे कर्मों से हटा कर शुभ कार्यों में प्रवृत्त करना दम कहलाता है।

दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से अलगाव "उपरति" कहलाती है। निन्दा, स्तुति, हानि, लाभादि में समत्वभाव को "तितिक्षा" सम्पत्ति कहते हैं। वेदादि सत्य शास्त्रों और उनके ज्ञान से पूर्ण आप्त विद्वान् और आप्तोपदेष्टा महर्षियों के वचनों पर विश्वास करना श्रद्धा कहलाती है। चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं।

महर्षि दयानन्द के अनुसार इसके पश्चात् विषय, सम्बन्ध, विषयों तथा प्रयोजनादि अनुबन्ध चतुष्टय का सम्यक् रूपेण अव-बोध करना चाहिए।[1]

दयानन्द के मत में मुमुक्षु को श्रवणादि चतुष्टय का व्यवहार करना चाहिए।[2] विद्वान् के उपदेश को, विशेषतः ब्रह्म-विद्यादि की शान्ति एवं ध्यान देकर सुनना श्रवण कहलाता है। शंकाओं का समाधान और उन विचारों का एकाग्रचित्त से विचार करना मनन जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह हो जाय, तब समाधिस्थ होकर उन बातों को देखना, समझना और श्रुत और विचारित का ध्यान-योग से परीक्षण निदिध्यासन तथा पदार्थ के जैसे स्वरूप गुण और स्वभाव हो वैसा याथातथ्य जान लेना साक्षात्कार कहलाता है। यही श्रवणादि चतुष्टय हैं।

उसके अनन्तर महर्षि दयानन्द मोक्ष प्राप्ति हेतु उपासना को योगसम्मत विस्तृत व्याख्या करते हैं। दयानन्द सम्मत उपासना कर्मयोग, तत्व, विवेचन अर्थात् ज्ञान योग और परमभक्ति की सम-

---

१. स०प्र०, नवम समु० पृ० १६१. २. पूर्वोक्तेव पृ० १६१-६२

न्वित अवस्था का एक सुन्दर स्वरूप है।[3] उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होता है।[4] यह सामीप्य स्तुति, प्रार्थना तथा अन्य योगाभिहित साधनों के द्वारा ही गम्य है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार उपासना काल में चित्त-वृत्ति-निरोध परमावश्यक है, इसके द्वारा चित्त सभी दुष्ट व्यक्तियों से हट कर शुभ गुणों में संस्थित होता हैं। जैसे जल के प्रभाव को एक ओर से दृढ़ बांध कर रोक देने से, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चलकर कहीं स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है।[5]

मन की क्लिष्ट, विषयासक्त और परमेश्वर की उपासना से विमुख करने वाली पांच प्रकार की प्रमाण, विपर्यय-विकल्प, निद्रा एवं स्मृति वृत्तियां होती हैं।[1]

इसके अतिरिक्त उपासना योग के व्याधिस्त्यान (सत्य कर्मों में अप्रीति), संशय, प्रमाद आलस्य, अविरित, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व (अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना) एवं अनवस्थित्व चित्त का अस्थैर्य) आदि नौ प्रकार के विघ्न हैं।[2] इनके छोड़ने का एकमात्र उपाय अद्वितीय ब्रह्मतत्व है, उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञा का पालन करना पुरुषार्थ हैं। वही इन विघ्नों के नाश

---

३. मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है; इसलिए जो विद्वान लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदय में व्याप्त ईश्वर को, उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं।

—ऋग्वेदादिभाष्य. पृ० १८४

४. सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास पृ० १२२।

५. तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् । योगसूत्र पर-"यदा सर्वस्मात् व्यवहारान्मनोवऽरोध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितं लभते। (अ० पृ० १८५)

करने का वज्ररूप अस्त्र है । अर्थात् उक्त सभी प्रकार के विघ्न उपासना के द्वारा दूर होते हैं ।

महर्षि दयानन्द के द्वारा उपासना के योगदर्शन में समस्त आठ प्रकार के अंग माने गये हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय तथा ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त होता है।[3] ये हैं अष्टांग—यम, नियन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं।[4]

१. **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह भेद से पांच प्रकार का होता है।[5] सर्वप्रकारेण सब कालों में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़कर प्रेम-भाव का व्यवहार करना "अहिंसा" है। इससे वैरभाव का त्याग होता है। यथार्थ बोलना और सुनना और स्वीकारना "सत्य" है। इससे फलरूप में जो जो काम करना चाहता है, वे सब हो जाते हैं। किसी अन्य के पदार्थ पर अवैधरूप आधिपत्य न करना "अस्तेय" है। इसके परिणाम स्वरूप सभी उत्तम-उत्तम पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं। कामेन्द्रियसंयम-'ब्रह्मचर्य' है। इस यम के द्वारा बल और बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। लिप्सा प्रेरित भोग सामग्री का अतिशय अर्जन न करना "अपरिग्रह" है। इससे शुभ गुणों का विचार मन में स्थिर होता हैं।

वृत्तय: पंचतय:–१. प्रमाणविर्ययविकल्पनिद्रा स्मृतय:, २. तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाप्रमाणानि । ३. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्, ४. शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प:, ५. अभावप्रत्ययासम्वना वृत्तिनिद्रा, ६. अनुभूत विषयासंप्रमोष: स्मृति:— योसूत्र १,१,५,११

२. व्याधिस्त्यानसंशय-प्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध—
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते-अन्तराया: ।
—योग सूत्र १. १. ३०

२. नियम—उपासना का दूरा नाम या अंग 'नियम' है। यह भी शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान रूप पांच प्रकार का होता है।[5] अन्तर और वाह्य स्वच्छता 'शुचि' है। फलस्वरूप अन्तःकरण को शुद्धि, मन प्रसन्न और एकाग्र होता है। और साथ ही, आत्मानुभव की योग्यता आती है। निरालस्य धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न रहना तथा दुःख में शोकातुर न होना 'संतोष' है। इससे जो सुख मिलता है वह सर्वोत्तम है। आत्मा और मन को धर्मार्थचरण तथा शुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्गत करना 'तप' है। इससे शरीर एवं इन्द्रियाँ अशुद्धि के कारण क्षीण होने से बचे रहने के कारण दृढ़ होकर सदा रोगरहित होती है। मोक्ष विद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना, पढ़ाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना, कराना "स्वाध्याय" कहलाता है। इससे परमात्मा के साथ सम्प्रयोग, तदनुग्रह का प्रतिवेदन, आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण पुरुषार्थ व प्रेम का सम्प्रयोग होता है। तस्माद् मुक्ति की उपलब्धि शीघ्र होती है।

सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना "ईश्वरप्रणिधान" है। इससे साधक सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है।

आसन—सुखपूर्वक शरीर और आत्मा के स्थैर्य को 'आसन' कहते हैं।[6] ये पद्मासन, वीरासन, दण्डासन प्रभृति अनेक हैं।

---

३. उपासनायोगांगानामनुष्ठानाधारणदर्शाविधरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्योविन्मोक्षप्राप्तिर्भवति।
(ऋग्वेदादि० पृ० १६३)

४. यमनियमप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-अष्टा अंगानि
(योगसूत्र १, २, २६)

५. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।—योगसूत्र २, २, ३०

६. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः।
(पूर्वोक्तेव १, २, २३)

दयानन्द कहते हैं कि सुखानुरूप आसन करना चाहिए। दृढ़ आसनावस्था में साधक को शीतोष्णादि बाधा नहीं देते।

३. **प्राणायाम**—श्वास-प्रश्वास की गति का निरोधक जब ज्ञान के द्वारा किया जाता है तो उसे 'प्राणायाम' कहते हैं।[7] उसे चार प्रकार का माना गया है। बहिर्निर्गत प्रश्वास का निरोध 'बाह्य प्राणायाम' होता है। अन्तः प्रविष्ट श्वास का तत्रैव निरोध 'आभ्यन्तर प्राणायाम' कहलाता है और न प्राण को बाहर निकाले तथा न भीतर ले जाये प्रत्युत जितनी देर सुखपूर्वक हो सके ज्यों का त्यों वहीं रोक दे, वह 'स्तम्भ प्राणायाम' है और चतुर्थ (बाह्याभ्यन्तरापेक्षी प्राणायाम' वह है जब प्रश्वांस बाहर को आये तथा बाहर को कुछ रोके और जब भीतर को जाये तो भीतर ही रोके।

४. **प्रत्याहार**—इन चारों प्रकार के अनुष्ठान से चित्त निर्मल होता है। आत्मा के ज्ञान का आवरक अज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश शनैः-शनैः प्रवृद्ध होता है।[1] तथा अनुष्ठाता के मन की ब्रह्म ध्यान विषयक सम्यक् योग्यता बढ़ती है।[2] जब उपासक चित्त को जीत लेता है तो वह चित्त परमात्मा की स्मृति के अन्यत्र कुत्रापि नहीं जाता। उसकी इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों में निरुद्ध हो जाती हैं तो उपासना का 'प्रत्याहार' अंग होता है।[3] अभिप्राय यह है कि उपासक के चित्त और इन्द्रियां उसके स्वाधीन हो जाती हैं। प्रत्याहार की अवस्था में ज्ञान हो जाने से उपासक को सत्य में ही प्रीति होती है, असत्य में नहीं।

---

७. तत्र स्थिरसुखमासनम। (योगसूत्र १, २, ४६)

८. तस्मिन्प्रतिश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः —पूर्वोक्तेव १, ,४९

---

१. ततः क्षीयते प्रकाशवरणम्। —पूर्वोक्तेव १. २, ५२

२. प्राणायाम-अनुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति। —ऋग्वेदादि० पृ० २००

३. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणाँ प्रत्याहारः। (योगसूत्र १. २. ५४

५. धारणा—चित्त के चाँचल्य को समाप्त करके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका, और जिह्वा के अग्रभाग आदि देशों पर स्थिर करके ओंकार का जप और उसका विषय, जो परमात्मा है उसका विचारकरना 'धारणा'[4] कहलाता है। वस्तुतः धारणा पूर्वोक्त पाँच अंगों के सिद्ध हो जाने पर स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

६. ध्यान—धारणाभिहित देशों में से किसी एक देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द से, अत्यन्त विचार और प्रेमभक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना यादृशी कोई नदी समुद्र में गिरती है तव ईश्वरातिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का स्मरण न करना, मात्र उस परमात्मा में ही एकमात्र ध्यानावस्थित रहना "ध्यान" कहलाता है।[5]

७. समाधि—उपर्युक्त सात अंगों का फल 'समाधि' होता है। समाधि उपासक की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वह अपने शरीर को भी भूला हुआ सा परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था में एकमात्र आत्मसंयुक्त ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। ममत्व, परत्व एवं जागतिक आभास, सभी तुच्छ हो जाते हैं। किसी भी प्रकार की लिप्तता का आभास साधक अनुभव नहीं करता।

इस उपासनायोग को प्राप्ति साधक तभी करने में समर्थ होता है जब वह धर्माचरण किंवा सदाचरण करता है। अन्यथा दुष्टकर्मों में लिप्त होने से उपासक को वह एकाग्रता उपलब्ध ही नहीं हो पाती, जो अनन्यानन्दपरक होती है। इसीलिए यमनियमादि

---

४. देशवन्धश्चित्तस्य धारणा। (पूर्वोक्तेव ३. १)

५. तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्। (पूर्वोक्तेव ३. २)

के अन्तर्गत आत्मनिग्रह को आवश्यकता पर बल दिया गया है। सभी अंगों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है और देहपा-तान्तर मोक्ष को प्राप्त करता है।

महर्षि दयानन्द ने उपासना के दो प्रकार बताये हैं[1]—सगुणो-पासना तथा निर्गुणोपासना। ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सर्वव्याप्त, सर्वाधार, कल्याणपरक, सर्वद्रष्टा, सर्वेश्वर इत्यादि सत्यगुणों की ज्ञान पूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं। उस परमात्मा को अजन्मा, निराकार, निराकार, अशरीरी, शब्दस्पर्शगन्धादिविरहित, संख्यातीत, परि-माणभारातीतादि राहित्यपरक मानकर स्मरण करने को निर्गुणो-पासना कहते हैं।

इस प्रकार की परमात्मा की उपासना के द्वारा, दयानन्द के अनुसार, अविद्यादि क्लेश तथा अधर्माचरण को विनिवृत्ति से शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभगुणों के आचरण से आत्मा को उन्नत करके उपासक मोक्ष को प्राप्त होता है।[2]

अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत मुक्तिवाद का खण्डन—

वेदान्त दर्शन में जीव का ब्रह्म से सर्वथा अभेद सम्बन्ध है। दोनों के अभेद सम्बन्ध को—एकमेवाद्वितीयम्—इत्यादि श्रुतियों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। उन दोनों के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि घटाकाश और महाकाश के मध्य है। घट के अन्दर का आकाश और घट के बाहर का आकाश एक ही है किन्तु घट की उपाधि के कारण वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते

---

१. सेयं तस्यपरमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एक सगुणा, द्वितीया निर्गुणा चेति। (ऋग्वेदादि० पृ०२०५)

२. एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्याधर्माचरण निवारणाच्छुद्ध—विज्ञान धर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवोमुक्ति प्राप्नोति इति। —वही०पृ०२०७

हैं। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही है किन्तु शरीर, मन और ज्ञानेन्द्रियों की उपाधि के कारण वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। आत्मा का कर्तृत्व भी मात्र अविद्यावशात् है। उसका कर्तृत्व तब एक ही उद्भासित होता है जब तक कि अविद्या के कारण द्वैत से सम्बन्ध रहता है। आत्मा का कर्तृत्व केवल व्यवहारिक रूप से ही सत्य है। प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं तो जागतिक बन्धन क्यों होता है; अद्वैतवादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अविद्या के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल बैठता है। जीव यद्यपि स्वयं ब्रह्म है किन्तु अनादि अविद्या के कारण वह उस परम सत्य को विस्मृत कर बैठता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियां समझने लगता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही हैं, कहीं बाहर नहीं। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं। अतएव बन्धन केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। पारमार्थिकरूपेण तो जीव ब्रह्म ही है। इसी कारण अद्वैत मत में इसी बात पर बल दिया गया है कि मुक्ति की प्राप्ति बाह्य जगत् के किन्हीं पदार्थों के रूपान्तरण का परिणाम न होकर प्रत्युत अपने पारमार्थिक स्वरूप को और अविद्या-जनित् वाह्य जगत् के मिथ्यात्व को समझ लेना ही है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तान्तर्गत मोक्ष का साधन एकमात्र ज्ञान ही है। अर्थात् इस बात के ज्ञान का उद्भव होना ही है कि वह नितान्त रूपेण ब्रह्म ही है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प भ्रम के निराकृत हो जाने से ज्ञाता को किसी नवीन पदार्थ या बात की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार जगत् भ्रम के निराकृत होने से किसी नवीन पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अपने पारमार्थिक स्वरूप की ही उपलब्धि होती है। इस प्रकार अद्वैत मत में मोक्ष किसी नवीन वस्तु की उपलब्धि नहीं हैं।

शंकर के मत में ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है। इतना ही नहीं प्रत्युत सर्वोच्च ज्ञान स्वयं में मोक्ष ही है। ज्ञान और कर्म में वैसा ही विरोध है जैसाकि प्रकाश और अन्धकार में।

पुण्य और पाप कर्मों का फल क्रमशः सुख व दुःख है। किन्तु, आत्म-ज्ञान का फल मोक्ष है। यद्यपि कर्म और भक्ति उस ज्ञान की पृष्ठभूमि का निर्माण करते है किन्तु उनमें भी अज्ञान का समावेश होता है अतः एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। क्योंकि भ्रम जगत् भ्रम कर्म या भक्ति द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, वह तो एकमात्र ज्ञान से ही निराकरणीय है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि अद्वैत मत में मोक्ष किसी नवीन पदार्थ या सत्ता की उपलब्धि नहीं हैं, प्रत्युत अपने यथार्थ स्वरूप का उद्बोधनमात्र है। अतएव ज्ञान के द्वारा अज्ञान का उच्छेदन ही मोक्ष है क्योंकि जीव इस अज्ञान से पूर्व ब्रह्म ही था, किन्तु माया के कारण वह अपने इस यथार्थ स्वरूप को भूल गया था और अपने को शरीर, मन, ज्ञाने-न्द्रियां आदि समझने लगता है। ऐसे अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर जो स्वरूपोद्बोधन होता है, वही मोक्ष है।

शंकर का विचार है कि कर्म से मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म का फल किसी वस्तु की उत्पत्ति होती या अपने परिणाम के द्वारा किसी वस्तु में विकार उत्पन्न करना होता है। शंकर इस बात का निषेध करते हैं कि नित्य मोक्ष कर्म एक अनित्य कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता। मोक्ष किसी पदार्थ का विकार ही नहीं है क्योंकि विकार होने से वह नित्य नहीं हो सकता क्योंकि जगत् में देखा जाता है कि वैकारिक पदार्थ नित्य नहीं हुआ करते। जिस प्रकार दूध का विकार दधि नित्य नहीं हुआ करता। शंकर के अनुसार भक्ति और कर्म के द्वारा सगुण ब्रह्म की प्राप्त हो सकता है। परमतत्व उपलब्ध कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वे मिथ्या जगत के ही एक अंग हैं, जो सावधिक विपाक मात्र रखते हैं। तत्-परिणामों में अक्षुणता का सर्वथा अभाव होता है। परमतत्व ज्ञानस्वरूप मात्र है। "तस्मात्"......ऋते ज्ञानात् न मुक्ति"।

नैषकर्म्यसिद्धिकार ने कहा है कि जव जीव शारीरिक साधनों के प्रति अजग एवं अहंरहित, जोकि शारीरिक बन्धनों के कारण

है, हो जाता है तो ज्ञानोत्पन्न होता है क्योंकि सिंह और मेघ की भांति ज्ञान और कर्म एकमात्र नहीं रह सकते ।[1]

आचार्य रामानुज—

रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्म में कदापि साम्य नहीं है। रामानुज के मतानुसार यद्यपि जीव ब्रह्म का ही अंश है, या उसका विशेषण है, तथापि वह अपने अंशों या विशेष्य के समान नहीं है। वह उसमें अभिन्न होकर भी अपने स्वरूप से उससे भिन्न है। इसलिए मोक्ष कोई ज्ञानावस्था कोई विशेषण न होकर एक सहज उपलब्धि है जो विचित्र प्रयासों के अनन्तर उपलब्ध होती है। रामानुज और दयानन्द दोनों ने जीव के कर्तृत्व को सत्य माना है। हाँ, वे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि गुण अनित्य तो अवश्य है किन्तु संसरण या जागतिक सम्बन्धता में वे सर्वथा जीव के कर्म हैं। इसलिए रामानुज और दयानन्द दोनों दार्शनिक कर्मों की शुद्धता पर भी उतना ही बल देते हैं जितना की मोक्ष के लिये ज्ञानोपलब्धि पर। रामानुज के अनुसार जहां कर्म और ज्ञान मोक्ष को साधनभूतता के अंग हैं, वहां भक्ति, जो इन दोनों के परिणाम स्वरूप अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है, भगवत्प्राप्ति में एकमात्र साधन होती है। रामानुज की भक्ति केवल भावुक मन की उड़ान या समत्वता का उन्माद नहीं है। रामानुज के अनुसार वह ज्ञानावस्था का सर्वोत्तम स्वरूप है, जिसके उपरान्त जीवात्मा सबके अनित्यत्व और अपरमार्थित्व को समझता हुआ, एकमात्र परमात्मा को सारभूत और अपना संलक्ष्य मानता है और उसके चरणों में अवनत होकर किंकरमात्र से उसके समक्ष उपस्थित होकर उसकी प्रसादरूप कृपा की कामना करता है। रामानुज ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष ज्ञानमात्र नहीं मानते। उनके मतानुसार परमात्मा हेय प्रयत्नीक होकर असंख्य कल्याणगुण

---

१. वाध्यावाधकभावाच्च पन्चास्योरणयोरिव ।
एक देशानवस्थान्त समुच्चयता तयोः ॥ —१/५५ नैष्कर्म्यसिद्ध

गणाकर है। अतः उस परमात्मा की उपलब्धि में वे परमात्मा की कृपा की अपेक्षा करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि शंकराचार्य का ब्रह्म एकमात्र जीवात्मा के प्रयत्नानन्तर लब्ध ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त है किन्तु रामानुज की दृष्टि में मोक्ष या प्राप्ति भगवत्कृपा पर भी उतनी ही आश्रित है[1] जितनी कि जीवात्मा के द्वारा उसके लिए किये गये प्रयासों पर आश्रित है परमात्मा अपनी कृपा के द्वारा मुमुक्षु को उपाय बुद्धि प्रदान करते हैं।

रामानुज का विचार हैं कि प्रथम तो निर्विशेष ब्रह्म किसी भी प्रकार हमारे ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता क्योंकि अनुभूति कदापि निर्विषया नहीं हो सकती। अतः परब्रह्म को एकमात्र ज्ञानस्वरूप है किस प्रकार हमारे ज्ञान का विषय बन सकता है। शंकर द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड का प्रपंच बताकर मिथ्या की संज्ञा दे देने से सभी शास्त्रादि को मिथ्या कर दिया गया है। तस्मात् शंकराभिमत तत्वमसि और अहंब्रह्मास्मि आदि श्रुतिपरक वचन को, जिन्हें वे जीव और ब्रह्म की अभेदता के ज्ञान की निष्पत्ति में एक बहुत बड़ा योगदानी मानते हैं, किस प्रकार मात्र शब्दार्थ ज्ञान से मोक्ष के प्रदाता हो सकते हैं; वाक्यार्थ ज्ञान से कथमपि अज्ञान निवारण और उस तथाकथित अज्ञाननिवारण से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। रामानुज कहते हैं कि वाक्य का वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ब्रह्म भाव की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसा देखा भी नहीं जाता। बड़े-बड़े वाच्यार्थ ज्ञानियों में भी भेद दर्शन की अनुवृत्ति बनी ही रहती है, यदि वाच्यार्थ ज्ञानमात्र से ब्रह्म भाव की सिद्धि सम्भव भी हो जाये तो श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय विधि व्यर्थ हो जायेगी। अतएव तत्वमसि प्रभृति वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से बन्धन मुक्ति नितान्त असम्भव हैं। यद्यपि मिथ्यात्व बन्धन ज्ञान के द्वारा ही बाध्य है किन्तु बन्धन अपरोक्ष है, परोक्ष रूप वाक्यार्थ ज्ञान से यह निवार्य

१, एकमेवेप संप्रसादो तस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिंष्पद्यते। ४, ४, २

नहीं है। रज्जु आदि में प्रत्यक्ष सर्पभय होता है। "यह सर्प नहीं रज्जु है" ऐसे प्रामाणिक व्यक्ति के कथन मात्र से भय की निवृत्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि भीत व्यक्ति के समक्ष तो सर्प की ही प्रवृत्ति रहती है। उक्त आप्तवाक्य तो अप्रत्यक्ष सर्प का विपरीत ज्ञानमात्र ही है। भय की निवृत्ति कारण प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु के यथार्थ ज्ञान पर आश्रित होता, जैसे कि रज्जु को सर्प मानकर भय-भीत पीछे हटा हुआ व्यक्ति "यह सर्प नहीं रज्जु है"। आप्तपुरुष के कथन के वस्तु को यथार्थ रूप मे देखने को प्रवृत्त होता है उसको भलिभांति देख कर ही भय से निवृत होता है, केवल कथन मात्र से नहीं। इसलिए शब्द को भी प्रत्यक्ष ज्ञान का उत्पादक नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय तत्व है, जबकि जितने भी ज्ञान के साधन उनमें केवल इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन हैं। निष्काम कर्मानुष्ठान से निर्मल मन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन से विषय पराङ्मुख पुरुष का ज्ञान भी वाक्याथमात्र से ही हो सकता है।[2] रामानुज का मत है कि जगत् भी उतना ही सत्य है जितना जीवात्मा। दोनों ही उस अखण्डेकरस परमात्मा के प्रकार या अंश हैं। तस्मात् दोनों की उस प्रकारीवत् सत्य हैं। अतएव अज्ञान जगत् का नहीं है। अज्ञान से कर्मासक्ति होती है। इसलिए यदि जीवात्मा कर्म और कर्मभोगों के अयाथार्थ्य को यदि समझ लेता है और उन्हें अनासक्त भाव से सम्पादित करता है तो उसके मानस में प्रारब्ध के द्वारा सम्भूत अज्ञानात्मक एवं सम्मोहात्मक राजस् और तामस् गुणों का उच्छेद होने से सत्वगुणोद्रिक होगा और उसको जगत् के अपरमार्थता का ज्ञान तथा परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध का बोध करायेगा। इस ज्ञान और बोध के अनन्तर जीवात्मा उस एक-मात्र अपने संलक्षाभूत परमात्मा के प्रति समर्पित हो सकता है। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और समर्पणमूलक भक्तियोग के समन्वय के बिना कथमपि मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं।

---

१. न च वाक्यात् वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्म–भावसिद्धिः अनुपलब्धे विविधभेददर्शनानुवृत्तेश्च। —श्रीभाष्य १, १, ४

२. पूर्वोक्तेव—श्रीभाष्य १, १, ४

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष किसी नवीन वस्तु की अवस्था की उपलब्ध नहीं माना गया है किन्तु रामानुज इस सिद्धान्त से विरोध रखते हैं। उनके मतानुसार परमात्मा का प्रकारभूत जीव कर्मों के व्यूह में फंसने के कारण अपनी उक्त परमार्थता को खो बैठता है। उसकी उपलब्धि उसकी परम सुगमता एवं त्रिगुणमूलक जगत् से व्यतिरिक्त होने से एक अपूर्वावस्था की उपलब्धि मानी जायेगी।

शंकर वेदान्त में जिस अविद्या निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है उसके विषय में रामानुज और उनके अनुयायियों ने अनेक प्रकार की शंकायें प्रकट की हैं। अद्वैतमत में जहां जीवब्रह्मैक्यवाद स्वीकार किया, जीवैक्यवाद भी माना गया है क्योंकि एक ही ब्रह्म अविद्या के कारण समस्त शरीरों में अन्त:करणावच्छिन्न होकर विचरण कर रहा है। अद्वैतवादी मानते हैं कि उस विद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। इस पर रामानुज विप्रतिपत्ति करते हुए प्रश्न करते हैं कि जब तो एक के मुक्त होने पर अन्यों की भी मुक्ति होनी चाहिए; और यदि यह कहा जाये कि अन्यों के मुक्त न होने के कारण अविद्या बनी रहती ह तो इस पर रामानुज आपत्ति करते हैं कि तव तो एक की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि वन्ध का मूलभूत कारण अविद्या बनी हुई है।[1]

यदि यह कहें कि प्रत्येक जीव विद्या पृथक् पृथक् है, जिसकी अविद्या का नाश होगा, वह मुक्त होगा और जिसकी बनी रहेगी, वह वद्ध रहेगा, तो इस पर प्रष्टव्य है कि इस प्रकार का भेद स्वाभाविक है या कल्पित; यदि यह कह जाये कि भेद स्वाभाविक है जीवों के भेद के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायेगी, इस भेद की कल्पना करने वाली अविद्या कल्पित है तो प्रश्न उठता है कि इस भेद की कल्पना करने वाली अविद्या

---

१. तर्हि एकस्यापिमुक्ति न स्यात् अविद्याया अविनष्टत्वात्।
—श्रीभाष्य २. १. १५

ब्रह्म को है या जीवों की, यदि ब्रह्म की है तो पुनः एक अविद्या के विनाश के अनन्तर सब की मुक्ति होनी चाहिये और यदि यह कहा जाये कि जीवोंकी है तो जीव अविद्या का आश्रय बनता है। जबकि जोव स्वयं अविद्या के होने पर बनता है इस प्रकार न्यो-न्याश्रय दोष होगा।[2] अद्वैत वाद के अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्ष विषयक न्याय सिद्धान्तकार दोषों को गति देते हुए प्रश्न किया है - यदि समस्त भ्रमों अर्थात् अविद्या का उच्छेदन भी मोक्ष है तो वह उच्छे-दन भ्रम से सिद्ध होता है या प्रमा से:

यदि समस्त भ्रमों का उच्छेद भ्रम से सिद्ध मानते है तो वह भी भ्रम होने के कारण अयुक्तियुक्त अर्थात् परमार्थ रूप से उच्छेद होगा ही नहीं[3] और यदि उस उच्छेद को प्रमा सिद्ध माने तो उच्छे-रूप में अयथार्थ भी सत्य होगा और उस अवस्था में एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानने वाला अद्वैत मत ही नष्ट हो जायेगा।[4] साथ में यदि प्रमात्मज्ञ ज्ञान से भ्रमपरिकर रूप अविद्या का उच्छेदन होता है तो वह उच्छेद का हेतु प्रमात्मक ज्ञान सप्रकारक होगा, क्योंकि ब्रह्म स्वरुप के समान निष्प्रकारक ज्ञान से भ्रमपरिकर का उच्छेद हो ही नहीं सकता। यदि हो सकता हैं तो निष्प्रकारक ब्रह्मस्वरुप भूतज्ञान से परिकर का उच्छेद पहले से ही हो गया होता। और यदि सप्र-कारक ज्ञान से उच्छेद स्वीकार करे तो सद्विषयक ब्रह्म भी सधर्मक होगा, जैसा कि अद्वैतमत समर्थक अर्थात् सविशेष ब्रह्म स्वीकार करने को कदापि तत्पर नही।

जीवन-मुक्ति का खण्डन—

अद्वैतवादी मतानुसार वाक्यार्थ ज्ञान द्वारा भ्रमपरिकर के

---

१. भेदसिद्‍यथस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्। -पूर्वोक्तेव
२. इतरेतराश्रयत्वम्। —पूर्वोक्तेव।
३. भ्रान्त्या सर्वसमुच्छेदे नोच्छेदस्तत्वतो भवेत्। जीव परिच्छेद न्यायसिद्धा०पृ०२८३
४. प्रमया त्वयसिद्धान्ताद्वैतभंगादिसम्भवः। पूर्वोक्तेव।

समूलोच्छेद हो जाने पर मोक्ष शरीर रहते हुए भी प्राप्तव्य है। उस जीवन मुक्ति की अवस्था में मोक्ष का शरीर की उपस्थिति के साथ कोई भी विरोध नहीं है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। अद्वैत-मतानुसार जीवात्मा द्वारा ब्रह्म के साथ अपने अभेद का ज्ञान ही मोक्ष है। उसके लिए देहपात की अपेक्षा अनिवार्य नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शरीर रहता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। वह शरीरधारी जीवात्मा संसार के प्रपंच में नहीं पड़ता, न उसे मोह बाधा देता है और न शोक उसे अभि-भूत करता है। सुख-दुःख, जय-पराजय सभी जागतिक संगात्मक भावों के प्रति समभाव उचित हो जाता है। संसार की सत्ता उसके जीवन में अवश्य रहती है किन्तु वह उसके विषयों से सम्पृक्त नहीं होता। संसार की अनुवृत्ति होती है किन्तु वह बाधित सब में ही होती है। तत्वज्ञान के द्वारा संचित कर्म का नाश तथा संचीय-मान या क्रियमान कर्मों का निवारण हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश भोग अपेक्षा रखता ह तत्भोगान्तर जब प्रारब्ध की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तो अनन्तर देहपात होने पर जीवात्मा पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु रामानुज अद्वैत वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का सशक्त तर्क से खण्डन करते हैं। उनका मन्तव्य है कि जब तक देहपात नहीं होता तब तक मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं हैं क्योंकि शरीरत्व ही बन्ध है।[1] कर्म रूप अविद्या से प्राप्त शरीर-संसर्ग का विनाश हुए बिना मुक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। रामानुज का कथन है कि आत्मा का सशरीरी रहते हुए मुक्त हो जाना स्वतो व्याघाती है, क्योंकि बन्ध का तात्पर्य ही आत्मा का शरीर के साथ संसर्ग या सम्बन्ध होना है। मोक्ष का तात्पर्य है उस शरीर रूप बन्धन से सम्बन्ध विच्छेदन। अतः यह कहना कि मैंने जीवन-मुक्ति प्राप्त

१. यतः सशरीरत्वं बन्धः।—श्रीभाष्य १. १. ४

ब्रह्म को है या जीवों की, यदि ब्रह्म की है तो पुनः एक अविद्या के विनाश के अनन्तर सब की मुक्ति होनी चाहिये और यदि यह कहा जाये कि जीवोंकी है तो जीव अविद्या का आश्रय बनता है। जबकि जोव स्वयं अविद्या के होने पर बनता है इस प्रकार न्यो-न्याश्रय दोष होगा।[2] अद्वैत वाद के अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्ष विषयक न्याय सिद्धान्तकार दोषों को गति देते हुए प्रश्न किया है - यदि समस्त भ्रमों अर्थात् अविद्या का उच्छेदन भी मोक्ष है तो वह उच्छे-दन भ्रम से सिद्ध होता है या प्रमा से:

यदि समस्त भ्रमों का उच्छेद भ्रम से सिद्ध मानते है तो वह भी भ्रम होने के कारण अयुक्तियुक्त अर्थात् परमार्थ रूप से उच्छेद होगा ही नहीं[3] और यदि उस उच्छेद को प्रमा सिद्ध माने तो उच्छे-रूप में अयथार्थ भी सत्य होगा और उस अवस्था में एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानने वाला अद्वैत मत ही नष्ट हो जायेगा।[4] साथ में यदि प्रमात्मज्ञ ज्ञान से भ्रमपरिकर रूप अविद्या का उच्छेदन होता है तो वह उच्छेद का हेतु प्रमात्मक ज्ञान सप्रकारक होगा, क्योंकि ब्रह्म स्वरुप के समान निष्प्रकारक ज्ञान से भ्रमपरिकर का उच्छेद हो ही नहीं सकता। यदि हो सकता हैं तो निष्प्रकारक ब्रह्मस्वरुप भूतज्ञान से परिकर का उच्छेद पहले से ही हो गया होता। और यदि सप्र-कारक ज्ञान से उच्छेद स्वीकार करे तो सद्विषयक ब्रह्म भी सधर्मक होगा, जैसा कि अद्वैतमत समर्थक अर्थात् सविशेष ब्रह्म स्वीकार करने को कदापि तत्पर नही।

जीवन-मुक्ति का खण्डन—

अद्वैतवादी मतानुसार वाक्यार्थ ज्ञान द्वारा भ्रमपरिकर के

---

१. भेदसिद्ध्यथस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्। -पूर्वोक्तेव
२. इतरेतराश्रयत्वम्। —पूर्वोक्तेव।
३. भ्रान्त्या सर्वसमुच्छेदे नोच्छेदस्तत्वतो भवेत्। जीव परिच्छेद न्यायसिद्धा०पृ०२८३
४. प्रमया त्वयसिद्धान्ताद्वैतभंगादिसम्भवः। पूर्वोक्तेव।

समूलोच्छेद हो जाने पर मोक्ष शरीर रहते हुए भी प्राप्तव्य है। उस जीवन मुक्ति की अवस्था में मोक्ष का शरीर की उपस्थिति के साथ कोई भी विरोध नहीं है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। अद्वैत-मतानुसार जीवात्मा द्वारा ब्रह्म के साथ अपने अभेद का ज्ञान ही मोक्ष है। उसके लिए देहपात की अपेक्षा अनिवार्य नहीं है। मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शरीर रहता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। वह शरीरधारी जीवात्मा संसार के प्रपंच में नहीं पड़ता, न उसे मोह बाधा देता है और न शोक उसे अभि-भूत करता है। सुख–दुःख, जय-पराजय सभी जागतिक संगात्मक भावों के प्रति समभाव उचित हो जाता है। संसार की सत्ता उसके जीवन में अवश्य रहती है किन्तु वह उसके विषयों से सम्पृक्त नहीं होता। संसार की अनुवृत्ति होती है किन्तु वह बाधित सब में ही होती है। तत्वज्ञान के द्वारा संचित कर्म का नाश तथा संचीय-मान या क्रियमान कर्मों का निवारण हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश भोग अपेक्षा रखता ह तत्भोगान्तर जब प्रारब्ध की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तो अनन्तर देहपात होने पर जीवात्मा पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु रामानुज अद्वैत वेदान्त के उक्त सिद्धान्त का सशक्त तर्क से खण्डन करते हैं। उनका मन्तव्य है कि जब तक देहपात नहीं होता तब तक मोक्ष कथमपि सम्भव नहीं हैं क्योंकि शरीरत्व ही बन्ध है।[1] कर्म रूप अविद्या से प्राप्त शरीर-संसर्ग का विनाश हुए बिना मुक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती। रामानुज का कथन है कि आत्मा का सशरीरी रहते हुए मुक्त हो जाना स्वतो व्याघाती है, क्योंकि बन्ध का तात्पर्य ही आत्मा का शरीर के साथ संसर्ग या सम्बन्ध होना है। मोक्ष का तात्पर्य है उस शरीर रूप बन्धन से सम्बन्ध विच्छेदन। अतः यह कहना कि मैंने जीवन-मुक्ति प्राप्त

---

१. यतः सशरीरत्वं बन्धः।—श्रीभाष्य १. १. ४

कर ली है, "मेरी माता वन्ध्या है" कहने के तुल्य है।[2] यदि कहा जाय कि जीवन-मुक्ति का तात्पर्य तो सशरीरपात की समाप्ति—इस अर्थ में हो जाता है कि जीवात्मा शरीर धारण किये होकर भी उसे उस शरीर के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है।[1] इस पर रामानुज कहते हैं कि "नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं हैं क्योंकि शरीर मिथ्या है"—ऐसे ज्ञान से ही सशरीर की निवृत्ति कैसे हो सकती है; मृत को मुक्ति भी मिथ्यामय शरीरत्वाभिमान की निवृत्ति हो है। इस प्रकार अद्वैतीय जीवन्मुक्ति के और शरीर के मिथ्यात्व से मुक्त मृत जीवात्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यदि कहा जाय कि जिसको सशरीरत्व की प्रतीति बाधित होते हुए भी द्विचन्द्र के ज्ञान की भाँति अविप्लुत भाव से रहती है, वही जीवन-मुक्त है।[2] तो ऐसा कहना भी निरापद नहीं क्योंकि बाधक ज्ञान ब्रह्म से अतिरिक्त सभी विषयों से सम्बद्ध होता है। शरीरत्व की प्रतीति और उसकी हेतु भूता अविद्या के कर्मादि दोष भी उस ज्ञान से बाधित होने चाहिए। इसलिए शरीरत्व की प्रतीति को द्विचन्द्र ज्ञान की तरह अनुकृत नहीं कह सकते।[3] क्योंकि द्विचन्द्र का हेतु भूत दोष अपने बाधक द्विचन्द्रकला के ज्ञान का विषय न होने से बना रहता है और उसकी अनुवृत्ति बनी रहती हैं किन्तु आपके मत में तो शरीरत्व और सशरीरत्व मिथ्याज्ञान दोनों ही एक साथ बने रहते हैं। अतः उक्त अवधारणा में युक्तियुक्त नहीं है।

---

२. सशरीरेव मोक्ष इति चेत् "माता में वन्ध्या" इति वदसंगतार्थवच:
(श्रीभाष्य १. १. ४)

---

१. अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमाने यस्यायंप्रतिभासो मिथ्येति प्रत्यय: तस्य सशरीरस्य निवृत्तिरोति। (श्रीभाष्य १, १, ४)
२. अथ सशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञानवदनुवर्तते, स जीवन्मुक्त इति चेत्। (पूर्वोक्तेव)
३. कारणभूताविद्या कर्मादिदोष: सशरीरत्व प्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इतिबाधितातानुवृत्तिर्नशक्यते वक्तुम्।

रामानुज का विचार है कि जीवन्मुक्ति का सम्प्रत्यय न केवल अयुक्तियुक्त प्रत्युत श्रुति विरोध भी रखता है क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने के लिए श्रुतियों में कहा गया है कि जब तक रुकना पड़ता हैं जबकि उसके शरीर का पतन नहीं हो जाता। छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्टरुपेण कहा गया है कि "इस लोक में आचार्य पुरुष ही सत् का ज्ञाता है।" उसके लिये मुक्त होने में उतने समय का ही विलम्ब है, जितने समय तक कि वह बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।[4] अतः समस्त भेदों की निवृत्ति जीवनमुक्ति जीवित रहते हुए कथमपि सम्भव नहीं।[5]

महर्षि दयानन्द—

दयान्द जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों को असत्य या अविद्याजन्ति न मानकर उन्हें सत्य मानते हैं इसलिये दयानन्द भी कर्म और ज्ञान में शंकर जैसा विरोध स्वीकार नहीं करते। महर्षि दयान्द के अनुसार कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर ही मोक्ष के साधन हो सकते हैं। एकान्ततः ज्ञान मात्र नहीं कर्मों की शुद्धता ही ज्ञान की जननी है और उस ज्ञान का तभी सदुपयोग हो सकता है जबकि ब्रह्म के प्रति साधक समर्पित हो जाये। इस प्रकार रामानुज की भांति दयानन्द भी मुक्ति के साधनों में अद्वैत शंकर की ज्ञान के साधन-मात्रत्व के विरोध में कर्मज्ञान और भक्ति के समन्वित स्वरुप को स्वीकार करते हैं। दयानन्द की निर्गुणोपासना आत्मसमर्पण अपेक्षा रखती है। कर्म की निष्कामता ज्ञानोद्भाविका है और ज्ञान परमात्मा के प्रति ध्यान-धारणा का उत्प्रेरक है। दयानन्द के अनुसार मिथ्याभाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख है। उनको छोड़ कर सुखरूप फल देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण आवश्य करें।[1] इस प्रकार कर्मगत उपेक्षा को दयानन्द स्वीकार नहीं करते। दयानन्द के मत में मोक्ष एक अपूर्व आनन्दावस्था है। वे इसे शंकरवत्

४. छान्दोग्योपनिषद् (६, १४, २)
५. सकलभेदनिवृत्तिरूपा मुक्ति जीवती न सम्भवति।
—(श्रीभाष्य १, १, ४)

स्वरूपाविर्भाव नहीं मानते दयानन्द जीव और ब्रह्म को सर्वथा पृथक् पृथक् तत्व स्वीकार करते हैं। ब्रह्म और जीव के कतिपयगुण साम्य अवश्य है किन्तु जीव स्वयं में ब्रह्म नहीं है। अतः ब्रह्मरूप मोक्ष लक्ष्य सर्वथा एक नवीन उपलब्धि है। हम पीछे दिखा चुके हैं। कि दयानन्द ने शंकर के ब्रह्मवाद और ब्रह्मैक्यवाद का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है मोक्ष जो कि अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव और सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट परब्रह्म का एक दीर्घकालीन मिलन है अपने में जीव के प्रति सर्वथा एक नवीन उपलब्धि है। दयानन्द के मतानुसार मोक्षवस्था अनन्यानन्द परक है, अतः उसे जीव का स्वरूपाविभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीव के अपने सुख दुःखादि गुण हैं। यही परमानन्द वह कारण है, जिसके लिपे जीव समग्र जीवन सतत साधना करता रहता है। दयानन्द शंकर की अविद्या की मान्यता नहीं देते। वहुविध असंगता शंकराभिप्रेत अविद्या का जब अस्तित्व ही नहीं है तो ब्रह्म ओर जीव का अभेद अप्रमाणित हो जाता है जीव उतना ही सत्य है जितना की ब्रह्म, ब्रह्म में सद्गुणों की अनन्तत है, क्योंकि वह स्वयं अनन्त है। अतः जीव शान्त है और संसरणशीलता उसका धम है जो मोक्ष में विरत होता है। दयानन्द के अनुसार वन्ध और मोक्ष दोनों ही सावधिक हैं शरीर के जीव का वन्धन व्यावहारिक हैं, दयानन्द के जीव का बन्धन स्वाभाविक है, सत्य है। अतः उसे मिथ्यात्व का प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति को भी मान्यता दी है, किन्तु दयानन्द यद्यपि उसका खण्डन नहीं करते तथापि प्रतीत यह होता है कि वे जोवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते। दयानन्द का मन्तव्य है कि शरीरपातान्तर ही मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है। यद्यपि साधक परमात्मानुभव की अपनी साधना के वल से भोग लेता है तथापि उस दशा में वह मुक्त नहीं माना जा सकना—ऐसा दयानन्द का मत प्रतीत होता है। शरीर ही वन्वन है उससे मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति संभव है। इस प्रकार दयानन्द अद्वैत मतीय अभिप्रेत मुक्तिवाद सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते।

मुक्ति में ब्रह्मैक्यवाद का खण्डन—

जैसाकि पूर्व पृष्ठों पर बताया गया है कि अद्वैतवाद में मुक्ति किसी नूतन पदार्थ की उपलब्धि नहीं हैं, जीवात्मा द्वारा अपने परमार्थ स्वरूप का बोध है और देहपातान्तर उस सर्वज्ञ विभु परमात्मा में विलय हो जाता है, जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म देश, काल और कारणता से परे परम तत्व है। जीवात्मा का मोक्ष ऐसे ही निरपेक्ष ब्रह्म के साथ अभेद-ज्ञान प्राप्त करने में निहित है। अतएव मोक्ष या ब्रह्मानुभव देश और काल में कोई घटना नहीं है और न ही उसका कारणता से किसी प्रकार का सम्बन्ध हैं।[2] शंकर ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा है कि यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विचारों से ऐसी स्थिति है जहां पाप-पुण्य अपने विपाकों के साथ त्रिकाल में भी पहुंच जाने पर समर्थ नहीं होते।[3] कूटस्थनित्य उस पदार्थ को कहते हैं जो परिवर्तन रहित होकर नित्य हो, शंकर का ब्रह्म इसी प्रकार का कूटस्थ नित्य है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता क्योंकि मोक्ष और कुछ नहीं है केवल ब्रह्मानुभव ही है और इस ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान भिन्न नहीं हैं, अतएव जीवात्मा कूटस्थ नित्य है वह किसी भी प्रकार के परिवर्तनों से रहित है। मोक्ष आकाशवत् विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। इसका कारण है कि ब्रह्म सर्वव्यापी है और मोक्ष स्वयं तो ऐसे ही सर्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्न जान लेता है।

---

१. स०प्र०, नवम समुल्लास, पृ० १६१।
२. न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम् व्यवस्थितात्मकस्तु विषयत्वादारूपज्ञानस्य। —बृहदारण्यकोपनिषद्, ४,५,१५ पर मान्य।
३. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापी सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योति: स्वभाविक, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेत। —(शां०भाष्यपूर्वोक्तेव १,१,

मोक्ष की अवस्था में स्वय को ब्रह्म अनुभव करता है। अतः मोक्ष सभी प्रकार के भेदों से रहित कहा गया है सभी काशशाल सूर्यचन्द्रादि पदार्थों की प्रकाशन-शक्ति देने वाला ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। उसी स्वयं प्रकाश में जीवात्मा का विलय हो जाता है। अतः वह भी स्वयं प्रकाश बन जाता है।

आचार्य रामानुज—

रामानुज और दयानन्द दोनों ने अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के ब्रह्मैक्य वादी स्वरूप का प्रत्याख्यान किया है। रामानुज का मत है कि शंकर के अद्वैत में ब्रह्म और माया का द्वैत अत्यन्त कठिन विचार है। माया के सदसद् विलक्षण सिद्ध न होने से उसकी निवृत्ति भी होती प्रतीत नहीं होती क्योंकि यदि वह सत् है और उसकी भावात्मक सत्ता है तो वह सत्य होनी चाहिए और सत्य होने पर मोक्ष प्राप्ति सर्वथा असम्भव हो जायेगी और यदि वह अभावात्मक है तो निषेध का निषेध कर मोक्ष का क्या तात्पर्य रह जाता है।

दूसरे स्वयं ब्रह्म का जीवभाव और तापत्रयानुभव असंभावित है क्योंकि ब्रह्म निर्विकार एवं निर्दोष कहा जाता है। ब्रह्म और जीव के विलय को पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि जब परमात्मा और जीव अभेद हैं ही (शंकर के अर्थों वाला नहीं) तो उनका परस्पर विलय किस प्रकार सम्भव है। जीव और परमात्मा अशांशी भाव हैं तो मोक्षावस्था को सायुज्य-परक ही सिद्ध करता है, विलयावस्था (विलयात्मक) नहीं। विशिष्टाद्वैतियों का मत हे, आत्मविनाशक अद्वैती मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति किस प्रकार मानी जा सकती है। जब जीव का स्वत्व ही जिस मोक्ष में समाप्त होगा, तो उस मोक्ष के प्रति क्या अनुरक्ति एवं प्रयासों की अपेक्षा जीव में की जा सकती हैं।

अद्वेतवादी शंकर का मत हैं कि मोक्ष दशा में (भी) जीवा-

त्मा को अहमर्थत्व की अनुभूति नहीं होती।[1] उसका रामानुज खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा कहना तो प्रकान्तर आत्मविनाश को ही मोक्ष मानना है।[1] क्योंकि अहमर्थत्व केवल धर्म नहीं है, जो अविद्या की तरह अहंभाव हो जाने पर भी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थित रहे, प्रत्युतसूक्ष्म पदार्थ आत्मा का भी स्वरूप है। यथार्थ में या भ्रान्तिवश जो लोग आध्यात्मिक आदि दुःखों से कातर होकर "मैं दुःखी हूं" ऐसा अनुभव करते हैं, लोग पुःन ये दुःख प्राप्त न हो ऐसा सोच कर मोक्ष प्रप्ति के साधनों में प्रवृत्त होते हैं तो वे लोग मोक्ष की बात सुनकर ही भाग खड़े होंगे। और इस प्रकार कोई मोक्ष का अधिकारी दृष्टिगोचर ही नहीं होगा, और मोक्षोपदेष्टा समस्त शास्त्रों का कथन भी व्यर्थ होगा।[3]

यदि कहा जाये कि मोक्षावस्था में आत्मप्रकाश विद्यमान रहता है तो वस पर रामानुज कहते हैं कि इससे क्या होता है,मैं नष्ट होकर केवल प्रकाशवान रह जाऊंगा, ऐसा जानकर भी कोई बुद्धिमान मोक्षकर्मों की ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा।[4] अद्वैतवादी वेद ब्रह्म भक्ति इत्यादि श्रुतियों द्वारा मोक्ष मे जीव और ब्रह्म के अभेद को सिद्ध करते हैं।

किन्तु विशिष्टाद्वैत मत में उक्त श्रुति अभेदत्व की प्रतिपादित न होकर साम्य का कथन करती है। इसकी व्याख्या में विशिष्टाद्वैत वादी कहते हैं।—ब्रह्म और जीवात्मा का शरीर-शरीरीभाव

१. यत्तु मोक्षदशायां अहमर्थी नानुवर्तते।-श्रीभाष्य १,१,१,पृ० १७०

१. तथासति आत्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। —पूर्वोक्तेव।

२. स साधनानुष्ठानेन यदि अहमेव न भविष्यामीत्यवगच्छेत्, अपसंपदेवासौ मोक्षकथाप्रस्तावात्। —पूर्वोक्तेव पृ० १७०

३. सर्वमोक्षशास्त्रमप्रमाणं स्यात्।—पूर्वोक्तेव

४. मयि नष्टे अपि किमपि प्रकाशमात्रम् अपवर्गे अवतिष्ठति इति मत्वा न हि कश्चिद्बुद्धिपूर्वकारीप्रवर्तते।—पूर्वोक्तेव।

के कारण जीव और ब्रह्म में तादात्म्य होता है। यह तादात्म्य यद्यपि नित्य सिद्ध है किन्तु संसरणावस्था में जीवात्मा को इसका प्रत्यक्षानुभव नहीं होता। सुख-दुःखमोहात्मिका प्रकृति की होड़ में नानाविध प्रपन्चों में आवृत जीवात्मा अपने शरीरीभूत परमात्मा के साथ आत्म सम्बन्ध को भूल बैठता है किन्तु मोक्ष में वह इस तादात्म्य का—जो शरीर-शरीरीभाव से ही सम्भव है—प्रत्यक्ष एवं पूर्णानुभव करता है। मोक्षावस्था में नैरन्तर्य के कारण देहात्मभावस्थ तादात्म्य का अनुभव भी निरन्तर ही होता रहता है क्योंकि मोक्ष अविच्छिन्न हैं, अतः यह परमसूक्ष्मानुभव भी अविच्छिन्न है। अत: जो ब्रह्म तादात्म्य का अनुभव मोक्षावस्था में होता है उसी का कथन करने के लिये—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति—इत्यादि वाक्य हैं। इनका अर्थ यही है कि जो साधक ब्रह्म को जानता है, अर्थात् उपासना करता है, वह ब्रह्म के समान बन जाता है, अर्थात् ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करता है। यहां "एवं" शब्द साम्यवाचक है। न्याय दर्शन कार ने भी कहा है कि यहाँ "एव" शब्द साम्य अर्थ का वाचक है।[1]

श्रीभाष्य भी यही सिद्ध करता है कि ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति—इस श्रुति में वर्णित अभेद गौण है। जहां दोनों व्यक्तियों का प्रकार एक है, वहां जो अभेद व्यवहार होता है, वह मुख्य ही है, अर्थात् प्रायः मुख्य के समान है, जहां दोनों व्यक्ति परस्पर समान हैं, वहां दोनों व्यक्ति एक प्रकार के होते हैं। वहां यह कहा जाता है कि यह गौव्यक्ति वह गोव्यक्ति वही है। यहां दोनों गोव्यक्तियों में स्वरूपैक्य हो नहीं सकता, किन्तु प्रकारैक्य होता है, क्योंकि दोनों व्यक्ति एक प्रकार के हैं। यहां दोनों गोव्यक्तियों में प्रतिपाद्यमान अभेद गौण ही है, मुख्य नहीं है। मुख्य न होने पर भी

---

१. न्यायसिद्धान्त पृ० २८६

मुख्य के समान है। ऐसे ही गौण भेद को लेकर ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति—यह वचन भी भिन्न है।[2]

महर्षि दयानन्द—

रामानुज महर्षि दयानन्द भी मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म के विलय को स्वीकार नहीं करते। शंकर मत में जीव और ब्रह्म वस्तुत: एक है, अत: उनका विलय माना जाता है किन्तु दयानन्द जीव, जगत और परमात्मा—तीनों तत्वों की पृथक्-पृथक् अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं। दो साधर्म्य तत्वों का निलय कदापि सम्भव नहीं है। दूसरे, दयानन्द रामानुज मुक्ति की अवस्था में आनन्द की समुपस्थिति स्वीकार करते हैं। यह आनन्द तभी सम्भव हैं जबकि दोनों (जीव और परमात्मा) पृथक्-पृथक् हों। अन्यथा दयानन्द के अनुसार—"या" दोनों मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे; और साथ ही तर्क देते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म का विलय स्वीकार किया जाय तो मुक्ति में जितने साधन हैं, वे भी सब निष्पन्न हो जायेंगे, क्योंकि जब उसके स्वरूप का विलय का निलय होना हैं तो साधक ऐसी मुक्ति के लिए क्यों अग्रसर होगा शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति में जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। दयानन्द इसी बात को दृष्टिपथ में रखकर कहते हैं कि ऐसी मुक्ति अर्थात् जहां दु:ख त्रयाभिघात से निवृत्ति हो और परमानन्दरचता की उपलब्धि हो, किस प्रकार मानी जा सकती है। प्रत्युत इसे तो प्रलय मानना चाहिये।[3] क्योंकि जब जीव का अपना स्वरूप ही नष्ट हो जाता है तो उसका अस्तित्व और मुक्ति से उसे लाभ ही क्या रह जाता है;

---

२. भास्यं च गौणतमिवाह—"प्रकारैक्ये च तत्व व्यवहारो मुख्य एव, यथा सेयं गौ:" इति। मुख्य एवं मुख्यप्राय: इत्यर्थ:। सेयं गोरिति तु व्यक्ति द्वैयक रूप्यव्यपदेश:। अत: सिद्धमीश्वरात् परस्परं च भिन्ना जीवा इति। —न्यायसि०पृ०२९१-जीवपरि०

के कारण जीव और ब्रह्म में तादात्म्य होता है। यह तादात्म्य यद्यपि नित्य सिद्ध है किन्तु संसरणावस्था में जीवात्मा को इसका प्रत्यक्षानुभव नहीं होता। सुख-दुःखमोहात्मिका प्रकृति की होड़ में नानाविध प्रपञ्चों में आवृत जीवात्मा अपने शरीरीभूत परमात्मा के साथ आत्म सम्बन्ध को भूल बैठता है किन्तु मोक्ष में वह इस तादात्म्य का—जो शरीर-शरीरीभाव से ही सम्भव है—प्रत्यक्ष एवं पूर्णानुभव करता है। मोक्षावस्था में नैरन्तर्य के कारण देहात्मभावस्थ तादात्म्य का अनुभव भी निरन्तर ही होता रहता है क्योंकि मोक्ष अविच्छिन्न हैं, अतः यह परमसूक्ष्मानुभव भी अविच्छिन्न है। अत: जो ब्रह्म तादात्म्य का अनुभव मोक्षावस्था में होता है उसी का कथन करने के लिये—ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति—इत्यादि वाक्य हैं। इनका अर्थ यही है कि जो साधक ब्रह्म को जानता है, अर्थात् उपासना करता है, वह ब्रह्म के समान बन जाता है, अर्थात् ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करता है। यहां "एवं" शब्द साम्यवाचक है। न्याय दर्शन कार ने भी कहा है कि यहाँ "एव" शब्द साम्य अर्थ का वाचक है।[1]

श्रीभाष्य भी यही सिद्ध करता है कि ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति—इस श्रुति में वर्णित अभेद गौण है। जहां दोनों व्यक्तियों का प्रकार एक है, वहां जो अभेद व्यवहार होता है, वह मुख्य ही है, अर्थात् प्रायः मुख्य के समान है, जहां दोनों व्यक्ति परस्पर समान हैं, वहां दोनों व्यक्ति एक प्रकार के होते हैं। वहां यह कहा जाता है कि यह गोव्यक्ति वह गोव्यक्ति वही है। यहां दोनों गोव्यक्तियों में स्वरूपैक्य हो नहीं सकता, किन्तु प्रकारैक्य होता है, क्योंकि दोनों व्यक्ति एक प्रकार के हैं। यहां दोनों गोव्यक्तियों में प्रतिपाद्यमान अभेद गौण ही है, मुख्य नहीं है। मुख्य न होने पर भी

---

१. न्यायसिद्धान्त पृ० २८६

मुख्य के समान है। ऐसे ही गौण भेद को लेकर ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति—यह वचन भी भिन्न है।[2]

महर्षि दयानन्द—

रामानुज महर्षि दयानन्द भी मुक्ति की अवस्था में जीव और ब्रह्म के विलय को स्वीकार नहीं करते। शंकर मत में जीव और ब्रह्म वस्तुत: एक है, अत: उनका विलय माना जाता है किन्तु दयानन्द जीव, जगत और परमात्मा—तीनों तत्वों की पृथक्-पृथक् अनादि सत्ता स्वीकार करते हैं। दो साधर्म्य तत्वों का निलय कदापि सम्भव नहीं है। दूसरे, दयानन्द रामानुज मुक्ति की अवस्था में आनन्द की समुपस्थिति स्वीकार करते हैं। यह आनन्द तभी सम्भव हैं जबकि दोनों (जीव और परमात्मा) पृथक्-पृथक् हों। अन्यथा दयानन्द के अनुसार—"या" दोनों मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे; और साथ ही तर्क देते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म का विलय स्वीकार किया जाय तो मुक्ति में जितने साधन हैं, वे भी सब निष्पन्न हो जायेंगे, क्योंकि जब उसके स्वरूप का विलय का निलय होना हैं तो साधक ऐसी मुक्ति के लिए क्यों अग्रसर होगा शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति में जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। दयानन्द इसी बात को दृष्टिपथ में रखकर कहते हैं कि ऐसी मुक्ति अर्थात् जहां दु:ख त्रयाभिघात से निवृत्ति हो और परमानन्दरचता की उपलब्धि हो, किस प्रकार मानी जा सकती है। प्रत्युत इसे तो प्रलय मानना चाहिये।[3] क्योंकि जब जीव का अपना स्वरूप ही नष्ट हो जाता है तो उसका अस्तित्व और मुक्ति से उसे लाभ ही क्या रह जाता है;

---

२. भास्यं च गौणतमिवाह—"प्रकारैक्ये च तत्व व्यवहारो मुख्य एव, यथा सेयं गौ:" इति। मुख्य एवं मुख्यप्राय: इत्यर्थ:। सेयं गोरिति तु व्यक्ति द्वैयक रूप्यन्व्यपदेश:। अत: सिद्धमीश्वरात् परस्परं च भिन्ना जीवा इति। —न्यायसि०पृ०२६१-जीवपरि०

इस प्रकार महर्षि दयानन्द भी अद्वैत के मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्मैक्यवाद को अंगीकार नहीं करते।

तत्वमसि का अर्थ—

अद्वैत वेदान्त तत्वमसि महावाक्य का अर्थ निर्विशेष ब्रह्म और अन्तःकरणावच्छिन्न तद्रूप जीवात्मा के मध्य पूर्णाभेद ज्ञान करता है। इस पूर्णाभेदार्थ की सिद्धि के लिये विभिन्न अर्थावबोधक साधनों का आश्रय लेता है—जिसमें जहदजहल्लक्षणा का प्रमुख स्थान है।

अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि जिस प्रकार "सोऽयं देवदत्तः" वाक्य में 'स' पद का अर्थ पूर्वकाल में दृष्टत्व है और 'अयं' पद का अर्थ वर्तमानकाल में दृष्टत्व है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों अर्थों का त्याग करके केवल एक देवदत्त व्यक्ति ही लक्ष्य होता है। अतः 'स' और 'अयम्' ये दोनों पद लक्ष्य हैं और पारस्परिक एकार्थविबोधता लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार तत्वमसि वाक्यों में भी तद्पद का अर्थ अप्रत्यक्षत्व और त्वम् पद का अर्थ प्रत्यक्षत्व है। इन परस्पर विरुद्ध दोनों अंगों का त्याग करके केवल एक अविरुद्ध चैतन्य लक्ष्य होता है और तत् त्वम् दोनों पद लक्ष्य होते हैं। इसी को जहदजहल्लक्षणा या भाग लक्षणा कहते हैं।[4] अर्थात् जहाँ लक्षक शब्द अपने कुछ अर्थ का त्याग कर देते हैं और कुछ अर्थ का ग्रहण करलें वहां जहद-जहल्लक्षणा होता है। उक्त व्याख्या में 'स' और 'अयम्' दोनों शब्दों में देवदत्तत्व में तथा तत् और त्वम् के चेतन्य में कोई विरोध

---

१. स०प्र० नवम समुल्लास पृ० १६५, २. पूर्वोक्तेव, ३. पूर्वोक्तेव।
४. लक्ष्य लक्षण भावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव स शब्दायं शब्दयोस्त-दर्थयोर्वाविरूद्ध तत्कालेतत्काल विशिष्टत्व परित्यागेन अविरुद्ध देवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्वं पदयो-स्तदर्थयोर्वा विरुद्ध परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेना विरुद्धाविरुद्ध चैतन्य सह लक्ष्य लक्षणभावः। इयमेव भागलक्ष-णेत्युच्यते। —वेदान्तसार पृ० ६६

नहीं है। अतः इन अंशों का त्याग नहीं किया जाता। किन्तु 'स' के भूतकालिकतत्व और अयम के एतत्कालिकत्व का लक्षैव तत् के परोक्षत्व विशिष्ठत्व और त्वम् के अपरोक्षत्व विशिष्ट रूप विरुद्धांशों का परित्याग कर देने से दोनों में अभेद की सिद्धि होती है। यही कारण अद्वैतवादियों का अभिप्राय है।

आचार्य रामानुज और अद्वैत वेदान्त के उक्त मत का समर्थन नहीं करते। उनके मतानुसार यहां जीव और ब्रह्म के पूर्णाभेद प्रतिपादन जैसी कोई बात नहीं है। प्रथमतः वहां अद्वैत वेदान्त द्वारा 'सो-यं देवदत्तः' आदि का उदाहरण देकर 'तत्वमसि' के भागलक्षणापरक अर्थ का अवबोध कराया गया है, का खण्डन करते हुए उसमें लक्षणा के निषेध करते हैं। 'सो-ऽयंदेवदत्तो' इस उदाहरण में किसी भी प्रकार की लक्षणा की सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि लक्षणा का कारणीभूत किसी भी प्रकार का यहां विरोध नहीं हैं।[1] अतीत और स्थानान्तर में दृष्ट व्यक्ति के वतमान में देखे जाने पर उस व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, यह वही है—ऐसा जो प्रभृतिपरक ज्ञान है, वह का द्वय (भूत और वर्तमान) में दृष्ट एक ही व्यक्ति के अभेद का ही द्योतक है। अन्यथा तो प्रतीति के अनुसार भेद मान लेने पर सम्पूर्ण पदार्थ ही क्षणिक मानने पड़ेंगे, अतः दो स्थानों की विभिन्नता काल भेद के द्वारा निवृत्त हो जाती

---

१. सो-अयं देवदत्तः इत्यत्रापि लक्षणा न विद्यते, विरोधाभावात् (श्रीभा० १. १. १३

२. अन्यथा प्रतीति विरोधे सति सर्वेषाँ क्षणिकत्वमेव स्यात्। देशद्वय सम्बन्ध विरोधस्तु, कालभेदेन परिह्रयते। (पूर्वोक्तेव)।

३. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानाँ शब्दानामेस्मिन्नर्थे वृत्ति समानाधिकरण्यम् पूर्वोक्तेव १, १. १३।

४. यत्र त्वेकस्मिन् वस्तुनि समन्वय योग्यं विशेषणद्वयं समानाधिकरणपदनिर्दिष्टम्........तत्राप्यन्तरत् पदममुख्यवृत्तमाश्रीयते, न द्वयम्। —पूर्वोक्तेव।

है।[2] रामानुज के अनुसार उक्त 'सोऽयं देवदत्तो' के आधार पर तत्वमसि मे लक्षणा का अभिधान नहीं किया जा सकता है। और जहां तक सामानाधिकरण्य का प्रश्न है, रामानुज के मतानुसार विभिन्नार्थ बोधक तत्वों की जो एक मात्र अर्थ बोधकता हैं, उसे समानाधिकरण कहते हैं।[3] इस नियम अनुसार अन्वय द्वारा हो या अन्यार्थ वोध द्वारा ही, दोनों ही अवस्थाओं में पदान्तर प्रतिपाद्य विषय में अर्थात् पार्थक्य नहीं होता। एक ही वाद को विभिन्न पदों प्रतिपादन करना ही समानाधिकरण का कार्य है। जैसे देवदत्त श्याम वर्णी, रक्तनेत्र, अदीन, अकृष्ण और अनुवद्य है—इस वाक्य में समानाधिकरण्य के नियम से एक गुणों वाला एक ही देवदत्त है जबकि वेदान्ती लोग तत् और त्वम् से अभेद प्रतिपादित करना चाहते हैं जबकि आप (अद्वैतवादी वेदान्ती) तत् रूप सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म और अल्पज्ञत्वादि का अपरोक्षत्वादि विशिष्ट जीव दो पृथक्-पृथक् के एक ही अर्थ से प्रतिपादित करना चाहते हैं; वह असंभव है।

रामानुज कहते हैं कि हां एक ही वस्तु में समन्वय के अयोग्य दो विशेषण समानाधिकरण्य भाव से प्रयुक्त होते हैं, वहां पर एक एक पद का गौण अर्थ स्वीकारना होगा। दोनों का मुख्य अर्थ नहीं होगा।[4] अतएव आप का तत् और त्वम् में अभेद इस रूप में सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे 'गोवाहीक' में एक का मुख्य और दूसरे

√. सोऽयं देवदत्त इत्यत्रापि लक्षणागन्धो न विद्यते, विरोधाभावात्। (श्रीभाष्य १)

१. अथ मनुपे एक विशेषणप्रतिसन्धित्वेननित्यमाणं विशेषणान्तर-प्रतिसन्धित्वात् विलक्षणमिति।—पूर्वोक्तेव

२. समानाधिकरण शब्दस्य न विशिष्टप्रतिपादनपरत्वम्, अपितु विशेषणमुखेन स्वरूपमुस्थायतदैक्य प्रतिपादनपरत्वमेवेति।

—पूर्वोक्तेव।

का गौण अर्थ है, उसी प्रकार आपकी भी तत् और त्वम् में एक का मुख्य और दूसरे का गौण अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा—अर्थात् या जो जीव के अर्थ को मुख्य मानों और ब्रह्म के अर्थ को गौण या ब्रह्म के अर्थ को मुख्य मानों और जीव के अर्थ को गौण। इस अवस्था में भी दोनों का पूर्णाभेद सिद्ध नहीं हो सकता।

इस पर यदि अद्वैतवादी वेदान्ती यह कहें कि कोई वस्तु एक विशेषण से विशेषित होने पर, दूसरी विशेषण विशिष्ट वस्तु के निश्चित ही भिन्न होगी।[1] जैसे पट-पटादि में समान विभक्त होते हुए भी, एकता सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अन्यत्र भी समान विभक्ति का निर्देश होने पर विभिन्न विशेषणविशिष्ट पदार्थों का ऐक्य नहीं होगा। इसलिए समानाधिकरण शब्द का विशिष्टार्थ प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं होता। अपितु विशेषण के रूप में वस्तु के स्वरूप का उपास्थापक नया बोध सम्पादन कराकर उन सबका ऐक्य प्रतिपादन करना ही उसका कार्य होता है।[2]

इसका उत्तर देते हुए आचार्य रामानुज कहते हैं कि हो सकता है, ऐसा ही, किन्तु दो विशेषणों का सम्बन्ध ही अभेद निरोधक हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत एक धर्मी रूप विशेष पदार्थ दो धर्मों वाले विशेषवर्गों का सम्बन्ध सर्वथा अयोग्य है और वही एकता का विरोधी है, घटत्व और पटत्वादि में जो इस प्रकार की अयोग्यता है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होती है। नील-उक्त में दण्डित्व कुण्डलित्व की भाँति रूपकत्व, रसकत्व, गन्धकत्व आदि होते हुए भी एकता के विरुद्ध नहीं हैं। इस प्रकार केवल विरोध का अभाव ही नहीं है, अपितु प्रवृत्ति-निवृत्ति के भेदानुसार जो समानाधिकरण का नियम है, उसके अनुसार भी दो धर्मों वाली विशेषताओं का उप-

---

१. एवमनन्यगोचरानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतब्रह्मपरामर्शितच्छब्दस्य-निर्विशेषवस्तुमात्रोपदेशपरत्वम् असंगत्वेनोन्मत्तप्रलपितायेत्।
—पूर्वोक्तेव।

पादन हो जाता है। केवल वस्तु स्वरूप की एकता के बतलाने या अनेक पदो के प्रयुक्त होने पर भी उपयुक्त कारण न होने से समानाधिकरण्य का नियम लागू नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ विशेषणों का सम्बन्ध स्वीकार न करके, केवल वस्तुमात्र बोधकता ही स्वीकार की जाय, तब भी एक विशेषण से ही एक वस्तु की विशेषता उपलषित हो जाती है तब अन्यान्य विशेषण स्वतः ही व्यर्थ हो जाते हैं अन्यान्य विशेषवर्गों के द्वारा यदि उपलब्ध वस्तु का आकार भेद ही माना जाय तव भी उन विशेषणों से वस्तु की सविशेषता सिद्ध हो जाती है ।

इसलिये रामानुज कहते है कि असाधारण अगोचर, अनन्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्म के बोधक तत् शब्द को सामान्य (निर्विशेष) वस्तुओं से समता नितान्त असंगत प्रतीत होती है। जो प्रमत्तों का सा प्रलाप प्रतीत होता है।[1] त्वं पद संसारी विशिष्ट जीवात्मा का बोधक है, उसकी यदि निर्विशेष रुप से कल्पना की जाय तो त्वं पद के वास्तविक अर्थ का विनाश ही है।

रामानुज के अनुसार तत्वमसि का वास्तविक तात्पर्य एक विशिष्ट अभिन्नता से हैं, जिसका अर्थ यह हं कि ईश्वर ब्रह्माण्ड के कारण के रुप में, उस ईश्वर से अभिन्न है, जो कि जीवात्मा का अन्तयार्मी है। "तत्" पद ईश्वर की ब्रह्माण्ड के कारण के रुप में विशेषता को प्रकट करना है और "त्वम्" पद ईश्वर की

---

२. त्वंपदं संसारित्वविशिष्ट जीवावाचि। तस्यापि निर्विशेष स्वरुपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तः स्यात्। –पूर्वोक्तेव।

३. तत्रतत्पदं जगत्काशभूतसकलकल्याणगुणगणाकरं निरवद्यं निर्विकारमाष्टे, त्वमिति तदेव ब्रह्म जीवान्तर्यामि रुपेण स्वशरीर जीवप्रकार विशिष्टमाचष्टे। - वेदार्थसंग्रह पृ० ३५

४. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १२७

५. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १२७–२८

जीवात्मा में अन्तर्वास करके उसकी नियामक सत्ता का आभास प्रदान करता है।[2] इस प्रकार दोनो पद एक ही तत्व की ओर संकेत करते है और यह अर्थ अभिधावृत्तिजन्य ही है, लक्षणापरक नहीं ।

ईश्वर स्वाश्रित किन्तु आत्मा की ईश्वराश्रितता व्यन्जित होती है। उनका पुर्ण तादास्य सम्भव नहीं है। जीवात्मा ईश्वर का एक प्रकार है और इस रस में यह उस ईश्वर से अपना अस्तित्व तथा क्रियाशीलता को प्राप्त करता है, जिससे उसका देशात्म सम्बन्ध है। इस प्रकार रामानुजानुसार तप्वमसि का अभिप्राय ईश्वर के उन दो रुपों से है जो कि उसे विभिन्न परिस्थितियों में उपलब्ध होते हैं। प्रथम संसार के कारण भूत तथा असंख्य कल्याणगुण-गणाकर स्वरुप का अपने उस रुप के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसमें वह कार्यावस्थ रुपेण अचिद् विशिष्ट जीवात्मा में अपृक्त्व सिद्ध होकर अन्तर्यामी रुप से निवास करता है ।

महर्षि दयानन्द

दयानन्द उक्त श्रुति को महावाक्य की संज्ञा नहीं देते । उनके अनुसार ये वेद वाक्य ही नहीं किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन है, इनका नाम महावाक्य कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा ।[1]

प्रश्नः अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे । (तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। है जीव। (त्वम्) तू (तत्) ब्रह्म (असि) है।

उत्तरः तुम तत् शब्द से क्या (अर्थ) लेते हो ।

प्रश्न (कर्ता) :"ब्रह्म"

उत्तरः (दाता)-ब्रह्म पद की अनुवृत्ति कहां से लाये ।

---

१. द्रष्टव्य ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृ० २१५ – अजमेर

पादन हो जाता है। केवल वस्तु स्वरूप की एकता के बतलाने या अनेक पदो के प्रयुक्त होने पर भी उपयुक्त कारण न होने से समानाधिकरण्य का नियम लागू नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ विशेषणों का सम्बन्ध स्वीकार न करके, केवल वस्तुमात्र बोधकता ही स्वीकार की जाय, तब भी एक विशेषण से ही एक वस्तु की विशेषता उपलषित हो जाती है तब अन्यान्य विशेषण स्वत: ही व्यर्थ हो जाते हैं अन्यान्य विशेषवर्गों के द्वारा यदि उपलब्ध वस्तु का आकार भेद ही माना जाय तब भी उन विशेषणों से वस्तु की सविशेषता सिद्ध हो जाती है ।

इसलिये रामानुज कहते है कि असाधारण अगोचर, अनन्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्म के बोधक तत् शब्द को सामान्य (निर्विशेष) वस्तुओं से समता नितान्त असंगत प्रतीत होती है। जो प्रमत्तों का सा प्रलाप प्रतीत होता है।[1] त्वं पद संसारी विशिष्ट जीवात्मा का बोधक है, उसकी यदि निर्विशेष रूप से कल्पना की जाय तो त्वं पद के वास्तविक अर्थ का विनाश ही है।

रामानुज के अनुसार तत्वमसि का वास्तविक तात्पर्य एक विशिष्ट अभिन्नता से है, जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर ब्रह्माण्ड के कारण के रुप में, उस ईश्वर से अभिन्न है, जो कि जीवात्मा का अन्तयार्मी है। "तत्" पद ईश्वर की ब्रह्माण्ड के कारण के रुप में विशेषता को प्रकट करना है और "त्वम्" पद ईश्वर की

---

२. त्वंपदं संसारित्वविशिष्ट जीवावाचि। तस्यापि निर्विशेष स्वरुपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थ: परित्यक्त: स्यात्। –पूर्वोक्तेव।
३. तत्रतत्पदं जगत्काशभूतसकलकल्याणगुणगणाकरं निरवद्यं निर्विकारमाष्टे, त्वमिति तदेव ब्रह्म जीवान्तर्यामि रुपेण स्वशरीर जीवप्रकार विशिष्टमाचष्टे। - वेदार्थसंग्रह पृ० ३५
४. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १२७
५. सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास पृ० १२७–२८

जीवात्मा में अन्तर्वास करके उसकी नियामक सत्ता का आभास प्रदान करता है।[2] इस प्रकार दोनो पद एक ही तत्व की ओर संकेत करते है और यह अर्थ अभिधावृत्तिजन्य ही है, लक्षणापरक नहीं।

ईश्वर स्वाश्रित किन्तु आत्मा की ईश्वराश्रितता व्यन्जित होती है। उनका पुर्ण तादास्य सम्भव नहीं है। जीवात्मा ईश्वर का एक प्रकार है और इस रस में यह उस ईश्वर से अपना अस्तित्व तथा क्रियाशीलता को प्राप्त करता है, जिससे उसका देशात्म सम्बन्ध है। इस प्रकार रामानुजानुसार तप्वमसि का अभिप्राय ईश्वर के उन दो रुपों से है जो कि उसे विभिन्न परिस्थितियों में उपलब्ध होते है। प्रथम संसार के कारण भूत तथा असंख्य कल्याणगुण-गणाकर स्वरुप का अपने उस रुप के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसमें वह कार्यावस्थ रुपेण अचिद् त्रिशिष्ट जीवात्मा में अपृक्त्व सिद्ध होकर अन्तर्यामी रुप से निवास करता है।

महर्षि दयानन्द

दयानन्द उक्त श्रुति को महावाक्य की संज्ञा नहीं देते। उनके अनुसार ये वेद वाक्य ही नहीं किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन है, इनका नाम महावाक्य कहीं सत्यशास्त्रों में नहीं लिखा।[1]

प्रश्न: अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे। (तत्) ब्रह्म (त्वं) तू जीव (असि) है। है जीव। (त्वम्) तू (तत्) ब्रह्म (असि) है।

उत्तर: तुम तत् शब्द से क्या (अर्थ) लेते हो।

प्रश्न (कर्ता) :"ब्रह्म"

उत्तर: (दाता)–ब्रह्म पद की अनुवृत्ति कहां से लाये।

---

१. द्रष्टव्य ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृ० २१५ – अजमेर

प्रश्नकर्ता:- सदेव सोयेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।- इस पूर्व वाक्य से ।

उत्तरदाता: तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद का दर्शन भी नहीं किया । जो वह देखी होती तो वहां "ब्रह्म" शब्द का पाठ ही नहीं है, ऐसा झूठ क्यों कहते हो । किन्तु छान्दोग्योपनिषद् में तो-सदैप सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । (६.2. ।) ऐसा पाठ है, वहा ब्रह्म शब्द नहीं ।।

प्रश्नकर्ता: तो आप तत् शब्द से क्या (अर्थ) लेते हैं ।

उत्तर : स य एषो-अभिमेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति (छ । ० ६:८:७:)

वह परमात्मा जानने योग्य है जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है । वही सत्य स्वरुप और अपना आत्मा आप ही है । हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र ।

तदासकस्तदन्तर्यामी तत्वसि ।।

उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है । यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है क्योंकि य आत्मनि तिष्टन्नात्मनो-अन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।

आत्मनि-अन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यामृत: ।।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द तत्वमसि को जीव और परमात्मा का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध अभिधायक ही मानते है ।

दोनों ही दार्शनिक मुक्ति में जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं । किन्तु रामानुज मुक्ति में जीवात्मा का परमात्मा के साथ सायुजयभाव मानते हैं । जबकि दयानन्द उसका खण्डन करते हैं ।

दोनों ही दार्शनिक मुक्ति में अद्वैतवाद के जीव ब्रह्मैक्य का खण्डन करते है। वे नहीं मानते कि जीवात्मा अविद्या के कारण है।

दोनों ही दार्शनिको के अनुसार जीव मोक्ष में सत्य-प्राविल्प हो जाता है किन्तु दयानन्द द्वारा अभिस्वीकृत उक्त सत्यसकंल्पत्व उन अर्थों में रामानुज से न्यून है जिनमें वे दयानन्द मुक्ति में भी जीवात्मा में अल्पज्ञादि गुणों को नित्य स्वीकार करते हैं। दोनों के अनुसार मुक्ति में जीवात्मा का नानात्व बना रहता है।

किन्तु रामानुज के अनुसार मुक्त जीव का पुनरागमन नहीं होता। वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है। मुनि दयानन्द के अनुसार जीवात्मा को मुक्ति के बाद ही पुनरावृत्ति होती है, तस्मात् उनके अनुसार मुक्ति सावधिक हैं। अन्य भारतीय दार्शनिक सावधिक मुक्ति को मुक्ति न मानकर शुभ कर्मफलजन्य प्राप्त पुण्य लोक ही मानते हैं। भारतीय दर्शन में शायद एक मात्र दयानन्द ही मोक्ष से पुनरावृत्ति मानने वाले प्रथम दार्शनिक हैं। उन दार्शनिकों की युक्ति हैं कि पुनरावृत्ति-आत्मक मुक्ति जीवात्मा की पुनः पुनः अर्जित करनी पड़ेगी। इसलिये वह दुखों से एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति भी नहीं मानी जा सकती। जो भी हो, दयानन्द का यह मत अभिनय है।

कुछ नैतिक दार्शनिकों का विचार है कि यदि सत्कार्यों का अन्तिम फल जीवनमुक्ति के रुप में वर्तमान जन्म में हीं प्राप्त हो तो वे जीव नैतिक दृष्टि से अन्य साधकों और समाज के लिये आदर्श मार्गदर्शक बन सकते हैं। जीवन मुक्ति को न मानने वाली स्थिति में यह लाभ नहीं मिल सकता। क्योंकि विदेह मुक्ति तो मृत्यु के उपरान्त ही सम्भव है जिसका कि साक्षात् विवरण देना कठिन हैं। इस संदर्भ में पुनः कहना पुनरावृत्ति न होगी कि दोनों दार्शनिकों में जीवन-मुक्ति ही अस्वीकार किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक समानताएं हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि दोनों ही दार्शनिक किसी न किसी रुप में चेतन और जड़ दोनों तत्वों को सत्ता स्वीकार करते हैं।

उपनिषदों में मोक्ष का स्वरुप

उपनिषदों मे आये मोक्ष के स्वरूप के विषय में उपनिषदों के मूल से देखना अधिक श्रेयष्कर होगा।

ईशोपनिषद् ने कहा है कि ज्ञान से अमृत को प्राप्त करता है।[1] जब वह ज्ञान को अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी पराकाष्ठा ही है।[2] दो प्रकार की भावना वैयक्तिक और समष्टिगत की तुलना करते हुए कहा है कि जो वैयक्तिक भावना से ऊपर उठ कर समाज को प्रमुखता देता है अर्थात उस परमेश्वर को जानने तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि सम्भूति अर्थात "इदं न मम" की भावना से ओतप्रोत होता हुआ समाज के लिये अपना जीवन समर्पित कर देता है। तभी उस समष्टिगत ज्ञान से अमृत अर्थात मोक्ष को उपलब्ध कर लेता है।[3] ज्ञान की इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को अपने पराये का भेदज्ञान नहीं रहता।

इस उक्त उपनिषद् में मोक्ष के स्वरुप को अमृतमय वतलाया है जिसका अभिप्राय है कि वह अमृत को प्राप्त कर उस कल्याणतम ईश्वर के दर्शन कर लेता है अर्थात् उसके आनन्द में रहता है। जव जीवन मुक्तावस्था में उस ब्रह्म के तेज को देखता "सो-

---

२. विद्ययाऽमृतमनुश्नते। – ई०उ० ॥
३. सम्भूत्याऽमृतमश्नुते – ई० उ० ॥ – पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार भाष्यद्रष्टव्य पृ० २४
४. कल्याणतमंतत्तेपश्यामि- ई० १६

अहमस्मि" पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ स्थूलरूप में देखने से ज्ञात होता है। कि वह परमात्मा मै हूँ। यही अर्थ आचार्य शंकर आदि को अभीष्ट है। वह ब्रह्म था, बस यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्म हूं। परन्तु इस पर आपत्ति यह है कि जब यहां वह ब्रह्म है इसका ज्ञान हो गया तो यह वह क्यों कहता है कि मैं उस "कल्याणतमंपश्यामि पुरुष को देखता हूँ।[1] देखना तो पृथक् सत्ता रखने पर ही हो सकता है। वस्तुतः यहां अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अज्ञान आदि के कारण शरीर इन्द्रियां मन बुद्धि आदि को मै रूप में जानता है तो अज्ञान को दूर हो जाने पर अपने तेज और परमेश्वर के तेज को देखकर कहता है कि जैसे ईश्वर जड़ रहित चेतनस्वरुप है ऐसे ही मैं भी चेतनस्वरूप हूँ। उसे तादात्म्य-सा प्रतीत होने लगता है, यह अवस्था तभी संभव है जब वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण कर लेता है। लोक में भी यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि अति प्रेम होने पर अभेद सा प्रतीत होने लगता है। यदि उपनिषद् कार यह अद्वैत-वादी सिद्धान्त अभीष्ट होता तो आगे के दो मन्त्रों में यह प्रार्थना जीवात्मा से न करवाता - हे! ज्ञान-स्वरुप परमात्मा मुझे सुपथ पर ले चल।[1] ओम् को स्मरण करने का उपदेश न दिया जाता।[2] जब वह स्वयं ब्रह्म है तो स्मरण किसका ?

केन उपनिषद में मोक्ष को अमृत रुप में ही माना है। धीरे विद्वान ज्ञानी लोग समस्त पदार्थों को छोड़ कर जो श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन, परमेश्वर हैं उसको जानकर अमृतावस्था को प्राप्त हो जाते है।[3] उस मोक्षावस्था में चक्षु आदि का ज्ञान नहीं होता

---

१. ईश० उ० १७.१३ ई० १८
२. केन०उ० प्रथम खण्ड मं० २१
३. न तत्र चक्षुर्गच्छति (के वही मु०३)
४. अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति (के०उ०ख० चतुर्थ, मन्त्र ३४)

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द की दार्शनिक मान्यताओं में अनेक समानताएं हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि दोनों ही दार्शनिक किसी न किसी रुप में चेतन और जड् दोनों तत्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

उपनिषदों में मोक्ष का स्वरुप

उपनिषदों मे आये मोक्ष के स्वरूप के विषय में उपनिषदों के मूल से देखना अधिक श्रेयष्कर होगा।

ईशोपनिषद् ने कहा है कि ज्ञान से अमृत को प्राप्त करता है।[1] जब वह ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो वह उसकी पराकाष्ठा ही है।[2] दो प्रकार की भावना वैयक्तिक और समष्टिगत की तुलना करते हुए कहा है कि जो वैयक्तिक भावना से ऊपर उठ कर समाज को प्रमुखता देता है अर्थात उस परमेश्वर को जानने तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि सम्भूति अर्थात "इदं न मम" की भावना से ओतप्रोत होता हुआ समाज के लिये अपना जीवन समर्पित कर देता है। तभी उस समष्टिगत ज्ञान से अमृत अर्थात मोक्ष को उपलब्ध कर लेता है।[3] ज्ञान की इस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को अपने पराये का भेदज्ञान नहीं रहता।

इस उक्त उपनिषद् में मोक्ष के स्वरुप को अमृतमय बतलाया है जिसका अभिप्राय है कि वह अमृत को प्राप्त कर उस कल्याणतम ईश्वर के दर्शन कर लेता है अर्थात् उसके आनन्द में रहता है। जब जीवन मुक्तावस्था में उस ब्रह्म के तेज को देखता "सो-

---

२. विद्ययाऽमृतमनुश्नते। - ई०उ० ॥
३. सम्भूत्याऽमृतमश्नुते - ई० उ० ॥ - पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार भाष्यद्रष्टव्य पृ० २४
४. कल्याणतमंतत्तेपश्यामि- ई० १६

अहमस्मि" पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ स्थूलरूप में देखने से ज्ञात होता है। कि वह परमात्मा मै हूँ। यही अर्थ आचार्य शंकर आदि को अभीष्ट है। वह ब्रह्म था, बस यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्म हूं। परन्तु इस पर आपत्ति यह है कि जब यहां वह ब्रह्म है इसका ज्ञान हो गया तो यह वह क्यों कहता है कि मैं उस "कल्याणतमंपश्यामि पुरुष को देखता हूँ।[4] देखना तो पृथक् सत्ता रखने पर ही हो सकता है। वस्तुतः यहां अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अज्ञान आदि के कारण शरीर इन्द्रियां मन बुद्धि आदि को मै रूप में जानता है तो अज्ञान को दूर हो जाने पर अपने तेज और परमेश्वर के तेज को देखकर कहता है कि जैसे ईश्वर जड़ रहित चेतनस्वरुप है ऐसे हो मैं भी चेतनस्वरूप हूँ। उसे तादात्म्य-सा प्रतीत होने लगता है, यह अवस्था तभी संभव है जब वह परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण कर लेता है। लोक में भी यह व्यवहार प्रसिद्ध है कि अति प्रेम होने पर अभेद सा प्रतीत होने लगता है। यदि उपनिषद् कार यह अद्वैत-वादी सिद्धान्त अभीष्ट होता तो आगे के दो मन्त्रों में यह प्रार्थना जीवात्मा से न करवाता - हे! ज्ञान-स्वरुप परमात्मा मुझे सुपथ पर ले चल।[1] ओम् को स्मरण करने का उपदेश न दिया जाता।[2] जब वह स्वयं ब्रह्म है तो स्मरण किसका ?

केन उपनिषद में मोक्ष को अमृत रुप में हो माना है। धीरे विद्वान ज्ञानी लोग समस्त पदार्थो को छोड़ कर जो श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन, परमेश्वर हैं उसको जानकर अमृतावस्था को प्राप्त हो जाते है।[3] उस मोक्षावस्था में चक्षु आदि का ज्ञान नहीं होता

---

१. ईश० उ० १७.१३ ई० १८
२. केन०उ० प्रथम खण्ड मं० २१
३. न तत्र चक्षुर्गच्छति (के वही मु०३)
४. अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति (के०उ०ख० चतुर्थ, मन्त्र ३४)

है। अर्थात ये इन्द्रियां स्थूलरूप में वहां नहीं जाती हैं।[4] कुछ विद्वान अमृत का अर्थ मोक्ष न मान कर अन्यथा अर्थ करते हैं। उनका खण्डन स्वयं उपनिषद्कार यह कह कर करता है कि वहां चक्षु आदि का भी गमन नहीं है। केनोपनिषद् में मोक्षावस्था के लिये स्वर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है स्वर्ग पद का प्रयोग होना इस ओर संकेत करता है कि उस अवस्था में सदा रहने वालों को आनन्द प्राप्त होता है।[5] यह कठोपनिषद् में भी कहा है कि वहां स्वर्गलोक जरा और मृत्यु कभी नहीं प्राप्त करता है। अपितु एक रस रहने वाला आनन्द प्राप्त होता है।[6] इस मन्त्र में "शोकातिग" कह कर दु:खों की निवृत्ति का संकेत भी मिलता है। मोदते से आनन्द का संकेत मिलता है। स्वर्गलोक से सुखविशेष की अवस्था का अभिप्राय जीवन्मुक्तावस्था से है। जीवन्मुक्तावस्था से मोक्ष में जीवात्मा चला जाता है। भूखप्यास से रहित, जरा से रहित और पूर्णत: भय से रहित मोक्ष के बिना संभव नहीं है हमारे इस विचार की पुष्टि उपनिषद्कार स्वयं करता है कि वह आगे से मृत्यु के पाशों को काटकर शोक से पार होकर स्वर्गलोक में आनन्दमय रहता है।[7] यहां उपनिषद्कार ने द्वितीय वर के द्वारा, यज्ञाग्नि, जिसे हम अध्यात्मिक यज्ञाग्नि भी कह सकते हैं, उस द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति बतलाया है जब जीवात्मा पूर्णत: शुद्ध हो जाता है तो उस मोक्ष पद को प्राप्त कर, जो मृत्यु के बाद जन्म लेता था वह जन्म ग्रहण नहीं करता[8] है यहां तत्पदं मोक्ष का विशेषण है। उस मार्ग को निर्देश करते हुये कहा है कि उस मोक्ष के मार्ग को पार कर उस विष्णुव्यापक परमेश्वर के धाम अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहां 'परमंपदम्' पद मोक्ष के लिये प्रयुक्त हुआ है। अर्थात जीवात्मा का सर्वोच्च पद मोक्ष

---

५. स्वर्गे लोके न भयं···त्वं न जरा बिभेति।···शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके-कठ०उ०। व १२ मं०

६. स मृत्युपाशान्पुरत: प्रणो···मोदते स्वर्गलोके-कठ० ∠१८

७. तत्पदमाप्नोति यस्माद् भयो न जायते। (क०X:१३/८)

८. कठ० ३/ ,१०,११

ही है। वही उसकी अवस्था पराकाष्ठा या परागति नाम से घोषित की गई है।[1] उस परमधाम के अन्य विशेषणों के अतिरिक्त् कठोपनिषद् मे ध्रुव पद भी आया हैं जो इस बात का संकेत देता है कि मोक्ष धाम चिरस्थाई है यद्यपि मोक्ष या मुक्ति शब्द उपनिषदों में प्राय: प्राप्त नहीं होता तो भी शोक से छूट जाता है इत्यादि अर्थो में विमुक्तः, विमुच्यते, परिमुच्यते आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये सभी शब्द मुंच धातु से ही निष्पन्न होते हैं। मोक्ष भी इसी धातु से निष्पन्न होता हैं। परन्तु छूटना अर्थ यहां मुख्यरूप में प्रतीत होता है मोक्ष के लिये अमृत पद का प्रयोग उपनिषदो में अनेकों स्थलों पर उपलब्ध है।[2] इस उक्त उपनिषद् में भी मोक्षावस्था में ये स्थूल इन्द्रियां नहीं रहती ऐसा माना गया है।[3] यह उपनिषद स्पष्ट उद्घोषणा करती है कि उस मोक्षावस्था में मनुष्य निरन्तर रहने वाले सुख को प्राप्त कर लेता है।[4] मुक्ति में केवल दुःखाभाव ही नहीं होता अपितु विधेयात्मक सुख विशेष को उपलब्धि होती है। यह भाव इस उपनिषद् मे स्पष्ट हो जाता है।

मुण्डक उपनिषद में मुक्ति और विमुक्त शब्द का प्रयोग मोक्ष के अर्थ में हुआ है जो आगे स्पष्ट किया जा रहा है। इस उपनिषद् में जीवात्मा और ब्रह्म का भेद का प्रतिपादन स्पष्टरूप में किया है। परन्तु आगे चलकर अद्वैतवादी श्रुति भी उपलब्ध होती है। इस मत से यही प्रतीत होता है कि उपनिषद्कार रहस्यवादी भाषा का प्रयोग कर पाठक को आश्चर्य में डाल देता है। परस्पर यह प्रतीत होने वाले विरोधाभास का परिहार यथार्थवादी दार्शनिक करने का प्रयास करते हैं, मोक्ष का वर्णन करते हुए इस उपनिषद् में कहा है कि वह जीवात्मा जब पुण्य प्राप्त मोहजाल को समाप्त कर लेता है, तब

१. कठ० ३/६,१०,११
२. कठ० ६/१८,६,१४,१५,१७ आदि मन्त्रों में भी अमृत पद मोक्ष के लिये प्रयुक्त हुआ है।
३. न तत्र सूर्योभाति-न वाचा न मनसा-कठ० ५/१५/६/१२
४. तेषां सुखं शाश्वतम्-कठ० ५/१२

वह निरंजन परमात्मा परम सभ्यता को प्राप्त कर लेता मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[5] यहाँ साम्य पद इस का द्योतक है कि वह जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो जाता अपितु जो उसके अन्दर अपहतपाप्मादि ब्रह्म के गुणों की साम्यता उपलब्ध हो जाती है। जीव में जो सबसे अधिक ब्रह्म से न्यूनता है, वह है आनन्द का न होना। वह उस ब्रह्म को जानकर आनन्द को प्राप्त कर उसकी समता प्राप्त कर लेता है। न कि अपनी सत्ता समाप्त कर प्रलय को प्राप्त होता है। जैसाकि अद्वैतवादी कहते है।

ब्रह्मधाम शब्द का प्रयोग मुक्ति के लिये किया गया है।[1] आगे मुक्ति के स्वरुप और सीमा निर्धारण करते हुए बतलाया है, वे ब्रह्मनिष्ठ लोग मोक्ष में अर्थात् ब्रह्म लोक में परान्तकाल तक रहते है।[2] यहाँ परान्त काल तक कहकर स्पष्टरुप में यह बताया है कि जीव ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता हुआ ब्रह्म में विचरता रहता है और ब्रह्मानन्द का अनुभव करता रहता हैं। जब वह आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है तब वह सभी प्रकार के अपने नामों से रहित हो जाता है। अर्थात् लोक में जो नाम है उनसे मुक्त होकर परम पुरुष प्राप्त कर लेता है। जैसा गगा यमुना आदि नदियाँ समुद्र में जाकर यमुना आदि नामों से नही कहो जाती, इसी प्रकार यज्ञदत्त, राम आदि नाम उसके नहीं रहते।[3] मोक्ष मे जीवात्मा ब्रह्म हो जाता है- ऐसा अद्वैतवादी मानते हैं। इस मन्त्र का प्रमाण उनके लिये अन्तिम है। अर्थात् इसे वे अकाट्य समझते हैं। परन्तु भाष्यकारों के विवाद में न जाकर यदि मूल उपनिषद् के मन्त्र को देखा जाय तो उनका यह मानना गलत प्रतीत होता है। क्योंकि नदियों का दृष्टान्त देकर यह माना है कि नदियां नाम रुप छोड़कर समुद्र में लय होकर समाप्ति को प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु पुरुप के लिये यह नहीं कहा अपितु वह उस परम दिव्य पुरुप को प्राप्त कर लेता है। "लयं

---

५. मुण्डक उ० ३/१/३ (निरंजनः परमं साम्यमुपैति)
७. ',जुष्टस्ततस्तेनामृत्वमेति" (श्वेता० १।६)

प्राप्नोति" ऐसा पद नहीं है अपितु वह "परमं पुरुषमुपैति दिव्यम् प्राप्त करता है, न कि ब्रह्म हो जाता है। इससे आगे भी कहा है कि वह परम महान को जानकर शोकों को पार कर ग्रन्थियों से छूटकर अमृत हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में भी इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "उस परम ज्योति को प्राप्त कर वह अपने स्वरुप को पहचान लेता है"

माण्डूक्योपनिषद में ओंकार का वर्णन किया है। अनेकों स्थलों पर उसको जानने का विधान किया गया है।[6] परन्तु आश्चर्य यह है कि आचार्य गौडपाद न कह दिया कि न कोई मुमुक्षु है और न ही मुक्त अर्थात् मोक्ष आदि कुछ भी नहीं हैं। जबकि प्रायः सभी उपनिषदे एक स्वर से मुक्ति का वर्णन कर रही हैं।[7]

तैत्तिरीय उपनिषद में बताया है कि जब ब्रह्म ज्ञानी उस महाआकाश रुपी गुहा में स्थित ब्रह्म को जान लेता है तब वह सब कुछ प्राप्त कर मोक्ष अवस्था में चला जाता है।[4] यहां स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मविद उस परम पद को प्राप्त करता है न कि ब्रह्म हो जाता है। यदि ऐसा होता तो यहां इस स्थल पर "सर्वान कामान् अश्नुते" वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यह पद नहीं आना चाहिये था। उस मोक्ष अवस्था में वाणी वहाँ से लौट आती, मन की गति भी नहीं है, वहां मोक्ष में किसी प्रकार भय भी नहीं है।[1] इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है कि मोक्ष होने पर जीवात्मा पूर्ण अभय हो जाता है।[2] वह अभय कब हो जाता है। तभी जबकि वह उस आनन्दमय इस रुप ब्रह्म को प्राप्त कर मुक्तावस्था में चला जाता है।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में मोक्ष के स्वरुप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि जीवात्मा जब परमेश्वर को जानकर उस अमृत रुप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस उपनिषद में मोक्ष के लिये

१. छा०८/३/४ तेषां सर्वेषुलोकेषु कामचारी भवति छाँ०७/२५/२८/१/४
२. य एवं वेव पद ६,१०,११, मा०उ० पर द्रष्टव्य

अमृत शब्द अनेकों वार आया है। कहीं पर यह अमृत शब्द परमात्मा का भी वाचक है।[3] परन्तु प्राय: करके अमृत जितनी वार भी आया है, वह मुक्ति के अर्थ में ही है। मुमुक्षु अमृत को प्राप्त कर सभी प्रकार के शोकों से तर जाता है। अध्यात्म मार्ग का यही एक पथ है जो कि मोक्ष को प्राप्त करा सकता है। अन्य कोई पथ नहीं है। इनमें कई स्थलों पर पाशो से छूटने का भी उल्लेख है। पाशों से छूट जाना और अमृत हो जाना। इस वात की ओर संकेत करता है कि मोक्षावस्था में जीवात्मा सर्व दु:खों से छूट कर आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सब पाप, जरा मृत्यु, शोक क्षुधा पिपासा से रहित है, उसे जानना चाहिए, जो ऐसे परमात्मा को जान लेता है, उस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामो को प्राप्त होता है।[4] जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता हैं, सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है जो ये ब्रह्म लोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थिति हो कि मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी प्रकार परमात्मा का जो सब का अन्तर्यामी आत्मा है, उस की उपासना, मुक्ति की प्राप्ति करने वाले विद्वान लोग करते है, उससे उन सब को सबलोक और सब काम प्राप्त होते हैं। जो जो संकल्प करते हैं वह वह लोक, वह वह काम प्राप्त होता है।[5] इससे आगे ऋषि दयानन्द छान्दोग्य के ही प्रमाण से कहते है कि "और वे मुक्त जोव स्थूल शरीर छोड़कर संकल्प मात्र शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरोर वाले होते है वे सांसारिक दु:ख से रहित नहीं हो सकते है। जैसे इन्द्र से

---

३. न नुमुक्षुनवैमुक्तइत्येपता परमार्थता-गौ०का०२.
४. सर्वान् कामान् सहब्राह्मणाविपाश्चतेति (तै०ब्रा०व० २,१०
५. यतो वाचो निवर्तन्ते आनन्दब्रह्मणो विद्वान्नविमेति
६. अथ सोऽभयं गतो भवति - वही ३/१५

प्रजापति ने कहा है कि "हे धनयुक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरण धर्मा है जैसे सिंह के मुख में वकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के बीच में है। मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श ही नहीं रहता किन्तु सदा आनन्द में रहता है।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस प्रकार जीवात्मा स्वच्छन्द होकर सब कामों को पूर्ण करता सर्वत्र ब्रह्म में विचरता, जीवात्मा का उल्लेख किया गया है।

मोक्षावस्था में जब जीवात्मा आनन्द को प्राप्त करता है उस समय कैसे आनन्द प्राप्त होता है यह प्रश्न उभर कर आता है। इसका उत्तर ऋषि दयानन्द शतपथ के प्रमाण से देते हैं। उनका कथन है कि "मोक्ष में भौतिक शरीर इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते। किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। श्रोत्र त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण आदि शक्तियां संकल्प मात्र शरीर सहित उपस्थित रहती हैं,[2] इन्हीं शक्तियों के द्वारा वह मोक्ष में सब कामो को और आनन्द को प्राप्त करता है।[3]

जैसा कि अद्वैतवादी दार्शनिक मानते है कि मुक्ति में जीव ब्रह्म हो जाता है इससे मुक्ति का प्रयोजन समाप्त सा प्रतीत होता हैं। आगे लिखते है "जो मुक्ति में जीव का लय होता हैं तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा।"

उपर्युक्त उपनिषदों के विवेचन से यह मान्यता स्पष्टरुप मे समीचीन प्रतीत होती है कि जीवात्मा में आनन्द की न्यूनता है, उसी को उपलब्ध करने हेतु परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है।

---

१. श्वेता०उ० ३/१,७,८/४/१६,२०,५,१,६/६/६,१८
२. य आत्मा अपहतपाप्मा सत्यकाम:सत्यसंकल्प:···सर्वांश्चलोकान् आप्नोति सर्वांश्च कामान्···। छाँ०प्र० ८ख०७ मं०।
३. स वा एव एतेने···सर्वे च लोका आप्ता, सर्वे च कामा:···विजानाति इति वही-प्र०८ ख०१२मं०५,६

क्योंकि वह आनन्द से परिपूर्ण है, जोवात्मा उसे प्राप्त कर अपनी सम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। परन्तु परमेश्वर का आनन्द असीम और अनन्त है, इसलिये वह जीवात्मा अल्पज्ञ होने के कारण उसके अनन्त आनन्द को तो नही जान पाता परन्तु उसको जितना चाहिये वह उसे प्राप्त हो जाता है। यही उसकी साम्यता और कृत कृत्यता है। ऋषि दयानन्द इसका विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत करते है। "चिदाकाश ब्रह्म में सभी अन्तकरण रहते हैं, जैसे जल में सभी मच्छली आदि जन्तु रहते हैं। इस प्रकार जीवात्मा का बन्ध और मोक्ष नहीं बनेगा क्योंकि ब्रह्म से अन्य कुछ भी नहीं है। "इसका उत्तर देते हुये कहते है," यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं क्योकि जीव का स्वरूप अल्पज्ञ होने से आवरण में आता है, जन्म मरण आदि इन्द्रियां और शरीर होने से वन्धन में फंसता है। उससे छूटने का साधन करता है दु:खों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।[1] डा० राधाकृष्णन् भी भारतीय दर्शन में अपने विचार इस सम्बन्ध में इस प्रकार व्यक्त करते हैं आत्मा की सत्ता एकदम गायब नहीं हो जाती। जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्य में समा जाती हैं, अथवा समुद्र की लहर समुद्र में समा जाती है। ":जीवात्मा का संगीत सांसारिक गति में विलुप्त नहीं होता, वह सर्वदा के लिये एक समान है और फिर भी एक समान

---

१. मघवन सत्यं वा इदं शरीरमात्र मृत्युना…तदस्यामृतस्याशरीर… वावसन्तं नप्रियोप्रिये स्पृशत: (छा०प्र०८ख० ० प०१)
   नोट:- छान्दोग्य के इन तीनों वचनों पर भाष्य स०प्र० में दृष्टव्य समु०६,पृ०२७३,२७४
२. वृ०अ०४ब्रा०४ कां० २१, अ० ४ वा०५कां०१५ इत्यादि।
३. शृण्वन् श्रोत्रं भवति "पश्यन् चक्षुर्भवति… वोधयन् वुद्धिभवति (श०कां०१४-अ०२/ब्रा० २कं०१७ दृष्टव्य सत्यार्थ प्रकाश पृ० २७१ पर
४. वल, पराक्रम…ज्ञान इन २४ शक्तियों से युक्त जीव है। स०प्र०पृ० २७१,२७२

नहीं है। हां यह कहा जा सकता है कि मुक्त आत्मा सबके साथ एकाकार हो जाता है।" "जीवात्मा में अपने गौरव एवं अमरता के महत्व की चेतना भी विद्यमान रहती है।" उसका अमरत्व सम्बन्धी सुख, उसकी गति सम्बन्धी स्वतन्त्रता में ही प्रकट होता है: "किन्तु प्राय: सभी भारतीय विचारक इस विषय पर एकमत है कि मोक्ष जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूटने का नाम है।[2]

आचार्य शंकर भी यह स्वीकार करते हैं कि मुक्ति अवस्था में जीवात्मा में वह शक्ति नहीं आती जो ब्रह्म में है। जब जीव ब्रह्म ही बन जाता हैं तो फिर यह अन्तर किस प्रकार रहता हैं, क्योंकि स्वयं आचार्य शंकर कहते हैं कि "मुक्त आत्मायें सब प्रकार से ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुये भी, जगत की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य उनको प्राप्त नहीं होता हैं क्योंकि सृष्टि कर्तृत्वादि तो नित्य ईश्वर के ही सिद्ध हैं।[1]

अत: उपनिषदों के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा जब अमृत बन जाता हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं तब अपने परम विकास को प्राप्त करता हुआ कामाचारी होता हुआ, अपने प्रलय को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपनी विकासमान अवस्था को प्राप्त होकर, मुक्ति सुख को प्राप्त करता हुआ सर्वत्र रमण करता हैं। यही उपनिषदों का मुक्तिस्वरूप के विषय में समीचीन सिद्धान्त प्रतीत होता हैं।

उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के साधन

ऋषि दयानन्द और आचार्य शंकर मोक्ष साधनों के विषय में

---

१. जगदव्यापारवर्जं प्रकरणाद संनिहितत्वाच्च (वेद०द०=२-२ ४/४/१७ पर भाष्य जगदुत्पत्या वर्जयित्वा दणिमाद्येश्वर्यमुक्ताना भतितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैश्वरस्य-शांकर भाष्य

प्राय: साम्य रखते हैं। जीवात्मा का मोक्ष अविद्या के आवरण आने के कारण नहीं हो पाता हैं। मुक्ति के समस्त साधनों को हम दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं। - १- विधेयात्मक और २- निषेधात्मक।[2] विधेयात्मक वे साधन हैं जिनका साधक को अनुष्ठान करना पड़ता हैं। निषेधात्मक साधनों से मल-विक्षेप-आवरण की परतें क्षीण करनी पड़ती हैं। न करने योग्य कर्मों को छोड़ना वहीं निषेधात्मक साधन हैं।[1] दोनों प्रकार के साधनों को करने के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यान और साक्षात्कार जिसको श्रवण चतुष्ट्य कहते हैं, इनका पालन ध्यानपूर्वक करना चाहिये।[2] अर्थात् यह किसी भी ज्ञान या साक्षात्कार की प्रक्रिया हैं। ध्यानपूर्वक गुरु-उपदेश को सुनना, सुनकर उस पर मनन करना, मनन के पश्चात् जिसे सत्य समझो, उसके अनुसार आचरण करना प्रारम्भ करना। इस प्रक्रिया से साधक तत्वज्ञान तक पहुंच कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं।

ईशोपनिषद् में विद्या और अविद्या का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि विद्या से साधक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहां आचार्य शंकर और ऋषि दयानन्द ने विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म क्रिया है।[3] अर्थात् कर्मों (यज्ञों) के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर विद्या अर्थात् ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त करता है।[4] सांख्य में भी इसी ज्ञान को विवेक कहा है। योगदर्शन भी उसका समर्थन करता है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेद का

---

१. तद्विपरीत: श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (सां० का० २)
२. निगेटिव-पाजिटिव
३. नोट समस्त भारतीय साहित्य में पापादि को छोड़ने का आदेश हैं। आसक्ति को छोड़ने का उपदेश सभी शास्त्रों में उपलब्ध है।
४. आत्मा वारे द्रष्टव्य: श्रोतव्यमन्तव्यो निदिध्यासितव्य: - वृ०४/५/६
५. द्रष्टव्य यजुर्वेदभाष्य अ०४०, ई०उ० शं०भा० ६-ई०उ० ६,१०,११

विवेक हो जाने पर ही आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है।[1] परन्तु ईशोपनिषद् विद्या और अविद्या समन्वय भी करती है। क्योंकि केवल कर्मों के अनुष्ठान से तो तमोयुक्त अन्धकार को प्राप्त करता है परन्तु यदि केवल ज्ञानी ही और उसका क्रियात्मक जीवन आचरण शून्य हो तो वह उससे भी अध: अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिये उचित ही कहा ह कि धर्मज्ञान के लिये और ज्ञान धर्म के लिए हैं।[2] ज्ञान और कर्म का समन्वय उपनिषदों के अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं। सम्भूति और असम्भूति का समन्वय भी ईशोपनिषद् में किया गया है। सम्भूति और असम्भूति पद कार्य और कारण के सम्बन्ध को घोषित करते हैं। यही व्यष्टिवाद और समष्टि वाद की ओर संकेत करते हैं। असम्भूति व्यष्टि है, सम्भूति समष्टि है असम्भूति सुख वाद का संकेत करता है तो सम्भूति समष्टिवाद की ओर संकेत करती है।

कुछ मोड़ से अन्तर कठोपनिषद् में इनको श्रेय और प्रेय मार्ग के रूप प्रख्यापित किया है। परन्तु जैसे यहां पर, विद्या और सम्भूति को श्रेष्ठ बतलाया है ऐसे ही वहां पर श्रेय मार्ग को श्रेष्ठ बतलाकर श्रेय से आत्मा का साक्षात्कार बतलाया गया है।[1] कठ में ही कहा है कि वह आत्म तत्त्व बहुत सुनने, तर्कादि से प्राप्त नहीं होता है।[2] वह ब्रह्म तो ब्रह्म चर्यादि का व्रत धारण करने और योग विद्या का अनुष्ठान करने, हृदय रूपी गुफा में उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।[3]

मुण्डक उपनिषद् में पराविद्या और अपरा विद्या नाम से कहा है। अपराविद्या के द्वारा नाम रूप अर्थात् विश्व अखिल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की विद्या का नाम है। इसमें जो चौंसठ प्रकार

---

१. कठ० २व, २,५,६, २. कठ० २, व ६, ८, १०

८. वरचू फार नालिज, नालिज, फार वरचू।

३. कठ० २,१५, ऋतं पिबन्तौसुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ (३,१)

४. मु० १,५। ५. कुर्वन्नेवह कर्माणि (ई० २)

की विद्या कही जाती है, वह समस्त इसके अन्तर्भूत हैं।[4] परा विद्या परोक्ष के आत्मादि द्रव्यों का साक्षात्कार करती है। वह परमात्मा जो इन्द्रियों से अग्राह्य है, अवर्ण, अचक्षु, अपाणिपाद नित्य विभु आदि विशेषणों से युक्त है उस परमेश्वर का साक्षात्कार परा विद्या के द्वारा होता ह।

ज्ञान और कर्म की तुलना में ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है। परन्तु वह योगी की अन्तिम पराकाष्ठा की अवस्था है क्योंकि उपनिषदों में निष्क्रिय होने का उपदेश नहीं है। ईशापनिषद् में तो सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने का उपदेश है।[5]

वस्तुत: वैदिक साहित्य में जिसमें उपनिषद् भी सम्मिलित हैं, ज्ञान, उपासना और कर्म का समन्वय प्राप्त होता है। जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र मिलकर समाज चलाते हैं प्रत्येक का अपने अपने स्थान पर महत्व हैं। इसी प्रकार मुक्ति को प्राप्त करने के लिए भी इन तीनों का होना आवश्यक है। उपनिषदों ने निर्विवादरूप से तीनों को स्वीकार किया है। उपनिषदों में तीनों प्रकार की श्रुतियां उपलब्ध हैं—

क—उपासना परक श्रुतियां—

१. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तं भवति
२. ओमित्येवतदक्षरमुद्गीथ मुपासीत्।
३. विद्यया देवलोकः।
४. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।

ख—ज्ञान परक श्रुतियां—

१. विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

क. छा० १.१.१०, २. छा० १.१.१, ३. बृ० १.५.१६, ४. तै० ३.२.५
ख. १, के० २.४.२. २. केन १.१, ३. श्वे० ३.८.३, ४. तै० २.१.१

२. त्योगेनैके अमृतत्त्वमानशु ।
२. नान्य पन्थाविद्यतेऽयनाय ।
४. ब्रह्मादिदमाप्नोति परम् ।
५. नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।
६. विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ।
७. ये तद्विदुरमृतास्ते भवत्यथेतर ।
८. तरति शोकमात्मवित् ।

ग—कर्म परक श्रुतियां—

१. पुण्यो वै कर्मणा पुण्यो भवति ।
२. कर्मणा पितृ लोकः ।
३. अथ कर्म कुर्वीथः ।
४. सर्व एते पुण्य लोका भवन्ति ।
५. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञन दानेन तपसा-नाशकेन ।
६. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।

इन उपर्युक्त वचनो को यदि निष्पक्ष रुप से देखा जाय तो प्रतीत होता है रूपनिषदों में तीनों मार्गों की उपादेयता का उल्लेख है इसलिये विचारकों का भिन्न भिन्न दृष्टिकोण है आचार्य शंकर ज्ञान को प्रमुखता देते हैं आचार्य रामानुज भक्ति के अनुष्ठान को प्रधानता देते हैं ऋषि दयानन्द ज्ञानकर्म और उपासना तीनों से मुक्ति प्राप्त स्वीकार करते हैं इन तीन प्रकार की श्रुतियों के अतिरिक्त ज्ञानकर्म समुच्चयपरक भी उपलब्ध हैं आचार्य भास्कर भी यही अभिमत रखते हैं। इस समुच्चयवाद में उपासना को कर्म से अतिरिक्त नहीं माना है अपितु उसका कर्म में ही अन्तर्भाव कर लिया जाता है। कर्म और ज्ञान का समुच्चय करने वाली श्रुतियां स्पष्ट रुप में यही मानती

---

५. मु०३.२.४, ६. बृ० ४.४.१७, ७. बृ० ४.४.१४, ८. छा० ७.१.३
ग. बृ० ३.२.१३, २. बृ०१.५.१६, ३. बृ०१.४.१७, ४. छा० २.२३.१
५. बृ० ४.४.२२, ६. ई० २।

हैं कि दोनों से ही ब्रह्म प्राप्ति में सहायक हैं।[1] उपनिषदों मे केवल ज्ञान और केवल कर्म निन्दा की है।[2] मुण्डक उपनिषद में इसलिये यज्ञों की प्रशंसा की हैं जो यज्ञ नहीं करते उनके पुण्य क्षीण होकर सप्त लोक नष्ट हो जाते है।[3] परन्तु उससे अगली श्रुति में ही कर्मो की एकदम निन्दा की है।[4] वास्तव में यदि गहराई तक जाया जाय तो यह उपनिषदों का रहस्यवाद समझा जा सकता हैं। प्राप्त प्रसंग में जा लोग केवल यज्ञों को ही अन्तिम समझते हैं, उनकी निन्दा है। विवेक के द्वारा जब साधक तात्विक ज्ञान हो जाता हैं तभी वह निष्काम कम करने को क्षमता को प्राप्त कर सकता हैं। अन्यथा नहीं बिना तत्तव ज्ञान के वह निरासक्त कर्म करने सामर्थ्य नहीं आ सकता, मनुष्य कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता हैं कि कर्मों अनुष्ठान करते करते जब योगी की विवेकज्ञान की अवस्था प्राप्त हो जाती हैं जब वह धारणा ध्यान समाधि की अवस्था को प्राप्त कर कर्मो से विवेक की अवस्था को प्राप्त होकर अमृत को प्राप्त हो जाता है। याज्ञवल्क्य और श्वेतकेतु समवाद में भी तत्वज्ञान तकपहुंचने की एक प्रक्रिया हैं। वस्तुतः जब हम यह समझ जाते है। कि ये मिट्टीका ढला ही संसार के सब पदार्थो का कारण है इससे निर्मित जो प्रासाद आदि हैं वे इसके विकारमात्र हैं। एक दिन सभी मिट्टी में अपने कारण में लीन हो जाएगें। ऐसी विवेचना से मनुष्य शब्दादि विषयों में नहीं फंसता और वह इन्द्रियों, मन, बुद्धि से अपने को पृथक समझता हुआ चेतन तत्व के रुप में, अपने स्वरूप को साक्षात्कार कर लेता है।

उपनिषदें भूमा या महान् अथवा विशालता की भावना में ही सुख मानती हैं। भूमा उस अवस्था का नाम हैं। जहां पर समस्त

१. विद्याचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। ई० ११- तं विद्या कर्मणी समन्वामेते-वृ० ४.४.२. तेनेति ब्रहम वित् पुण्यकृत तैजसश्च-वृ० ४.४.६
२. ई० ६, वृ० ४.४.१० ३. मु० १/७,८,६,
४. न कर्मलिप्यते नरे। ई० २

ब्रह्माण्ड में केवल उसी तत्व या ब्रह्म को देखा जाता हैं सुना जाताहैं अथवा जाना जाता हैं। जहां मेरा औ तेरा का भाव समाप्त प्राय हो जाता हैं।[1] इस प्रकार विशाल औरसमष्टि की उच्च भावना की अक्षयनिधि उपनिषदों में सवत्र उपलब्ध होती हैं। [2]

जब कर्म और ज्ञान का, भक्ति और उपासना, व्यष्टि और समष्टि का और यज्ञमय की पराकाष्ठा हो जाती है, तब साधक अन्तर्मुख हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा हो जाने पर आत्मा पूर्णतः शुद्ध और निर्मल अन्तःकरण होने पर वह अपने लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् ने कहा है कि प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है, अप्रमत्त होकर उसका वेधन करे फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है वैसे आत्मा भी उस अपने लक्ष्य का साक्षात्कार कर ब्रह्ममय हो जाता है।[3]

इन उपायों के अतिरिक्त भी मुक्ति के अन्य शास्त्रों में साधन बतलाये हैं जो सभी उपयोगी हैं। पाच कोश हैं उनके अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय। हमारी त्वचा से लेकर समस्त स्थूल का भाग अन्नमय कोश है। प्राणादि पांच प्राण और कर्मेन्द्रिय सहित यह प्राणमय कोश कहलाया है। बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित विज्ञानमय कोश है ज्ञानेन्द्रिय और मन मिल कर मनोमय कोश कहलाता है। ये तीनों मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।[4] आनन्दमय कोश वह कहलाता है, जो सब के आधार रूप प्रकृति है। इन पांचों अवस्थाओं के रहस्य को जान कर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करना होता है।

---

१. छान्दोग्य० ६.१.४

२. यो वै भूमातत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति···भूमानं भगवो विजिज्ञास। (छा०७/२६/१)

३. कठ० २,२,६-१०, बृ० ६,८,६, श्वे० २,१७, ३,३,७,३,६,.६/११, ६×१६

४. मु० २/४

हैं कि दोनों से ही ब्रह्म प्राप्ति में सहायक हैं।[1] उपनिषदों मे केवल ज्ञान और केवल कर्म निन्दा की है।[2] मुण्डक उपनिषद में इसलिये यज्ञों की प्रशंसा की हैं जो यज्ञ नहीं करते उनके पुण्य क्षीण होकर सप्त लोक नष्ट हो जाते है।[3] परन्तु उससे अगली श्रुति में ही कर्मो की एकदम निन्दा की है।[4] वास्तव में यदि गहराई तक जाया जाय तो यह उपनिषदों का रहस्यवाद समझा जा सकता हैं। प्राप्त प्रसंग में जा लोग केवल यज्ञों को ही अन्तिम समझते हैं, उनकी निन्दा है। विवेक के द्वारा जब साधक तात्विक ज्ञान हो जाता हैं तभी वह निष्काम कम करने की क्षमता को प्राप्त कर सकता हैं। अन्यथा नहीं बिना तत्तव ज्ञान के वह निरासक्त कर्म करने सामर्थ्य नहीं आ सकता, मनुष्य कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता हैं कि कर्मो अनुष्ठान करते करते जब योगी की विवेकज्ञान की अवस्था प्राप्त हो जाती हैं जब वह धारणा ध्यान समाधि की अवस्था को प्राप्त कर कर्मो से विवेक की अवस्था को प्राप्त होकर अमृत को प्राप्त हो जाता है। याज्ञवल्क्य और श्वेतकेतु समवाद में भी तत्वज्ञान तकपहुंचने की एक प्रक्रिया हैं। वस्तुतः जब हम यह समझ जाते है। कि ये मिट्टीका ढला ही संसार के सब पदार्थों का कारण है इससे निर्मित जो प्रासाद आदि हैं वे इसके विकारमात्र हैं। एक दिन सभी मिट्टी में अपने कारण में लीन हो जाएगें। ऐसी विवेचना से मनुष्य शब्दादि विषयों में नहीं फंसता औंर वह इन्द्रियों, मन, बुद्धि से अपने को पृथक समझता हुआ चेतन तत्व के रुप में, अपने स्वरूप को साक्षात्कार कर लेता है।

उपनिषदें भूमा या महान् अथवा विशालता की भावना में ही सुख मानती हैं। भूमा उस अवस्था का नाम हैं। जहां पर समस्त

---

१. विद्याचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। ई० ११- तं विद्या कर्मणी समन्वामेते-वृ० ४.४.२. तेनेति ब्रहम वित् पुण्यकृत तैजसश्च-वृ० ४.४.९

२. ई० ९, वृ० ४.४.१० ३. मु० १/७,८,९,

४. न कर्मलिप्यते नरे। ई० २

ब्रह्माण्ड में केवल उसी तत्व या ब्रह्म को देखा जाता है सुना जाताहै अथवा जाना जाता है। जहां मेरा औ तेरा का भाव समाप्त प्राय हो जाता है।[1] इस प्रकार विशाल औरसमष्टि की उच्च भावना की अक्षयनिधि उपनिषदों में सवत्र उपलब्ध होती है। [2]

जब कर्म और ज्ञान का, भक्ति और उपासना, व्यष्टि और समष्टि का और यज्ञमय की पराकाष्ठा हो जाती है, तव साधक अन्तर्मुख हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा हो जाने पर आत्मा पूर्णतः शुद्ध और निर्मल अन्तःकरण होने पर वह अपने लक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् ने कहा है कि प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रहम लक्ष्य है, अप्रमत्त होकर उसका वेधन करे फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है वैसे आत्मा भी उस अपने लक्ष्य का साक्षात्कार कर ब्रहममय हो जाता है।[3]

इन उपायों के अतिरिक्त भी मुक्ति के अन्य शास्त्रों में साधन वतलाये हैं जो सभी उपयोगी हैं। पाच कोश हैं उनके अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय। हमारी त्वचा से लेकर समस्त स्थूल का भाग अन्नमय कोश है। प्राणादि पांच प्राण और कर्मेन्द्रिय सहित यह प्राणमय कोश कहलाया है। बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित विज्ञानमय कोश है ज्ञानेन्द्रिय और मन मिल कर मनोमय कोश कहलाता है। ये तीनों मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।[4] आनन्दमय कोश वह कहलाता है, जो सब के आधार रुप प्रकृति है। इन पांचों अवस्थाओं के रहस्य को जान कर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करना होता है।

---

१. छान्दोग्य० ६.१.४

२. यो वे भूमातत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति···भूमानं भगवो विजिज्ञास। (छा०७/२६/१)

३. कठ० २,२,९-१०, वृ० ६,८,६, श्वे० २,१७, ३,३,७,३,६, ६/११, ६×१६

४. मु० २/४

मुक्ति से पुनरावर्तन—

अनेक जन्म के अभ्यास और तपस्या के पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। ऋषि दयानन्द ने इस युग में आकर कहा कि मुक्ति काल तक जीवात्मा मोक्ष में रह कर वापिस संसार में लौट आता है।[1] उनकी इस विचारधारा को नवीन विचार धारा माना है, परन्तु ऋषि दयानन्द इस विचारधारा को अपनी न मान कर वेद और उपनिषद् सम्मत मानते हैं।

मुक्ति से जीवात्मा वापस लौट आता है, इस विषय में सबसे पूर्व जीव के स्वभाव पर विचार करना होगा। जीवात्मा का स्वभाव गतिशील है। यदि उसे एक ही स्थान पर स्वीकार किया जाय तो विकासशील स्वभाव कैसे रहेगा।

पूर्वपक्ष—जो विद्वान् मुक्ति से जीवात्मा को वापिस लौटना स्वीकार नहीं करते उनके दो प्रकार विभाजन किये जा सकते हैं। प्रथम कोटि में वे दार्शनिक हैं जो जीवात्मा का मोक्ष प्राप्त करने पर लय और ब्रह्म बन जाना मानते हैं, दूसरे प्रकार के वे दार्शनिक हैं जो जीवात्मा का लय या उसको नष्ट हुआ तो नहीं मानते परन्तु मुक्ति सुख को नित्य मानकर जीवात्मा का वापिस लौटना स्वीकार नहीं करते हैं। प्रथम प्रकार के विचारकों की समीक्षा तो हम कर आये हैं कि उपनिषदों के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म में मोक्षावस्था में भी भेद बना रहता है। दूसरे प्रकार के दार्शनिक इस प्रकार अपने प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। मुक्ति वही है जिसे जीवात्मा निवृत्त होकर पुनः जन्म नहीं लेता।[2] जहां

---

१. वेदान्त सू० ४.४.१०, ४.४.११, ४.४.१२

२. जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगा कर पृथ्वी में पुनः माता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता के दर्शन कराता है।"

—स०प्र०पृ०२५४

जीवात्मा जाकर वापस नहीं आते वही मेरा परमधाम है।[1] वही जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त कर पुनः जन्म नहीं लेता।[2] मुक्तावस्था में जीवात्मा का बन्धन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। श्रुति में उसे अनावृत अर्थात् मुक्ति से वापिस नहीं लौटता।[5] अनावृत्ति का अर्थ है वापस न आना।[3] अनावृत शब्द का अर्थ छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध होता है कि जीवात्मा इस प्रकार व्यवहार करता हुआ ब्रह्मलोक में सम्पन्न होता है। उस ब्रह्म लोक की आयुपर्यन्त पुन: इस लोक में नहीं आता।[1] यहां वापिस न आने का अभिप्राय ऋषि दयानन्द यह समझते हैं कि वापस न लौटने का अभिप्राय यह है कि जब तक मुक्ति की अवधि है, तब तक वापस न आना। सामान्य अवस्था में हमारा जीवन मरण का चक्र चलता रहता है। उस में कल्प पर्यन्त न आने की दृष्टि से कहा है कि यह लम्बे समय तक आना जाना अब नहीं होगा। जैसा हमारे घर एक व्यक्ति प्रतिदिन आता है वह पर्याप्त समय तक के लिये बाहर चला जाता है, तो हम यही सामान्यत: कह देते हैं कि वह अब नहीं आयेगा। जबकि उसका आना निश्चित है। ऐसा ही यहां प्रसंगों में समझना चाहिए। न्याय और सांख्य तो दु:खाभाव को मुक्ति में मानते हैं। इसे बहुत से विद्वान दु:ख प्रध्वंसाभाव मानते हैं।[4] परन्तु ऐसा मानना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैसे घट टूट जाने पर उसका प्रध्वंसाभाव होता है परन्तु यदि वहां पर यदि दूसरा घट रखा जाय तो प्रध्वंसाभाव समाप्त हो जायेगा। अत: यहां दु:खों

---

१. न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति। (छा. ८.१५)
२. यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम।
(गीता० १५.६ स० प्र० समु० ६)
३. स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भयो न जायते। (छा०)
४. न मुक्तस्य पुनर्वन्धयोगोप्य नावृति श्रुतेः (सां० ६.१७)

---

१. अनावृत्ति: शब्दादनावृत्ति शब्दात्। (वे० ४.४.३३)
२. खल्वेवं...यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनावर्तते।...
(स० प्र० ६ समु०)

मुक्ति से पुनरावर्तन—

अनेक जन्म के अभ्यास और तपस्या के पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। ऋषि दयानन्द ने इस युग में आकर कहा कि मुक्ति काल तक जीवात्मा मोक्ष में रह कर वापिस संसार में लौट आता है।[1] उनकी इस विचारधारा को नवीन विचार धारा माना है, परन्तु ऋषि दयानन्द इस विचारधारा को अपनी न मान कर वेद और उपनिषद् सम्मत मानते हैं।

मुक्ति से जीवात्मा वापस लौट आता है, इस विषय में सबसे पूर्व जीव के स्वभाव पर विचार करना होगा। जीवात्मा का स्वभाव गतिशील है। यदि उसे एक ही स्थान पर स्वीकार किया जाय तो विकासशील स्वभाव कैसे रहेगा।

पूर्वपक्ष—जो विद्वान् मुक्ति से जीवात्मा को वापिस लौटना स्वीकार नहीं करते उनके दो प्रकार विभाजन किये जा सकते हैं। प्रथम कोटि में वे दार्शनिक हैं जो जीवात्मा का मोक्ष प्राप्त करने पर लय और ब्रह्म बन जाना मानते हैं, दूसरे प्रकार के वे दार्शनिक हैं जो जीवात्मा का लय या उसको नष्ट हुआ तो नहीं मानते परन्तु मुक्ति सुख को नित्य मानकर जीवात्मा का वापिस लौटना स्वीकार नहीं करते हैं। प्रथम प्रकार के विचारकों की समीक्षा तो हम कर आये हैं कि उपनिषदों के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म में मोक्षावस्था में भी भेद बना रहता है। दूसरे प्रकार के दार्शनिक इस प्रकार अपने प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। मुक्ति वही है जिसे जीवात्मा निवृत्त होकर पुनः जन्म नहीं लेता।[2] जहां

---

१. वेदान्त सू० ४.४.१०, ४.४.११, ४.४.१२

२. जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगा कर पृथ्वी में पुनः माता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता के दर्शन कराता है।"
—सं०प्र०पृ०२५४

जीवात्मा जाकर वापस नहीं आते वही मेरा परमधाम है।[1] वही जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त कर पुनः जन्म नहीं लेता।[2] मुक्तावस्था में जीवात्मा का बन्धन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। श्रुति में उसे अनावृत अर्थात् मुक्ति से वापिस नहीं लौटता।[5] अनावृत्ति का अर्थ है वापस न आना।[3] अनावृत शब्द का अर्थ छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध होता है कि जीवात्मा इस प्रकार व्यवहार करता हुआ ब्रह्मलोक में सम्पन्न होता है। उस ब्रह्म लोक की आयुपर्यन्त पुन: इस लोक में नहीं आता।[1] यहां वापिस न आने का अभिप्राय ऋषि दयानन्द यह समझते हैं कि वापस न लौटने का अभिप्राय यह है कि जब तक मुक्ति की अवधि है, तब तक वापस न आना। सामान्य अवस्था में हमारा जीवन मरण का चक्र चलता रहता है। उस में कल्प पर्यन्त न आने की दृष्टि से कहा है कि यह लम्बे समय तक आना जाना अब नहीं होगा। जैसा हमारे घर एक व्यक्ति प्रतिदिन आता है वह पर्याप्त समय तक के लिये बाहर चला जाता है, तो हम यही सामान्यत: कह देते हैं कि वह अब नहीं आयेगा। जबकि उसका आना निश्चित है। ऐसा ही यहां प्रसंगों में समझना चाहिए। न्याय और सांख्य तो दु:खाभाव को मुक्ति में मानते हैं। इसे बहुत से विद्वान दु:ख प्रध्वंसाभाव मानते हैं।[4] परन्तु ऐसा मानना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैसे घट टूट जाने पर उसका प्रध्वंसाभाव होता है परन्तु यदि वहां पर यदि दूसरा घट रखा जाय तो प्रध्वंसाभाव समाप्त हो जायेगा। अत: यहां दु:खों

---

१. न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति । (छा. ८.१५)
२. यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरमं मम ।
(गीता० १५.६ स० प्र० समु० ६)
३. स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद् भयो न जायते । (छा०)
४. न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोप्य नावृति श्रुतेः (सां० ६.१७)

---

१. अनावृत्तिः शब्दादमावृत्ति शब्दात् । (वे० ४.४.३३)
२. खल्वेवं...यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनावर्तते ।...
(स० प्र० ६ समु०)

का अत्यन्त छूट जाना तो ठीक है परन्तु नित्य मुक्त होना ऐसा अभिप्राय प्रतीत नहीं होता है ।

उत्तर पक्ष= ऋषि दयानन्द युक्तियों के अतिरिक्त वेदों का प्रमाण अपने पक्ष में देख कर अपने मत को सिद्ध करते हैं। "किस का नाम पवित्र है; हमें मुक्ति के आनन्द को देकर कौन फिर माता-पिता के दर्शन कराता है।[3] इसके उत्तर में वेद कहता है वही माता-पिता के पुनः दर्शन कराता है।[3] ऋषि दयानन्द मानते हैं कि मुण्डक उपनिषद् में मुक्ति की अवधि को स्पष्ट माना है। वे मुक्त जीव महाकल्प के पश्चात् मुक्ति आनन्द का भोग करके लौट आते हैं।[5] कल्प की गणना गणित के अनुसार इस प्रकार की जाती है, ४३ लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष; ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है।

आगे ऋषि दयानन्द युक्ति देते हुए कहते हैं कि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं। पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है। अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिसके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य

---

३. न्याय १.१.२२, सां० सू० १.१

४. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम।......
पुनर्दात्पितरं च दृश्यते मातरंच। (ऋ० १.१२४.१)।

५. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां। (स० प्र० ९ समु० ८)
......पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च। (वही १.१२४.२)

६. ते ब्रह्म लोके ह परान्तकाले परामृतात् (परामृताः) परिमुच्यन्ति सर्वे। (मु०उ० ३.२.६, स०प्र० ९ समु०)

७. स० प्र० पृ० २७६/९ समु०।

कभी नहीं हो सकता। यदि जीवात्मा ना लौटे तो संसार का उच्छेद अर्थात् निश्शेष हो जाना चाहिये।[1] यदि कहा जाय कि जीवात्मा नये उत्पन्न हो जायेंगे तो इसका उत्तर वे देते हैं कि "फिर तो जीव अनित्य हो जायेंगे।[2] क्योंकि उनकी उत्पत्ति होती है।

अनावृत शब्द का अर्थ स्वयं उपनिषद्कार कल्पपर्यन्त कहते हैं। अर्थात् मुक्तिकाल की अवधि पर्यन्त कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन में भी मोक्ष का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि पाप और पुण्य न रहने पर शरीर का अनादि संयोग आत्मा से न रहने पर मोक्ष कहाता है।[3] इसी प्रकार का लक्षण योग-दर्शन ने भी किया है।[4] इन दोनों सूत्रों से मुक्ति से लौट कर जीव नहीं आता, ऐसा सिद्ध नहीं होता। यद्यपि आता ही है, ऐसा भी नहीं है। अतः वापिस होने का खण्डन नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि जैसे ईश्वर सदैव नित्य है वैसे जीवात्मा भी सदैव नित्य मुक्त हो जायेगा तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि ईश्वर सदैव नित्य और सदैव मुक्त है। जैसाकि योगदर्शन के भाष्यकार ने स्पस्ट माना है।[5] इस प्रकार ईश्वर का आना नहीं हो सकता है, परन्तु जीवात्मा जन्म लेता और मृत्यु को प्राप्त होता है। इससे यही निष्कर्ष प्रतीत होता है कि जीवात्मा और परमात्मा के सामर्थ्य में अन्तर स्पष्ट है। परमात्मा अविद्या, दुःखादि के बन्धन में कभी नहीं आता परन्तु जीवात्मा तो अविद्यादि बन्धन में बार-बार आता है। इससे यह परिणाम

---

१. स०प्र०पृ० २६७।
२. तदभावे संयोगाभावो प्रादुर्भावश्च मोक्षः (वै०द०५.१८)
३. यो० प० २.२५
४. सदैवेश्वर सदैव मुक्त इति" (यो०द०१/२४ पर व्यासभाष्य द्रष्टव्य।

निकला कि जीवात्मा मुक्त होने पर भी अनन्त सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता। अतः ईश्वर सदृश जीवात्मा कभी नहीं हो सकता है ऐसी यथार्थवादी दार्शनिकों की स्पष्ट मान्यता है। इस विषय में आचार्य शंकर अद्वैतवादी होने पर भी यही मानते प्रतीत होते हैं क्योंकि वे लिखते हैं कि जगत की रचना आदि व्यापार को छोड़कर मुक्त जीवात्माओं को अणिमा आदि ऐश्वर्य हो सकता है।[1] संसार का निर्माण करना नित्य ईश्वर का ही कार्य है। वेदान्त दर्शन में स्पष्टरूप से मिलता है कि मुक्त जीवात्मा समता केवल आनन्द भोग मात्र में है। अर्थात् जीवात्मा भी मोक्ष में ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है। अतः उनकी साम्य मान्यता समानता जब तक मुक्ति में जीव है। आनन्द की अनुभूति में है।[2]

बृहदारण्यक उपनिषद् में मुक्त आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि मुक्त जीव ब्रह्म लोकों में विचरते हैं उनकी फिर या अर्थात् संसार में आवृत्ति नहीं होती।[3] जीवात्मा वहाँ से लौट कर नहीं आते इसका भाव आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि अनेक वर्ष पर्यन्त मुक्त आत्मायें ब्रह्म लोक में निवास करते हैं।[4] इन्हीं भावों को आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस काल के अनन्तर अर्थात् जीव को जब मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है तो उस समय आवृति अर्थात् पुनरावृत्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यही

---

१. जगद्वर्जं प्रकरणाद् संनिहितत्वाच्च (वे० ४.४. १७) पर आचार्य शंकर का भाष्य इसी अध्याय में पीछे देखें।

२. भोगमात्र साम्य लिंगाच्च। वे०द० (४.४.२१)

३. ते तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृति। (बृ० ६.१.१५)।

४. पराः परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति ब्रह्मणोनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृति। अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं। शांकरभा०बृ०६.२.१५ पर

प्रतीत होता है कि अनावृत का अर्थ हैं कल्पान्तरों में आना, न कि उससे पूर्व ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से ऋषि दयानन्द के इस मत को पर्याप्त बल मिलता है कि जहां श्रुतियों में वापिस न आने का वर्णन प्राप्त होता है,[2] उसका तात्पर्य जो क्रमशः जन्म-मृत्यु होती है उसमें ३६ हजार बार सृष्टि प्रलय होने तक व्यवधान आता है। तब तक वह ब्रह्मानन्द में रमण करता है।

छान्दोग्योपनिषद् ने भी यह लिखा है कि मुक्ति से जीवात्मायें वापस नहीं लौटते यहाँ संसार में घण्टी यन्त्र के समान जन्म-मरण का चक्र लगा रहता है। जब तक उनका यहां लौटना नहीं होता जब वे ब्रह्म लोक में स्थित हैं।[7]

इस स्थल पर भी आचार्य शंकर की मान्यता पूर्ववत् ही है। वे स्पष्ट मानते हैं कि जब तक ब्रह्म लोक में उनकी स्थिति रहती है उस समय तक उनका इस लोक में आगमन नहीं होता।[3]

इस विवाद की समाप्ति से पूर्व यथार्थवादियों की ओर से एक युक्ति और दी जा सकती है कि मोक्ष एक जीवात्मा की अवस्था का नाम है। जब इसका प्रारम्भ होता है तो अन्त भी अवश्य होगा। जैसे सुषुप्ति एक उसकी अवस्था है, मनुष्य चाहे जितना भी सोये अन्त में उसे उठना ही पड़ता है इसी प्रकार समाधि अवस्था और जागृत अवस्था आदि सब कालों में नहीं रह सकती। अतः मुक्ति भी अवस्था होने से नित्य कैसे हो सकेगी।

---

१. तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते (वही पर भा०)

२. आचार्य शंकर अद्वैती वादी प्रतिनिधि दार्शनिक होते हुए भी दयानन्द के मत से सहमत प्रतीत होते हैं।

३. एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते तथा ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते। (छान्दोग्योपनिषद् ४.१५.१५)।

निकला कि जीवात्मा मुक्त होने पर भी अनन्त सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता। अतः ईश्वर सदृश जीवात्मा कभी नहीं हो सकता है ऐसी यथार्थवादी दार्शनिकों की स्पष्ट मान्यता है। इस विषय में आचार्य शंकर अद्वैतवादी होने पर भी यही मानते प्रतीत होते हैं क्योंकि वे लिखते हैं कि जगत की रचना आदि व्यापार को छोड़कर मुक्त जीवात्माओं को अणिमा आदि ऐश्वर्य हो सकता है।[1] संसार का निर्माण करना नित्य ईश्वर का ही कार्य है। वेदान्त दर्शन में स्पष्टरूप से मिलता है कि मुक्त जीवात्मा समता केवल आनन्द भोग मात्र में है। अर्थात् जीवात्मा भी मोक्ष में ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है। अतः उनकी साम्य मान्यता समानता जब तक मुक्ति में जीव है। आनन्द की अनुभूति में है।[2]

बृहदारण्यक उपनिषद् में मुक्त आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि मुक्त जीव ब्रह्म लोकों में विचरते हैं उनकी फिर या अर्थात् संसार में आवृत्ति नहीं होती।[3] जीवात्मा वहाँ से लौट कर नहीं आते इसका भाव आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं कि अनेक वर्ष पर्यन्त मुक्त आत्मायें ब्रह्म लोक में निवास करते हैं।[4] इन्हीं भावों को आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस काल के अनन्तर अर्थात् जीव को जब मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है तो उस समय आवृति अर्थात् पुनरावृत्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यही

---

१. जगद्वजं प्रकरणाद् संनिहितत्वाच्च (वे० ४.४. १७) पर आचार्य शंकर का भाष्य इसी अध्याय में पीछे देखें।

२. भोगमात्र साम्य लिंगाच्च। वे०द० (४.४.२१)

३. ते तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृति। (बृ० ६.१.१५)।

४. पराः परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति ब्रह्मणोनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृति। अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं। शांकरभा०बृ०६.२.१५ पर

प्रतीत होता है कि अनावृत का अर्थ हैं कल्पान्तरों में आना, न कि उससे पूर्व ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से ऋषि दयानन्द के इस मत को पर्याप्त बल मिलता है कि जहां श्रुतियों में वापिस न आने का वर्णन प्राप्त होता है,[2] उसका तात्पर्य जो क्रमशः जन्म-मृत्यु होती है उसमें ३६ हजार बार सृष्टि प्रलय होने तक व्यवधान आता है। तब तक वह ब्रह्मानन्द में रमण करता है।

छान्दोग्योपनिषद् ने भी यह लिखा है कि मुक्ति से जीवात्मायें वापस नहीं लोटते यहाँ संसार में घण्टी यन्त्र के समान जन्म-मरण का चक्र लगा रहता है। जब तक उनका यहां लौटना नहीं होता जब वे ब्रह्म लोक में स्थित हैं।[7]

इस स्थल पर भी आचार्य शंकर की मान्यता पूर्ववत् ही है। वे स्पष्ट मानते हैं कि जब तक ब्रह्म लोक में उनकी स्थिति रहती है उस समय तक उनका इस लोक में आगमन नहीं होता।[3]

इस विवाद की समाप्ति से पूर्व यथार्थवादियों की ओर से एक युक्ति और दी जा सकती है कि मोक्ष एक जीवात्मा की अवस्था का नाम है। जब इसका प्रारम्भ होता है तो अन्त भी अवश्य होगा। जैसे सुषुप्ति एक उसकी अवस्था है, मनुष्य चाहे जितना भी सोये अन्त में उसे उठना ही पड़ता है इसी प्रकार समाधि अवस्था और जागृत अवस्था आदि सब कालों में नहीं रह सकती। अतः मुक्ति भी अवस्था होने से नित्य कैसे हो सकेगी।

---

१. तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते (वही पर भा०)
२. आचार्य शंकर अद्वैती वादी प्रतिनिधि दार्शनिक होते हुए भी दयानन्द के मत से सहमत प्रतीत होते हैं।
३. एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते तथा ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते। (छान्दोग्योपनिषद् ८.१५.१५)।

ऋषि दयानन्द ने मुक्ति से जीव वापस लौट आता है यह मानकर उन्होंने अपने दर्शन को व्यावहारिक और पूर्णरूपेण यथार्थ बना दिया है। उपनिषद् भी यदि उनके परस्पर रहस्यवादी गहन दर्शन को समझा जाये तो यही मानती प्रतीत होती हैं कि जीव आत्मा अपनी अवधि के पश्चात् वापस लौट आता है। परन्तु मुक्ति से पुनरावर्तन के सिद्धान्त पर अलग से अनुसन्धान अपेक्षित है जिससे उपनिषदों के गहन ज्ञान की पूर्वापर संगति लगाई जा सके। मेरा अपना मत है कि यथार्थवादी विचारधारा को मानना उचित है क्योंकि इससे संसार उच्छेदादि के प्रश्नों का समाधान भी स्वतः हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

१-ऋग्वेद, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

२-यजुर्वेद, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

३-अथर्ववेद, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

४-सामवेद, वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

५-ईशोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

६-कठोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७-मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

८-माण्डूक्य उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

९-मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

१०-प्रश्नोपषिद्, गीताप्रेस गोरखपुर।

११-छान्दोग्योपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१२-बृहदारण्यकोपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१३-श्वेताश्वेतरोपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१४-केनोपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१५-तैत्तिरीय उपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१६-एतरेय उपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना।

१७-ब्रह्मसूत्र (विद्योदयभाष्यम्) विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद (उ०प्र०)।

१८-न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य।

१९-ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

२०-श्रीभाष्यम् (रामानुज), श्री उत्तरमूर्तिवीर राघवाचार्य, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, दिल्ली।

२१-भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्), राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

२२–सांख्यसिद्धान्त (उदयवीरशास्त्री) विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद ।

२३-सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य कृत), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

२४-विवरण प्रमेय संग्रह (विद्यारण्य मुनि), हिन्दी । अच्युत ग्रंथमाला काशी ।

२५-उपनिषद्-भाष्य (पं० आर्यमुनि), गोविन्दराम हासाराम, दिल्ली ।

२६-भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास (भीखनलाल आत्रेय) हिन्दी समिति, सूचनाविभाग, उत्तर प्रदेश (लखनऊ) ।

२७-समकालीन दार्शनिक चिन्तन (हृदयनारायण मिश्र), किताबघर कानपुर ।

२८–एकादशोपनिषद् (हिन्दी भाष्यम्) (सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,) विद्याविहार, देहरादून ।

२९–उपनिषद्दर्शन का (रचनात्मक सर्वेक्षण रामचन्द्र दत्तात्रेय-रानाडे), जयपुर ।

३०–पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग (व्रजगोपाल तिवारी) लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा ।

३१–अद्वैतसिद्धि-मधुसूदन सरस्वती- निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

३२-न्यायमकरन्द-आनन्दबोध-भट्टारक-चौखम्बा बुक डिपो, बनारस

३३-न्यायामृत-व्य सराज-निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

३४–न्यायामृत-श्रीनिवासीय टीका-निर्णसागर प्रेस. बम्बई ।

३५–बौद्ध दशन तथा अन्य भारतीय दर्शन-रमतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल । रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता, स० २०२१ ।

३६–बौद्धदर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय-चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५४ ।

३७-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका) त्रिंशिका) वसुबन्धु । डा० महेश तिवारी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७ ।

३८-न्यायदर्शन-वात्स्यायन भाष्य-वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिका-तात्पर्यटीका सहित, लुजाक एण्ड कम्पनी लन्दन से प्रकाशित १८९८ ।

३९-ऋग्वेद संहिता-चतुर्थ और द्वितीय भाग, मैक्समूलर द्वारा संपादित चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी-१९६६ ।

४०-भाष्यरत्न-प्रभा-गोविन्दानन्द-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई । १९७० ।

४१-न्याय मंजरी, जयन्त भट्ट-चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९७६ ।

४२-तर्क संग्रह अन्न भट्ट, मुरादाबाद भुवनेश्वरी मुद्रणयन्त्र, १९०७ ।

४३-अद्वैतदीपिका-नृसिंह श्रम मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी १९१९

४४-न्याय कुसुमांजलि-उदयन-हरिकृष्ण दास, वाराणसी ।

४५-शतदूषणी-वेदान्ताचार्य अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित, श्री सुदर्शन प्रेस ।

४६-महायान सूत्रालंकार-असंग-एस०लेवी द्वारा संपादित, किताब महल, इलाहबाद, १९६० ।

४७-माध्यमिक शास्त्र-प्रसन्नपदाटिका-चन्द्रकीर्ति, सम्पादक-पी०एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६० ।

४८-वेदान्त दर्शन, निम्बार्कभाष्य-स्व०सन्तदास कृत वेदान्त सुबोधिनी सहित द इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९८५ ।

४९-गीताशाँकर भाष्य-(सप्तम संस्करण) गीताप्रेस, गोरखपुर-२००८

५०-वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली-प्रकाशानन्द, अच्युत ग्रंथमाला, काशी, सं० १९९३ ।

५१-वेदों का यथार्थस्वरूप-(पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड)- गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

५२-जीवात्मा (पं०) गंगाप्रसाद उपाध्याय) कला प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद ।

२२-सांख्यसिद्धान्त (उदयवीरशास्त्री) विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद ।

२३-सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य कृत), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

२४-विवरण प्रमेय संग्रह (विद्यारण्य मुनि), हिन्दी । अच्युत ग्रंथमाला काशी ।

२५-उपनिषद्-भाष्य (पं० आर्यमुनि), गोविन्दराम हासाराम, दिल्ली ।

२६-भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास (भीखनलाल आत्रेय) हिन्दी समिति, सूचनाविभाग, उत्तर प्रदेश (लखनऊ) ।

२७-समकालीन दार्शनिक चिन्तन (हृदयनारायण मिश्र), किताबघर कानपुर ।

२८-एकादशोपनिषद् (हिन्दी भाष्यम्) (सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,) विद्याविहार, देहरादून ।

२९-उपनिषद्दर्शन का (रचनात्मक सर्वेक्षण रामचन्द्र दत्तात्रेय-रानाडे), जयपुर ।

३०-पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग (व्रजगोपाल तिवारी) लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा ।

३१-अद्वैतसिद्धि-मधुसूदन सरस्वती- निर्णय सागर प्रेस, वम्बई ।

३२-न्यायमकरन्द-आनन्दबोध-भट्टारक-चौखम्बा बुक डिपो, बनारस

३३-न्यायामृत-व्य सराज-निर्णय सागर प्रेस, वम्बई ।

३४-न्यायामृत-श्रीनिवासीय टीका-निर्णसागर प्रेस. वम्बई ।

३५-बौद्ध दशन तथा अन्य भारतीय दर्शन-रमतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल । रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता, स० २०२१ ।

३६-बौद्धदर्शन मीमाँसा-बलदेव उपाध्याय-चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५४ ।

३७-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका) त्रिंशिका) वसुबन्धु । डा० महेश तिवारी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७ ।

३८-न्यायदर्शन-वात्स्यायन भाष्य-वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिका-तात्पर्यटीका सहित, लुजाक एण्ड कम्पनी लन्दन से प्रकाशित १८९८ ।

३९-ऋग्वेद संहिता-चतुर्थ और द्वितीय भाग, मैक्समूलर द्वारा संपादित चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी-१९६६ ।

४०-भाष्यरत्न-प्रभा-गोविन्दानन्द-वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई । १९७० ।

४१-न्याय मंजरी, जयन्त भट्ट-चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९७६ ।

४२-तर्क संग्रह अन्न भट्ट, मुरादाबाद भुवनेश्वरी मुद्रणयन्त्र, १९०७ ।

४३-अद्वैतदीपिका-नृसिंह श्रम मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी १९१९

४४-न्याय कुसुमांजलि-उदयन-हरिकृष्ण दास, वाराणसी ।

४५-शतदूषणी-वेदान्ताचार्य अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित, श्री सुदर्शन प्रेस ।

४६-महायान सूत्रालंकार-असंग-एस०लेवी द्वारा संपादित, किताब महल, इलाहबाद, १९६० ।

४७-माध्यमिक शास्त्र-प्रसन्नपदाटिका-चन्द्रकीर्ति, सम्पादक-पी०एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६० ।

४८-वेदान्त दर्शन, निम्बार्कभाष्य-स्व०सन्तदास कृत वेदान्त सुबोधिनी सहित द इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९८५ ।

४९-गीताशाँकर भाष्य-(सप्तम संस्करण) गीताप्रेस, गोरखपुर-२००८

५०-वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली-प्रकाशानन्द, अच्युत ग्रंथमाला, काशी, सं० १९९३ ।

५१-वेदों का यथार्थस्वरूप-(पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड)- गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

५२-जीवात्मा (पं०) गंगाप्रसाद उपाध्याय) कला प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद ।

५३–आस्तिकवाद (पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय) कला प्रिंटिंग प्रेस, इलाहबाद।

५४–अद्वैतवाद (पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय) कला प्रिंटिंग प्रेस, इलाहबाद।

५५–जीवात्मा और परलोक (नारायण स्वामी) आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर।

५६–मनुस्मृति, गीताप्रेस, गोरखपुर।

५७–सत्यार्थ प्रकाश (ऋषिदयानन्द कृत) वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

५८-निरुक्त (यास्काचार्य कृत) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

५९–वेदरहस्य (श्री अरविन्द, अनुवादक अभय) पाण्डेचेरी।

६०-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (ऋषि दयानन्द कृत) वैदिक मन्त्रालय, अजमेर।

६१-गीता, गोरखपुर प्रेस।

६२-सोवियम वीमेन (पत्रिका) १९५० ई०।

६३–स्याद्वाद मंजरी (अच्यतुत ग्रंथमाला) वाराणसी।

६४-माध्यन्दिनी शतपथब्राह्मण, अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी।

६५-दयानन्द ग्रंथमाला, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली।

६६–प्रशस्तपाद भाष्य, चौखम्वा संस्कृत सीरोज, वाराणसी।

६७-वेदान्त कल्पतरु एवं परिमल, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

६८--तत्वप्रदीपिका।

६९--महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७०--योगदर्शन (व्यास भाष्यम्) चौखम्वा विद्याभवन, वाराणसी।

७१-वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त-आचार्य प्रियव्रत, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ।

७२–शंकरोत्तर वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, डॉ० अभेदानन्द, राजस्थान एकादमी।

७३-आत्मविज्ञान, स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती।

७४-योग प्रदीप-श्री अरविन्द ।
७५--वैदिक देवता उदभव और विकास-डॉ. गयाचरण त्रिपाठी ।
७६--वेदकालीन-समाज-डॉ. शिवदत्त ज्ञानी ।
७७--वैदिक सिद्धान्त मीमांसा ।
७८-वैदिक माइथोलोजी-मैकडानलम ।
७९--भारतीय दर्शन की रूपरेखा-राजेन्द्रप्रसाद ।
८०--गीता तत्वांक-१९३९ कल्याण विशेषांक ।
८१-वेदान्तांक १९३६ कल्याण विशेषाँक ।
८२-ईश्वरांक १९५२ कल्याण विशेषांक ।
८३--उपनिषदों का तत्वज्ञान-डॉ० जयदेव वेदालंकार ।
८४--महर्षि दयानन्द की विश्व दर्शन को देन-वही ।

English Books :—

1. Indian Philosophy Vol. II (First Edition) Radha Krishnan London, 1958.
2. Indian Idealism-S. Dass Gupta, Cambridge,1962
3. History of Indian Philosophy, Vol. IV Dass Gupta.
4. Six Existentialistic Thinkers-Blackham,London 4gh Ed. 1861.
5. Para Psychology by B. L. Atreya.
6. History of Indian Philosophy S. N. Dass Gupta. Vol. I, 1922.
7. Present Philsophical Tendencies Lonomans-Parry. R. B.
8. John Lock Quted by Lamprecht. S. P. Locke, Selection New York, 1928.
9. A History of Philsophical Ideas, New York, 1849.
10, Sri Aruobindo, Bankim Tilak Dyanahn. 2rd Ed.

11, Indian what can it teach us-Max Muller, 1892.
12. The Vedant Philosophy.
13. Indian Philosophy Vol. 2-Dr. Radha Krishanan
14. History of Western Phiosophy B. Russel
15. Republic in five great Dialogues-Plato-Translated by Jowett Published bp J. Black:
16. History of Modern Philosophy-R. Elackenbrg.
17. Comperative Study of Conscieousness Lonon. 1951.
18. A History of Western Philosophy–by Russell.
19. Vatsyayan Bhashya Translated by Ganga Natha Jha.
20. A Critical servey of Indian Philosophy-
by DR.C.D. Sharma London,1960.
21. Idealistic Thougght of India. P.T. Raju & Union London-1953.
22. Mahayan VImsaka of Nagarujna
V. Bhattacharya Vishwa Bharti,
Book Shop Cal-1931.

❀ ❀